कृष्ण-द्वीप

यमुना की कछारों में जब दूर दूर तक चाँदनी खिलखिला रही थी तो रेतीली चाँदी चमचमा कर उसके शृंगार में चार चाँद लगाने लगी। पूनम का चाँद उसके लावण्य पर मुग्ध होकर उस अद्भुत रूप माधुरी में ऐसा छका जैसा बेसुध हो गया हो और अगणित प्रतिबिम्बों में दमदमा कर उसके निष्कलंक अंगो पर लगातार चुम्बन जड़ने लगा हो जिससे वह स्वयं ही चंचलाकार, वर्त्तुलाकार लोल लहरियों में सिहरती चली गई हो। इससे पहिले कि कृष्णा कालिंदी के चमचमाते वदन में कोई झिलमिलाती लज्जा की लाली को देख पाये, श्यामा के साँवले अङ्गों पर कदम्ब के पेड़ों की परछाईं ने, धूपछाही अलकों का जाल डाल कर, छाँव का झीना आवरण डाल दिया और क्षण भर को छिपा लिया वह सब जो रमणी के मानस में यौवन की उद्दीप्ति बनकर पानी की आग सा दहकने लगता है। पर कोई छिपा पाया है आज तक? कभी उभरते अङ्गों की कसमसाहट में, कभी दहकती साँसों की गुनगुनाती सरगमों में, कभी मदमाती मुस्कानों की परागी उडान में और कभी निश्छल हँसी की बिखरती हुई रुनझुनाती चाँदनी में, वह प्रकट होकर ही रहता है। तभी तो वह भी जल कुक्कुटों की गुदगुदी से कुलबुला कर चक्रवाकों की चहक में खिल खिला कर हँस पड़ी। दूर दूर तक फैली ठण्डी रेत सफेद चान्दनी के साथ मस्त ठिठोलियाँ करती रही और पुलकों के स्पर्श में भूल गई वह सब कुछ जो दिन की तपिश में, उसके एक एक कण ने, सिहर सिहर कर झेला था।

चाँदनी के गीत बुनते हुये ही, रात के रुपहले सपनों पर एक दृष्टि डाली आकाश के अजनबी कवि सुधाकर ने। नदिया के इसी किनारे पर, दूर, तटवर्ती मिट्टी के ऊँचे टीले पर, धरती की उभरी अनजानी पीर की तरह, एक छोटी सी झोंपड़ी दिखलाई पड़ रही थी जिसमें सुलगती हुई कामना की तरह एक दीप टिमटिमा रहा था। लगता था जैसे युगों की संचित करुणा आशा के धुंधले प्रकाश से अपने अन्तर्तल को सहला रही हो।

पर यह कौन? किसी रमणी की अस्पष्ट छाया''''''एक पान पात्र भी''' ? हाँ इस नशीली रात में बिल्कुल अकेली'''महकती मधुशाला की मूर्त्त मधुबाला सी,''' सुनसान विहड़ में भी निडर, अलमस्त'''मस्तानी मस्त चाल से मद्यप सी डगमगाती''' अरे!, सीधे'''उसी झौंपडी की ओर बढी जा रही है?'''झौंपडियों के दिन फिर गये क्या?'''कुटिया का कूट भाग्य खुल गया क्या?'''देखना स्वर्ग की वह रूपसी चाँदनी में तैरती सी, धरती को छूती चली जा रही है'''कोई अप्सरा ही है शायद? रूप का असीम पुंज आकर्षण का प्रबल प्रमाण बनकर तथ्य पर अपनी मुहर लगा रहा है'''निश्चय ही इन्द्रलोक की दमकती द्युति है यह। यह लो, निशा विलासी

चन्द्रमा ने एक किरण-दृष्टि उस पर भी डाल दी । किंचित प्रौढ़ है रमणी, तो भी किरणों के आलोक से कामिनी के गदराये यौवन में रूप की मस्ती कमनीयता की पूर्णता होकर मदमदा उठी । काली काली सर्पीली लटों के नीचे उसके रूप की माधुरी में नहाकर एक चाँद और निखर आया—ठीक वैसे ही जैसे कि अभी अभी, कुछ क्षण पहले, काले बादलों के आवरण को चीर कर खुले आसमान में पूनम का चाँद झाँकने लगा था । कंचन सी देह और उभरे वक्ष पर तने पीन पयोधर, मानों किसी अदृश्य लालसा से कसमसा कर, कंचुकी का बन्धन तोड़, आवरण फाडकर, बाहर निकल पड़ने को अकुला रहे हों । उठती गिरती सांसों के उभार में, उनकी फडफडाहट किसी भी विलासी को आतुर कर देने के लिये पर्याप्त थी । पतली कमर के नीचे नितम्बों का भार, कदली स्तम्भों सी संगमरमरी जंघाओ पर भी संभाले नहीं संभल रहा था । छवि के भार से बोझिल, लचक उठती थी, रूप की लरजती शाखा सी, उसकी देह । थकावट से पसीना चुचुआया । श्रमश्रान्त-किंचित क्लान्त शरीर पर, पसीने की बूंदे—शृंगार का रस बनकर—न जाने किस रसिक भँवरे को आमंत्रण देने लगीं । एक अद्भुत अपांग दिया उसने, वातारण सहम उठा, नृत्य की मुद्रा में ठिठककर, कमल ककड़ी सी पतली बाहों को मोड़कर, कमल-हस्त की कोमल लम्बी पतली पतली उंगलियों से माथे का पसीना पोंछा तो यूँ लगा जैसे किसी करुणामयी ने, युगयुगों से सन्तप्त अकिंचन प्यासे सिकता कणों पर, करुणा से विगलित होकर, जानबूझ कर असीम मुक्ताओं की झिलमिलाती राशि बिखरा दी हो ।

अजाने ही पाटलों की सुगन्ध से सारा वातावरण महक उठा ।

वह कुछ ठिठकी जरूर, पर रुकी नहीं, आगे बढ़ गई, खुशबू उसके आँचल में सिमट कर झूमने लगी ।

अरे वह कौन ?···उधर झोंपडो के द्वार को आवृत्त कर, वज्राङ्ग सुपुष्ट गठीले शरीर वाला प्रौढ कद्दावेर सिंह सा कौन आ खड़ा हुआ ? लगता है जैसे चाँदनी ने उसके शरीर से लिपट कर उसमें पारे की चमक डाल दी हो ।

मांसल देह मांसपेशियों में बिजली सी भरकर खड़ी हो गई, लगा जैसे सौन्दर्य स्वयं ही पुरुषत्व से सजकर इठला उठा हो । उसकी नग्नता ने सौष्ठव की पूर्णता का उद्घोष कर दिया । एक लंगोटी ही तो थी बस उसके बदन पर, जिसने सारी लाज को समेटकर एक ही केन्द्र पर छुपा दिया था । चाकी के दोपाटों की तरह उसकी चौड़ी छाती को देखकर कौन विलासिनी उसमें डूब जाने को न तरस उठती होगी, वृषभ से ऊंचे स्कन्धों पर अपना सिर रखकर कौन भाविनी निढाल न हो जाती होगी ?

नारी ने उस पुरुष सौन्दर्य को देखा, वह ललक उठी, उसकी चाल तेज हो गई ।

पुरुष ने नारी के रूप की परिचित कमनीयता को पहिचाना और आलिंगन की कसक में उसकी भुजायें अनायास ही फैल गईं, वह चिल्ला पड़ा—

"अद्रि ऽ ऽ ह ऽ······!"

प्रत्युत्तर में नारी का कंठ कूक उठा—

"दाश ऽ ऽ ऽ······!"

और इससे पूर्व की मुँह से निकली प्रतिध्वनि उसने कानों से टकराती वह तेजी से दौड़ उसकी चौड़ी छाती से जा टकराई, और फिर इससे पूर्व कि चढ़ती सांसों में निढाल होकर वह गिर पड़ती, वलिष्ठ भुजाओं के आलिंगनपाश ने उसे कसकर सीने से लगा लिया—

रसीले चाँद ने एक बार फिर सजीली यमुना के श्यामल शरीर पर अनगिन ललकते धधकते, लाल लाल चुम्बनों को जड़ना शुरू कर दिया अन्ततः अन्तरिक्ष ने, लाज की मर्यादा को सम्भाल लेने के लिये, काले बादल का प्राप्त टुकड़ा ही उनके झिलमिलाते बदन पर डाल, क्षण भर में ही, अन्धकार की झपझपाती तन्द्रा में डुबा दिया।

पुरुष की वज्राङ्ग देह से सटने पर, बलशाली बाँहों के कठोर कसाव में रमणी की कोमल देह कसमसा उठी, तो भी अज्ञात मधुर पीड़ा ने उसके तन मन में आह्लाद की मदिरा उंडेल दी, 'सीसी' की सीत्कार छोड़ वह भी अधरों का सम्पूर्ण रस गटक लेने के लिये अतुरा उठी······फिर भी उसके स्वीकारात्मक नकार ने उत्कण्ठ रोमांचित शरीर को हल्का सा झटका दिया—

"हिस्स ऽ ऽ······आह······क्या करते हो······?"

पुरुष का भ्रमित दर्प धोखा खाकर तरला उठा. अकस्मात् बन्धन ढीला पड़ गया और चंचला के पीन पयोधर पुरुष के विशाल वक्ष पर विजय का चिन्ह अंकित कर गर्व से तनकर खड़े हो गये। एक पल को दोनों ठिठके, एक दूसरे की आँखों में झाँककर देखा और शरारत को पहिचानते ही खिलाखिला कर हँस पड़े······।"

'गुड़ुप······।"

यमुना के गहरे जल में सम्भवतः कोई मछली उछलकर डुबक गई थी। दोनों चौंके, पर दूसरे ही क्षण पुरुष हँसा, शायद समझकर आश्वस्त था—

"मछरिया है जल की······।"

"पुरानी पहिचान है किसी मछुए की···।"—मछियारे की छाती पै कोमल मुक्के की थपकी देकर बोली। आँखों में मुस्कराया वह भी।

"तभी तो बच न पाई अपनी दृष्टि से···?"

"और कितनी फंसायेगा कठोर! एक पर्याप्त नहीं है क्या ?"

"वो तो मेरे तन मन में समा गई है ना, अलग से तो देख ही नहीं पाता न ?"

'फिर···?"

"फिर क्या ? मछियारे की गोद भी तो है लहराता हुआ यमुना का आंगन

है उसका, आंगन में फुदकते खिलौने की चाह किसकी नहीं होती उर्वरे ! मछियारे का बेटा तो मच्छियों से ही खेलेगा न मेरी मकरी ?"

'फुदकते खिलौने ? यमुना के जल में ? किस की बात कर रहा है रे दाश ?"

'तुम्हारी बिटिया की वह हमारे आंगन का खिलौना नहीं है क्या ?"

"मे ी बेटी···?"

"मेरी तुम्हारी क्या, हमारी क्या कहीं समझ मदिरा में डूब गई है आज ?"

सपनों से जागी अद्रिका । स्मरण से तड़प उठी ?

"दास ! कहाँ है मत्स्यगन्धा—मेरी लाड़ली ?"

"अरे और कहाँ ? कहा न, हमारे अंगना में, यमुना की गोद में···।"

"क्या मतलब···?"—आशंकिता थी शायद ।

"मतलब ? अरे मतलब भी हम बतावेंगे···?क्या देवलोक के अखाड़े में इत्तो दिन भाड़ हो आँकती रही हो ? अरे मछियारे की बिटिया नदिया के जल में छप्पक छैया नहीं करेगी तो क्या पंडित की वेदी पै समिधा सुलगाय के स्वाहा स्वाहा करेगी बुधनिया ? याकि खेत की मेंढ पै घास छीलेगी तुलसिया ?"

"मैं पहेली नहीं बूझ रही रे लाल बुझक्कड़ ! मुझे स्पष्ट कह, कहाँ गई है वह ?"—कोमल करतलों की थपथपाहट से पूरा प्रहार करते हुये मन की अकुलाहट में बुझी जिज्ञासा प्रकट की अद्रिका ने । दाश हंस पड़ा—उसने यमुना की दिशा में इंगित कर कहा—

"वह देख ! नाव की पालों के पंख फैलाकर तैर रही है उस टापू के पास···।"

"टापू के पास···?"

"हाँ वहीं तो सपनों के फूल खिले हैं तेरे, मेरे और उसके···?"

"सपनों के फूल···?"

"भूल गई क्या कसक को. जो देवलोक से धरती पर उतार लाई तुझे···?"

"कैसे भूल सकती हूं रे !"—स्मृतियाँ दहकने लगी साँसों की भट्टी में जैसे, फिर भी स्वयं को संयत कर बोली वह—

"······पर उससे इसका क्या सम्बन्ध है रे ?"

"अरे वहीं तो रहता है. टापू पर वह, वशिष्ठ का पोता-शक्ति का बेटा···"

"कौन—पराशर ?"

"हाँ"

"अरे सच ? तूने देखा है उसे ? मैंने तो नाम ही सुना है । देखा नहीं कभी ···बचपन में देखा था शायद···ये ऋषि हवा ही नहीं लगने देते अपनी सन्तान को··· जाने किस छूत से डरते हैं ? तूने देखा है दाश ? कैसा लगता है महर्षि का पुत्र ?"

"महर्षि ऽ ऽ ऽ ?" ठहाका देकर हंसा मल्लाह ।" अरे ये तो पैदा होते ही महर्षि हो जाते हैं और हम जन्म जन्म तक भी तपते रहें तो भी वही बने रहते हैं, महर्षि

"तो क्या महाजन भी नहीं कहेगा कोई हमें ?"

"महर्षियों का व्रत ही तो निभा रहा है ना तू यहाँ मेरे साथ, पानपात्र में डूबके ?" यू हीं जल जल के मरेगा क्या ? कुछ ज्ञान ध्यान की भी कह लिया कर···?"

"मैं कह लूंगा, कर भी लूंगा जो कहेगी तू। पर ऋषियों के सारे ज्ञान ध्यान को खो देगी तेरी लाडली। महर्षि शक्ति को अबके नाक रगडनी पड़ेगी तेरी चौखट पें। युगों से अपमानित नारी की संत्रस्त चेतना महामाया की शक्ति बनकर विजय का उद्घोष करेगी, अबकी बार, संयम का दम्भ लेकर, प्रकृत कामना का दमन करने वाले ढोंगियों के सम्मुख···!

"दास ऽ स !" सिहर कर झुरझुरा उठी अद्रिका की देह। शंकित हरिणी के से उसके मदभरे नयनों में घबराहट झाँकने लगी—

"कहीं शाप न दे दे मेरी बेटी को वह ?···अपमानित न कर दे ऋषि पुत्र उसे ? असमय ही तिरस्कार के विप में झुलस जायेगी कोमल कुसुम से मानस वाली मत्स्यगन्धा ?"

काँपते सपनों को, कोमल कन्धों पर सहेजा, मल्लाह के सबल बाहुओं ने, विचारों के भँवर में डूबती सी अद्रिका को थामकर---

"नहीं अद्रिका। ना, ऐसा न बोल. ऐसा नहीं बोलते ! ऐसा मत बोल। मैं कहता हूं मैंने पाला है उसे। अप्सरा की नहीं, मल्लाह की बेटी है मत्स्यगन्धा अब। मल्लाह की बेटी जिसकी नौका कभी भी भावनाओं के अन्धड में नहीं डगमगाती, उल्टे आसमान के तूफानों से टक्कर लेकर, सीना तानकर, कठोर बर्फीली चट्टानों को मोम की तरह पिघलाकर आतिश की तरह आगे दौडती है। वह लूट सकती है लुट नहीं सकती। तेरी तरह पहली झलक में ही सब कुछ लुटाकर न्यौछावर होने वाली नहीं है वह नागिन। फुफकारेगी तो बड़े बड़े शायद स्वयं ही भस्म हो जायेंगे उसके सम्मुख।

तिरस्कृत वे नारियां होती हैं वरानने ! जो प्रेम के आवेग में अन्धी होकर अपना सर्वस्व लुटा बैठती है. "पुरुष पर खुद झूल जाती हैं। वे नहीं जो रुककर परीक्षा लेती हैं और आपा सम्भाल चरणों पर नाक रगड़वाने की प्रतीक्षा करती हैं अन्यथा उसके सीने में छेद कर स्वयं ही विवश कर देती है तडफड़ाने को।···अपनी पीड़ा की कहानी स्वयं गढ लेने वाली नहीं है मत्स्यगन्धा।"

"दाश···!" एक अज्ञात पीड़ा से कुलमुला उठी अद्रिका, अप्सरा का मुंह तमतमा उठा। अजाने आवेश में हाथों की मुट्ठियाँ भिंच गयी. नासापुट फडफड़ा उठे, चावल के दानों से, चमचमाते हीरों से छोटे छोटे दाँत बिम्बा से लाल ओठों पर चिपककर दन्तक्षत के चिन्ह गढने लगे। दाश ने सान्त्वना देने के लिये उसके कोमल कन्धों को दबाकर कहा—

"अद्रिका ! जानता हूं मैं," कौन सी आग है वह, जो दोनों के सीनों को, लगातार, एक सा सुलगाये जा रही है । समान रूप से प्रज्ज्वलित, वही अग्नि तो दो वदन एक प्राण किये जा रही है हमें । लक्ष्य की एकता ही तो राग की सृष्टि करती है युगल तन मन में । दहकने दे ज्वाला को; ठण्डी न कर किसी भय से···

किसी प्रकार सन्तुलित हुई अद्रिका, "हुम् ··।" कहकर दाश को टटोला उसने—कौन सी ज्वाला, कैसी आग दास ?" काले नाग सा फुफकारा मल्लाह—

"विछलो नहीं अद्रिका । और नहीं इस माँझी को विछलाओ । मल्लाह हैं, हम, अपने लक्ष्य से दृष्टि नही हटाते, पतवार को यूँहीं हाथ से नही छोड देते हम । छाती पर तूफान की टक्कर झेलकर भी आगे बढते हैं, विजलियों की चमक में राहें टटोल लेते हैं, तनिक भी दिशा चूक जायें तो कठोर चट्टानों से टकराकर पल में चूर चूर हो जाय जीवन के सपनों को सहेज कर ले चलने वाली हमारी नाव । पल भर में डूव जाये आशा हमारी, वस···! ना अद्रिके ना ! वह नाविक नहीं हूं मैं जो कि हौले हौले भुलावा देकर किसी को दूर ले जाये और आलिंगन कस स्वयं भी विस्मृति के गर्त्त में उतर जाये···।"

'तेरी इन्हीं वातों पर तो जान देती हूं दास ! इसी साहस पर न्यौछावर है अद्रिका !' प्रशंसा से उत्साहित किया विदकते निषाद को, चपल बुद्धि अप्सरा ने । पर वह कठोरता से पथरा उठा था शायद—

"सपनों की भावना से यथार्थ के महल खड़े नहीं होते पगली ! कठोर कर्म के श्रम से ही ऊंची अट्टालिकाओं का निर्माण होता है स्वप्न दृष्टे !······

नारी तुम कोमल कामना से मन का अभिसार कर सकती हो किन्तुं पुरुष के पौरुष का शृंगार दहकता हुआ लावा ही कर सकता है । अद्रिका ! न जाने कितने ज्वालामुखी फूटते हैं पल पल में, मेरे मन में, मेरा शरीर भयंकर प्रतिहिंसा से जला जा रहा है।···जब तक इन तथाकथित सवर्णों की नाक को नीचा न देख लूंगा, तव तक असवर्ण मल्लाह के बेटे का सारा पुरषार्थ, कालिन्दी के काले जल में डूव मरने लायक ही तो है न ? शपथ है यमुना के पवित्र प्रवाह की मुझे, ···भूल न जाऊँ, भूल न सकूँगा, भूलूँगा नहीं···मुझे याद है···याद रहेगा एक एक दृश्य···रंगमंच पर देखे नाटक की तरह···जो मेरे साथ घटा है और तेरे साथ भी···क्या भूल गई अद्रिका ! ···भूल गई क्या ? वोलती नहीं···वोलती क्यों नहीं ? वोल···बोलना ! कहाँ खो गई ?···तू वोलती है तो प्रतिहिंसा की ज्वाला वनकर धधकती है इस तन में, तेरी गर्म सांसे घहराती हैं तो विजलियाँ कडक उठती हैं इस वदन में, नागिन सी फुफकारने लगती है सोई शक्ति, फन उठाकर दुहरी हो जाती है पल भर में···सब कुछ डसकर भस्म कर देने के लिये···पर···हाय···विवशता में यह आक्रोश मुझे चवाये जा रहा है···ला दे यह पानपात्र···वरना···वरना···यमुना में तूफान आ जायेगा···मेरा वना वनाया खेल विगड जायेगा··पीता हूं तो ठण्डी हो जाती है छाती···ज्वार दव जाता

है···सोचने का अवसर निकल आता है···भावना का अन्धड़ ऊपर से गुजर जाता है···"

वह अद्रिका से छीन दोनों हाथों से ऊपर उठा, पानपात्र मुँह से लगा, गटागट, पीता चला गया···अद्रिका को फुरसत कहाँ थी उसे रोकने की यादों के धुंधलकों में डूबती जा रही थी, अतीत की घटना, घूँट घूँट करके, उसके कलेजे को छीले जा रही थीं। मन के पर्दे पर, प्राणों का चित्रकार, सांसों की तूलिका से न जाने कितने चित्र विचित्र प्रणयी दृश्य रचने लगा। दीर्घ निश्वासों में फूटने लगी मीठे सपनों की गन्ध···

"शक्ति ऽऽऽ!···हाँ शक्ति ही तो थे वह–महर्षि वशिष्ठ की एकनिष्ठ पावन सन्तान···जिन्हें आज भी अद्रिका भूल पाने में असमर्थ है···कैसे भूल सकती हूं भला···?···नहीं···नहीं भूल सकती···

देवलोक का मंगलमय वरदान थे वह। सबसे पहले देव प्रदेश में ही तो पाया था मैंने उन्हें···प्यासी आँखों ने कितनी माधुरी छकी थी एक साथ···अद्रिका! झूम उठी थी तू?···सुधबुध खो दी थी तूने···।

सुरपुर पधारे थे—सौभरी और सोम-दो अन्य तपस्वियों के साथ, सम्भवतः नन्दनवन देखने की अभिलाषा जगी थी। कृतकृत्य हुये देवेन्द्र इस समागम से। स्वागत को तत्पर था उनका आतिथ्य।···तो भी चंचल स्वभाव है सुरेन्द्र का। परिहास के मधुर आस्वाद्य को ग्रहण किये बिना उन्हें कुछ पचता ही नहीं। ऋषि पुत्र को भी उन्होंने अपने मनोरंजन का सहभागी बनाया कला की कमान पर विवेक को ही लक्ष्य बनाया।

चेदि नरेश महाराज उपरिचर भी पधारे थे वहाँ, उन्ही दिनों, देवराज के आमंत्रण पर···सुनते थे देवासुर युद्ध में कहीं देवलोक को सहायता पहुंचायी थी उन्होंने, उसी का पुरस्कार पा रहे थे देवराज के आतिथ्य के रूप में। उन्हीं के आग्रह पर, विशाल सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया था। सुरेन्द्र के निर्देश पर, मधुर मनोरंजन की व्यवस्था थी।

समस्त देवपुर को दुलहिन की तरह सजाया गया था। पारिजात के पुष्पों से सजे थे तोरणद्वार, नन्दनवन के कुसुमों से बनी थी वन्दनवार, कमलों और कुमुदों के ऐश्वर्य से फूल उठे थे स्फटिक के प्रासाद, पाटलों से प्रफुल्लित थे देवमन और रजनीगन्धा सी सुवासित हो रही थी देवरमणियों की कामनाएँ तरह तरह के गजरों और भाँति भाँति की मालाओं में। मलय की गन्ध से महक उठा था आज महागार।

हम नर्त्तकियों के जीवन में नियति नटी भी अद्भुत नृत्य रचती रहती है, उस भ्रूभङ्ग, कटाक्ष, मुद्रा और हावभाव को समझने में हम कितने असमर्थ हैं, क्षण भर में कौन सा अपाङ्ग देकर वह ठिठक जाय हमें पता ही नहीं चल सकता, बस

घटित पर चकित रह जाना ही अपने वश में दिखलाई पड़ता है। भाग्य का नायक क्षण भर ठिठौली करके जाने कहाँ सरक जाता है ।

उस दिन, न जाने क्यूँ, देवराज ने, उर्वशी, मेनका, रम्भा, तिलोत्तमा आदि मूर्धन्य अप्सराओं को भुलाकर, इस अद्रिका को ही चुना था। तपस्वियों के आतिथ्य और मनोरंजन का भार सौंपा गया मुझे। मैं महत्व के गर्व से फूली न समा रही थी। किसी की वात सुनने की फुरस्त भी कहाँ थी मुझे फिर भी कुछ ने मुझे रोककर आशंका प्रकट की—

राजा जोगी अगन जल इनकी उल्टी रीति ।
बचती रहना अद्रिके ! थौड़ी राखैं प्रीति ॥

हँस पड़ी मैं—"यूँ भयभीत कर अद्रिका का मनोवल गिराना सरल नहीं जीजी। घवराओ नहीं तुम्हारा स्थान नहीं छीनना मुझे, प्रति स्पर्द्धी नहीं मैं, कला की पुजारी हूं बस।" मानव मन कितना वड़ा छलिया है देखते ही देखते स्वयं को भी जलने की क्रिया शुरू कर देता है। वे भी हँस पड़ी। शायद उनके कठोर अनुभव की कसौटी पर मेरी मूर्खता की रेख उभर आई थी, दीर्घ निश्वासों में वड़वड़ाती सी निकल गई, "पुरुषकृतन्याय के विधान में नारी के किस महत्व की चर्चा कर रही है अद्रिका ! प्रतिस्पर्द्धा में तो हम स्वयं ही उठी जाती हैं...।"

मैंने इस कान सुना, उस कान निकाल दिया। सोचकर हँस दिया कि दूसरे की प्रगति से किसे ईर्ष्या नही होती। हो सकती है मुझे हतोत्साहित कर देवराज की दृष्टि में गिराने का प्रयत्न किया जा रहा हो। डरती है बेचारी कहीं सुरेश मुझे अधिक मान न दे बैठें। फिर साहस के अभाव में किसी भी संशय को परास्त कर पाना क्या सम्भव है? आखीर इनके इस तरह कहने का लाभ भी क्या है? क्या इन्हें अपनी विवशता ज्ञात नहीं, हमारा जव चाहे, जैसा, जहाँ कहीं भी, उपयोग किया जाता हैं, हमारी अशक्तता क्या उसका प्रतिरोध करने में समर्थ है। पुरुष का नृशंस पौरुप क्षण भर में मसल कर रख देता है सव कुछ। दैव की अवहेलना कर सकता है कोई ? फिर क्यूँ न खुशी खुशी न्यौछावर हो जाऊं? आखीर भविष्य की दुःखमयी कल्पना के भय से क्षण का आनन्द भी क्यों खो दूँ।" मैंने सोचा—सव मुझे गिराने का षडयंत्र है, सफल होने दूंगी इस षडयंत्र को मैं। जीजान से एक जुट हो कार्यक्रम की सफलता का उद्योग करने लगी।

कौन सा देव गन्धर्व या किन्नर था, जो मुझ पर न मर मिटा हो और मेरे एक अपाङ्ग के लिये न तरसा हो। अमरावती की नवोदित श्री हो गई थी मैं, समस्त देवपुर की प्रमोदकारिणी प्रतिभा। आखीर देवेन्द्र का कलात्मक चयन थी मैं—एक निष्ठ मनोनयन। उस दिन डटकर श्रृंगार किया मैंने। मैं "मैं ही थी वस। दर्पण देखकर लजा गया मुझे, झाँककर जो देखा तो स्वयं पर रीझ उठी, भूल गई सब कुछ।" किसी कवि की वाणी मस्तिष्क में गूंज उठी—"जव स्वयं को पा गया तो आत्म-मुग्ध

हो रह गयी मैं।" मेरे रूप के गर्व ने सर्वस्व का तिरस्कार किया उस दिन। आवेश में दर्पण को चूम लिया मैंने। रंगमंच पर आई तो लोगों के विस्फारित नेत्रों को, टकटकी बांधे देख झूम गई मैं।

अपनी सम्पूर्ण भाव भंगिमाओं के साथ नृत्य कला का विशेष प्रदर्शन करना था मुझे। मुनि पुत्रों का मनमोह उन्हें अपने इंगित पर नचा देवेन्द्र और उनके सहायक उपरिचर के मनोरंजन का साधन सुलभ करना था मुझे। तपस्या की कठोरता, ज्ञान की शुष्कता और संयम की निस्सारता पर व्यंग्य कसना था मुझे। ऐश्वर्य के भोग, प्रेम की सरसता और स्वच्छन्द मोद के महत्व का प्रतिपादन करना था मुझे। कला की प्रभविष्णुता, संगीत की सरसता और साहित्य की अभिव्यञ्जना मेरी सहयोगिनी बनी थी। विशेष आस्वादन से जीवन को सुखा कर रोगी हो जाने वाले ब्रह्मचारियों को प्रवृत्त करना था अनंग के मधुमय रंग में, जीवन के आनन्द की स्वस्थ साधना में। प्रवृत्ति के सम्मुख निवृत्ति का निषेध प्रस्तुत करना था मुझे। आत्म संयम और इन्द्रिय निग्रह को विवशता की सीमा, कुंठा की पीड़ा, समय की अपव्ययता, जीवन की अवहेलना और क्रिया की असारता तथा वृत्ति की अव्यवहारिकता के रूप में चित्रित करने का उद्योग था मेरा। ऋषि पुत्रों का ध्यान भङ्ग कर, उन्हें आत्म प्रवंचना के शिकार सिद्ध कर, देव और यक्षों के भोगवाद की प्रतिष्ठापना करनी थी मुझे। आर्ष संस्कृति पर देव संस्कृति की विजय के उद्घोष का स्वर मुखर करने के लिये अप्रत्यक्ष शीत युद्ध का श्री गणेश करना था देवेश को। मैं कृत संकल्प थी इसके लिये और अपनी विजय के प्रति पूर्ण आश्वस्त भी।

नृत्य प्रारम्भ हुआ, वाद्य बज उठे, तार झनझनाने लगे, मूर्च्छनाएँ जाग उठीं, स्वर लहरियां तिरने लगीं, कण्ठ कूकने लगे और मधुर क्वणन के साथ नुपुर छनछनाने लगे, गीतों के अजाने बोल प्राणों की कसक बन कर थिरकने लगे। चित्रविचित्र दृश्यों, विभिन्न भावभंगिमाओं, सरस और सजीव मुद्राओं, नयन की तीखे कटाक्षों और स्वर के आरोह अवरोह में गूंजते लयतालयुक्त आलापों के बीच सोमरस के सागर छलक उठे, 'वाह' 'वाह' और साधुवाद की प्रशस्ति के बीच कहकहे और अट्टहास के स्वर उभरने लगे। अपाङ्ग पर अपाङ्ग दिये जा रही थी मैं और उपस्थितों पर इन्द्रजाल डाल अर्द्धमूच्छित सा किये जा रही थी मैं। मैं बस मैं।

हवा की लहरों पर तैरती हुई भी मैं मस्त नयनों की मदिरा छलकाती हुई, स्वर के माधुर्य में अपने शिकार का आह्वान कर रही थी।

अचानक सोम चिल्ला उठे, शृंगार की मुक्त भावभंगिमाओं और तीखे कटाक्षों के वार से तिलमिला उठे थे शायद। अवश्य ही उनका संयम हिल उठा था, वे आवेश में खड़े हो गये, बीच में ही चीखे—

"ब्रह्मचारियों और तपस्वियों के अनुकूल नहीं है यह सत्कार। मन की चंचलता को उद्दीप्त करने में ऐसे ही उपकरण सहायक होते हैं। सब कुछ जानते हुये

भी सर्प विवर में हाथ डालने को बुद्धिमत्ता तो नहीं कहा जा सकता। उठो ऋषिपुत्र! हमारे योग्य नहीं यह आतिथ्य।"

सम्पूर्ण सभा विहँस उठी मुनि की उग्रता पर। उपहास के पात्र हो गये सोम। कला के नाम पर अज्ञानी और निर्बुद्ध समझे गये। कलाविदों की सभा में अबुद्ध, अरसिक गंवार।

परिस्थिति को सौभरि ने सम्भाला।

"नहीं देख सकते तो लौट जाओ वन की ओर, और तपस्या से मन को संयत करो। जिसे देखकर जी घबराता हो और चित्तकी चंचलता बढ़ती हो उसे देखना ठीक है ही नही।···

···किन्तु हमें साथ चलने को क्यों कह रहे हो? हमारा मोह किस लिये? सङ्गदोष तो इसमें भी हो जायेगा न? मुनियों की मनस्विता और ज्ञानियों की निस्सङ्गता को क्यों कलंक लगा रहे हो? तुरन्त निकालो यहाँ से, तुम्हें नहीं देखना है मत देखो, जिन्हें देखना है उन्हें देखने दो, उनके लिये व्याघात न उपस्थित करो। क्या याद नहीं रहा, कला से संस्कार का परिष्कार होता है विकार का अपकार नहीं।"

सब स्तब्ध थे, इन्द्र किंचित विचलित हुये तो भी मधुर मुस्कान उनके सरस अधरों पर स्निग्ध आलोक बनकर थिरकती रही। वे कुछ बोले नहीं और न ही कोई भाव प्रकट किया। उपरिचर पागलों की तरह उनके मुख की ओर देखते रहे और वे अदृश्य रहस्यात्मक अनुभूति का आस्वादन करते हुये पल भर को पलक झपकाने का अभिनय करने लगे।

सोम ने इन्द्र की सभा से बहिर्गन किया। कार्यक्रम को रुकना नहीं था और न ही रुका। नृत्य और नुपुरों की झंकारें में संगीत की मादकता मदमदाती रही। मैं कला के चरम बिन्दु पर थी, श्रृंगार का कोई भी भाव, कोई भी मुद्रा या चेष्टा छूट न पायी थी उस दिन। कुतुहल से देख रहे थे सौभरी शक्ति के साथ, अब नया क्या शेष रह गया था दिखलाने को। नव्यता में ही तो नित्यानन्द छिपा देखता है मानव।

कला जहाँ निरस्त हो जाती है अभिनेत्रियाँ प्रायः वहाँ नग्न प्रदर्शन का आश्रय लिया करती हैं। कामिनियाँ काम की कुचेष्टाओं को चुराकर ही अधीर आकर्षण का जाल बुनती हैं।

सहानुभूत, अनुभवसिद्ध, आशंकिता-अप्सराओं ने इंगित किया और मैंने झीने वस्त्रों को भी उतारना शुरू कर दिया। पीनोन्नत नुकीले उरोजों की गोलाकार मांसलता न सह सके सौभरी। उठें, और सोम की भाँति ही चिल्ला पड़े।

"बन्द कीजिये यह सब। हमें कला के नाम पर नग्नता रुचिकर नहीं। वासना

की गंध फूट रही है इससे। ऐसे दृश्य काम की कुचेष्टाओं को जन्म देते हैं। अश्लील कला जीवन का श्रृंगार नहीं बन सकती, उससे संस्कृत नहीं विकृत होगी मानवीय वृत्ति। तपस्वी के लिये घातक है यह सब। उठो ऋषिपुत्र! देवराज ने हमें भ्रष्ट करने का षडयंत्र है रचा।"

प्रसन्न हुये देवेन्द्र, उन्होंने गले का हार उतार कर मेरी ओर फेंका, मैंने दौड़कर गपका और माला नृत्य आरम्भ किया। समस्त सभा वाहवाह कर उठी। सौभरी आवेश से काँपते रह गये, उन्होंने शक्ति का हाथ पकड़ कर उठाना चाहा, शक्ति ने देवेन्द्र की ओर मुख किया वे उपहास से हँस रहे थे उपरिचर व्यंग्य से मुंह बना रहा का। सौभरि ने आतुरता से हाथ को खींचा शक्ति के।

शक्ति ने इन्द्र के मन्तव्य को समझा और हँस पड़े शक्ति पुंज अपने हाथों को खींचकर सौभरि से कहा—

सौभरि! वही उत्तर है तुम्हारे लिये, जो कुछ देर पूर्व तुमने सोम के लिये कहा था, वह भी तो हमारा साथी था, उसे क्यों त्याग दिया गया, क्यों अकेला छोड़ दिया गया? अकेले जा सकते हो तुम भी, सङ्गदोष से दूषित क्यों करना चाहते हो मुझे?

आश्चर्य चकित थे सौभरि मित्र की मित्रता पर। शक्ति के उपहास ने उन्हें लज्जित कर दिया। उन्हें अपनी दिशा का पता चल गया वे महज ही वहाँ से खिसक गये।

सौभरि के बाहर निकलते ही शक्ति ने मेरी ओर निहारा। दीप्तिमान निष्कलंक मुख पर चाँदनी सी हँसी देखकर मैं विस्मित थी, खोजने पर भी नाम मात्र को क्षोभ या कलुष न दिखलाई पड़ा। आँख मिली तो यूँ लगा जैसे कोई मेरे प्राणों को बरबस खींच रहा हो। मेरी योजना मेरी सामर्थ्य के साथ ही हारने लगी। मैं सिहर उठी। मेरी असफलता ने पैरों की थकान बन कर विछलना चाहा तो चाह कर भी बच न पाई। मैं बुरी फँसी। शक्ति उठ खड़े हुये। उठकर मृदंग थाम लिया उन्होंने अपने शक्तिशाली हाथों में। गले में मृदंग की डोरी डाल उसी ताल पर 'तिरकिट तिरकिट बोलों की की थाप दे फिरकी से हाथों को नचा कर तडातड़ वाद्य को द्रुत लय में बजाना शुरू किया और साथ ही उसी लयताल में स्वयं भी ताण्डवी मुद्रा में नृत्य रत हो थिरक कर अद्भुत आलाप लिया, समस्त सुरपुर सभा कँपकँपाती सी लगी मुझे। समस्त देवलोक अन्तरिक्ष में चकराता नज़र आया मुझे। सघन मेघ मंडल में घबराती विजुरिया सी दीख पड़ी मुझे। मैं सहमी हुई थी। सहसा वह मेरे बहुत निकट आ गये और बिना ताल को तोड़े चिल्लाये—

"रुकना नहीं नर्त्तकी! थिरकती रहना। बिगडती लय कहीं संगीत के देवता का शाप न बन जाय। महाकाल के कोप का पात्र न बन जाओ तुम नहीं जानती तो जान

लो, लय टूटते ही जीवन का प्रवाह भी टूट जाता है। समस्त ग्रह तारक पुंज, समस्त नक्षत्र मंडल, समस्त, ब्रह्माण्ड किसी अदृश्य शक्ति के संगीत की लयताल पर ही नाच रहा है। लय टूटते ही प्रलय हो जायेगी सुमुखी!···अहा कैसा मधुर है अप्सरा का सद्य-सौन्दर्य ! मुझे बहुत भला लग रहा है। अद्भुत है सृष्टा की कला ! मैं इसे नेत्रों से पी जाना चाहता हूं···नहीं···नहीं आत्मसात् कर लेना चाहता हूं···पर···नहीं··· यह तो, वस्त्राभरणों की तरह बाहरी सौन्दर्य ही है न ? उतारती चली जा—एक एक वस्त्र, भूषण, अंगराग, उवटन, मर्दित तैल सुगन्ध, त्वचा का आवरण···उतार दे···उतार दे सब कुछ···उतार दे यह अंगों की मनोहर छाया, रमणशील रमणी ! अस्थि, चर्म, मेद, मज्जा और रक्त सब उतार दे···मैं भी तो देखूँ वह दिव्य सौन्दर्य कहाँ छिपा है ? कहाँ छिपा है रमणीयता में रमने वाला वह नयनाभिराम राम, जो तुझे इतना आकर्षक बना रहा है ? शक्ति के दर्शन करना चाहता है अप्सरे ! जो तुझे मुझे और सम्पूर्ण चराचर को अपने इंगित पर नचा कर इतना चंचल बना रहा है।···"

मैं निढाल हो चुकी थी, भयभीत भी। थरथरा रही थी देह। सारा गर्व चूस लिया था गर्वहारी ने। जीवन और मृत्यु के बीच पलभर के अन्तर की रेखा दिखलाई पड़ी मुझे। कुछ पल शेष थे, मैंने निष्पाप मन से कातर हो इष्ट का स्मरण किया। कृपा की प्रभु ने। एक ही मार्ग सूझा···मैं महानुभाव के चरणों पर जा पड़ी—

"क्षमा करें देव ! बस और नहीं···मैं हार गई···संयम के सामने कोई भी ठहर नहीं सकती।"

देवराज जाने कहाँ अदृश्य हो गये थे, उपरिचर या कोई देव भी मुझे दिखलाई न पड़े वहाँ मैं थी बस अकेली मैं जिधर देखती, बस शक्ति दिखलाई पड़ते थे। वह मेरे ऊपर झुक गये, घुटने के बल बैठ, मेरी ठोड़ी को हाथ लगा ऊपर उठाया। अधरों की मुस्कान और आँखों की चमक में तैरते हुये परिहास ने छल लिया मुझे, मैं आपा खो बैठी क्षण भर में ही मानिनी हो गई नीचे नयन किये बैठी रही, पलकें न उठा सकी, दृष्टि से भी प्रत्युत्तर न दे सकी। तो भी क्षोभ न था उनमें। कृतकृत्य हो गई उनके शब्दों को सुनकर मैं—

"अद्रिके ! कला में निष्णात है तू ! शक्ति प्रसन्न। है तुझसे मैं चाहता हूं तुझसे वह शक्ति पैदा हो जो त्रिभुवन मोहन को अपनी गोद में खिलाये, उंगली पकड़ चलना सिखाये, समस्त वसुधा की प्रेरणा स्रोत बन जाये······।"

उठीं, किन्तु अवाक् थी मैं, मुँह बाये खड़ी रही। पग आगे नहीं बढ़ रहे थे सारे शरीर को मानो काठ मार गया था। अपूर्व इन्द्र जाल था। वह चले जा रहे थे, रोकने का साहस किस में था ?

मेरी तन्द्रा भंग हुई। जब देवराज पर पड़ती हुई मीठी फटकार सुनाई पड़ी—

"देवेन्द्र ! धन्य हैं आप ! धन्य ! धन्यवाद ! तपस्वियों को कठिन अग्नि परीक्षा से निकाल कर उनका उपकार ही करते हैं आप ! सोना आग में तपकर ही कुन्दन बनता है, कृपाण शाण पर चढ़कर ही प्रखर हो पाता है ।······पर अबोध व्यक्तियों का खड्ग की धार से खेलना उचित नहीं···पितामह ब्रहा ने विरोचन के साथ किसी इन्द्र को समझाया था वह पाठ आप भी पढ लें तो अच्छा हो—जान लें कि आत्मसौन्दर्य के सामने कोई सौन्दर्य टिक नहीं सकता, सम्पूर्ण बाह्य सौन्दर्य उसी से तो उद्भासित हैं न ? जो स्वयं को देख लेता है वह स्वयं पर ही मर मिटता है, शेष के लिये आकर्षण ही कहाँ बच पाता है उसमें । वहाँ शेष ही क्या रह जाता है । शून्य ही शून्य···मात्र शून्य । पूर्ण है वह शून्य में शून्य जोडने या घटाने से कोई अन्तर नहीं पड़ता, देवराज तो भी मिल पाता है केवल शून्य । आपके पास महान ऐश्वर्य है, हम फकीरों के पास है ही क्या ? मात्र शून्य, बस वही शून्य······

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते !।

देवराज को दी गई भर्त्सना पर मैं स्वयं को निर्दोष समझने लगी । मेरे मन में हर्ष और प्रेम के अंकुर फूटने लगे समस्त भय कपूर की तरह उड़ गया । उन्होंने ठोड़ी को छूकर मुझे विठाया था वह स्पर्शजनित आनन्द मेरे तन मन में झंकृत होकर अद्भुत मस्ती सी भरने लगा । ऋषि की कला प्रशस्ति को मैं मन ही मन मानवी मनुहार की क्रिया मानने लगी । अपेय मदिरा से मत्त बेसुध दीवानी सी हो गई थी मैं । अपने ही भाव से स्वयं मुग्ध हो रही थी एकाकी । स्वयं को स्वयं से छल आत्मविस्मृति में खोने की असफल चेष्टा करने लगी थी मैं । किसी भुवनमोहिनी आत्मा को क्रोड़ में लेकर खिलाने की प्रवल लालसा ललकने लगी मुझ में । बदन में काँटे से खड़े होने लगे रोमांचिता के हृदय में चींटियाँ सी रेंगने लगी । नाभि के मार्ग पर सुरसुराहट सी दौड़ने लगी । करतल में स्वेद और पादतल में विचित्र सी खुजलाहट होने लगी । अंगों में न जाने कैसी फुदफुदाहट सी होने लगी ? लगा जैसे कोई अदृश्य होकर भी बलपूर्वक खींच रहा हो मुझे, मौन निमन्त्रण सा पाकर पुलका गई थी मैं । सोचती थी कौन बुलाता था मुझे, मैं अपने आपसे पूछ बठी, बेसुधी में शब्द फूट पड़े, किसने बुलाया मुझे···।

मैं अचेतन स्वप्नद्रष्टा सी बुदबुदा रही थी । मेरी तन्द्रा भंग हुई जब महाजन उपरिचर को कुछ कहते हुए अपने सामने खड़े पाया मैंने—

"हमने बुलाया था, क्या कोई अपराध होगया इस बुलाने में, देवि ! कष्ट के लिये क्षमा चाहते हैं ।···आर्यावर्त्त तक तुम्हारी कला की धूम मची है । हमारी भी दर्शन की लालसा थी इसीलिये देवेन्द्र से विशेष आग्रह कर प्रत्यक्ष पाया था तुम्हें ! आज आपने हमें अपना अनुमोदक ही नही चहेता भी बना लिया···।" मैं सोचने लगी

"क्या चाहता था यह मुझसे, यहाँ बचा ही क्या अब, शेष शून्य···" और फिर मेरे मस्तिष्क को अदृश्य स्पर्श सा छूने लगा। मेरे निरन्तर रहने पर उपरिचर का साहस बढ़ा, उन्होंने अपनी मणिमाला उतार कर मेरे कण्ठ में डालते हुए कहा—"लो यह तुच्छ सी भेंट···।"—कितने बिच्छुओं ने एक साथ डंक मार दिये मुझे, मुझे लगा, जैसे करोड़ों अंगारों ने छुआ हो कोमल बदन को। किन्तु प्रतिकार···प्रतिकार अप्सरा की नियति में कहाँ ? देवराज के अतिथि को कोई उत्तर न दे सकी मैं।

पुरुष ने सदैव ही नारी से खिलौने की तरह खेला है, बिना उसके अन्तर्तल को टटोले। जब जी चाहा, कुचला मसला जब जी चाहा दुत्कार दिया। उसके मानस से मिलने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी। उसके नकार को भी स्वीकार का लक्षण बतला उसकी विवशताओं से बलात् खिलवाड़ की उसने। ···पर क्या सभी ऐसे हैं···नहीं तो, ···तो फिर तेरा एक पक्षीय दृष्टिकोण···पर यह जो सामने अड़ा है···खड़ा रहे···।···तू उसकी कह न ?···किसकी···?···शक्ति की···।

मैं फिर आपे से बतियाने लगी···अनायास ही शब्द मुँह से निकले—"···पर यह शक्ति···।"···बात पूरी भी निकली थी···सामने वाला सांड की तरह बिदक उठा. नथुने फुला ने शुरू कर दिये। सभ्यता के आवरण में छिपा उसका प्रकृत पशु बाहर आकर सींग पैनाने लगा—मैं घबराई, देवेन्द्र के अतिथि रूठ न जायें···आखीर शक्ति और उपरिचर में कुछ अन्तर तो था ही। पुरुष का ईर्ष्यालु हृदय यूँही बड़ा अनर्थकारी होता है। प्रतिपक्षी की अनुपस्थिति में भी अकारण बैर उसने साध लिया और अनर्गल बोलना शुरू किया—

"भुक्खड़ों से विलास की आशा करना कहाँ तक उचित है वरानने ! मांस-पेशियों का गर्म लहू ही काम की उत्तेजना उत्पन्न करता है कामिनी ! सूखे रेत में तेल नहीं हुआ करता।"

जब भी मानव अपने पक्ष में बोलता है तो स्वयं को ज्ञानदेव का मूर्त्तरूप ही समझता है पर उसकी कुचेष्टाओं में उसकी मूर्खता परिलक्षित हो ही जाती है।

मैं तिलमिला गई उपरिचर की अकारण द्वेषवृत्ति पर। पर उत्तर न देना तो अप्सरा की नियति है न ? भयंकर क्षोभ से अपने ओठ काट लिये मैंने।

सोचने लगी—"क्या सोचती है शासकों की सन्तान ? क्या विषय भोग पर एक मात्र इन्ही का अधिकार है। अपने ऐश्वर्य के मद में निर्धनों के प्रणय का उपहास भी इन्हें प्रसन्न करता है। पर प्रेम और भोग को क्या एक ही तराजू में रखा जा सकता हैं ? भोग में भी कामी-संयमी-योग क्या सिद्ध के सम्मुख ठहर सकता है क्या ? अनुभव सिद्ध स्त्रियाँ इसे खूब पहिचानती हैं। अप्सरा से बड़ा अनुभव भी किसी का हो सकता है क्या ? हमें तो घूंटी में ही पुरुषों को पहचानने की कला सिखला दी जाती है। तभी तो हमारे नयन बाणों से विश्वामित्र जैसे ऋषि महर्षि भी नहीं बच

पाते···मछली के बच्चे को किसी ने तैरना सिखलाया कभी ? कोई भी कुमारी झुकी पलकों के नीचे से ही पुरुष का सब कुछ देख लेती है जो पुरुष हैं वह योगी है जो योगी नहीं वह पुरुष भी नहीं हो सकता। स्थान स्थान पर जान छिडकने वाला कामी काम के रहस्य को क्या समझ सकता है ?······शक्ति तो नहीं है वह···शक्ति विश्वामित्र भी नहीं रे ! शक्ति···हाँ शक्ति—वशिष्ट का बेटा है···और विश्वामित्र···? जरूर कहीं कोई क्षत्रिय का विलासी अंश चंचल हो उठा होगा मेनका के सामने। तपस्या की अग्नि में तपे बिना क्या विश्वा वशिष्ठ के सम्मुख ठहर पाये कभी ? कराल क्षत्रिय दण्ड को कैसी हार माननी पड़ी उदार ब्रह्म दण्ड के सम्मुख ?······।"

देवेन्द्र ने उपरिचर को साथ चलने के लिये पुकार लिया था और मेरी जान बच गई। पर उस वशिष्ठ के बेटे, अक्षमाला की प्यारी सन्तान, प्राणों को खींचने वाले अदृश्य प्राण से कैसे बचूं···? मेरी रग रग में समा गया था शक्ति···कैसे बचूं···कैसे बचूं उससे···आज भी बरबस खींच रहा है मुझे···कण कण में छिपा मन अदृश्य वंशी की ध्वनि पर मुझे पुकार रहा है···मान जा ना ?···क्यूं तंग करता है मुझे क्यूं बुला रहा है रे मुझे···।"

आखिरी शब्द बुदबुदाहट में फूट रहे थे, मद्यप दास की क्रोड में पड़ी बेसुध अद्रिका के मुखसे। तन्द्रालु दाश ने, अपनी बलिष्ठ भुजाओं से पकड़कर, छाती पर खींच लिया उसे और मद्यप की सी घिसटती आवाज़ में, उसी बेसुधी से बोलता चला गया—

"इसलिये···इसलिये बुला रहा हूं तुझे···प्रिये !"

बहुत चढ़ गई थी शायद। वह उसे छाती पर खींच, उनींदा सा वहीं रेत पर ढेर हो गया। अद्रिका करवट बदल, उसकी चौड़ी छाती पर सिर रख आकाश की ओर ताकने लगी। चाँद से मुखड़े की स्मृतियों ने फिर उसके मन को गुदगुदाना शुरू कर दिया। उसका शरीर ही दाश से चिपटा था पर मन तो अतीत के अनन्त में लम्बी लम्बी उडानें भर रहा था। वह फिर सोचने लगी।

शीतल निश्वास छोड़ी अद्रिका ने—

"शक्ति ऽ ऽ···हाँ शक्ति ही है···शक्ति ही थे वे···विशिष्ट गुरुत्वाकर्षण शक्ति···जो दूर उड़ने वाली अद्रिकाओं को बार बार अपनी ओर खींचकर भी स्वयं अपने स्थान पर स्थिर ही बनी रहती है।

कहते हैं, बड़े से बड़े घाव को समय स्वयं ही भर देता है। पर मैं समझती हूं, बहुत से घाव ऐसे होते हैं समय जिनमें स्वयं खो जाता है। भूलना तो दूर की बात है, कुछ क्षण तो ऐसे भी होते हैं, कि घटित के साथी जितने भी दूर हो जाते हैं, दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह, हृदय में उतने ही गहरे होकर गड़ते चले जाते हैं। प्रेम में प्रियतम में ऐसी अग्नि समाहित हो जाती है जो समीपस्थ होकर हिम सी शीतल और दूरस्थ होकर दावानल सी दाहक हो जाती है। ऐसा रोग है यह, जिसकी, औषधि मात्र पीड़ा में निहित है। प्रेम में भ्रम पाल लेने को मन करता है क्योंकि भ्रम ही

विश्वास हो जाता है यहाँ। भ्रम टूट जाता है तो विश्वास भी खण्डित हो जाता है। अतः प्रेमी भ्रम को संजोये रखने में ही अपना भला मानता है। विचित्र सृष्टि है मन की लुट लुटकर भी बार-बार लुटना चाहती है।

शक्ति ने जाने क्या कहा ? पर मुझे तो यूँ लगा कि जैसे मेरे मन का कलाकार उसी में कहीं घर बनाकर बैठा है। आठों याम उसी का चिन्तन, खाना पीना भी भूल गई मैं। हरपल हर क्षण मेरे मन की चौखट पर दस्तक दे रहा था वह। मैं हर बार हृदय का द्वार खोलकर खड़ी होती और वह उतने ही रूप धारण कर उसमें प्रवेश पाता रहा। तनिक भी चैन से न बैठने दिया उसने और फिर वह समय भी आगया जब वह अदृश्य होकर भी मुझे उड़ा ले चला, अपरिचित दिशाओं की ओर। मैं चप्पे चप्पे पर उसे तलाशने लगी। बन-बन भटकने लगी।

जहाँ चाह है वहाँ राह है। जिसका जिस पर सच्चा स्नेह होता है वह उसे मिल ही जाता है। एक दिन दैव ने मेरी भी सुनी और वह मुझे नदिया के तीर पर दिखलाई पड़े। शायद प्राणायाम की साधना कर रहे थे। मुझे लगा मेरे ही प्रेम में शीतल निश्वासों में डूब रहे हैं ये। नारी सुलभ प्रेमावेग से मन तरला उठा—

"हाय, कितने दुर्बल हो गये हैं, रातदिन अद्रिका के चिन्तन ने ही यह दशा की होगी ? अद्रिके ! तू ही उत्तरदायी है कितना सताया है ऋषिकुमार को तूने !··· ऋषि पुत्र···ऋषि पुत्र क्या कोई भी···कोई भी क्या, मैं भी तुझे क्षमा नहीं कर सकती।"

बुद्धि ने झकझोरा—

"पगला गई है क्या उन्मादिनी ? अच्छी तरह देख तो ले, वह ऋषि पुत्र है, कोई साधना करता होगा ? उसे उस प्रेम के पागलपन का रोग कहाँ ?" प्रेमातुर मन ने बुद्धि को झिड़का—

"चुप रह प्रतिवादिनी ! तू व्यवसायात्मिका क्या जाने, प्रेम और समर्पण की भावनाओं को ? देख वह उठ गये वह उठ गये हैं। उनके शरीर से कैसा तेज निकल रहा है। अरी पगली, तेज नहीं, मेरे विरह की अग्नि से दग्ध हुये जा रहे हैं वह। तभी तो देख न, नदिया के जल की ओर बढे जा रहे हैं। देख तो, कमर तक जल में घुस गये, अञ्जली में जल लिया और ऊपर से उछालना शुरू कर दिया। भला तू ही सोच, अन्तरिक्ष की ओर जल ले जाने का क्या अर्थ हो सकता है ? स्वर्ग में बैठी मुझ प्रेम-विरह-विदग्धा की कल्पना करके मुझे ही तो शीतलता पहुंचाने का उपक्रम कर रहे हैं वह। हाय ! कितनी सहानुभूति है ! कितना प्यार है उन्हें ! और तू नृशंस ! दूर दूर फिर रही है उनसे, कब तक जलायेगी उन्हें, दिलजली ! उतार दे वस्त्र, घुस जा नदिया में। जब तक उनके सीने से जाकर न चिपट जायेगी, तब तक यह आग किसी भी पानी से ठण्डी न हो सकेगी। जल्दी कर प्रलापिनी। कहीं नदिया में ही आग न लग जाये।···

कहले जिसका जी चाहे, इसे पागलपन, किन्तु मैं तो कपड़े सचमुच उतार चुकी थी, पता नहीं लाज कहाँ उड़ गई थी ? सर्वथा निर्वस्त्र हो चुकी थी । सूर्य की आँखे चुंधियाँ गई होंगी दहकते अंगारों सा मेरा बदन देखकर । बेचारा बादल की ओट में छिप गया वह ।

मेरा साहस बढ़ता जा रहा था । सूर्य को बादल की ओट देखकर कल्पना की मैंने—'देखा मेरे प्रयत्न का प्रभाव हुआ न ? सूर्य ने अपनी दाहकता को छोड़ शीतलता ग्रहण करली । अब निश्चय ही वह भी शीतल हो जायेंगे । उन्हें अवश्य ही शान्ति मिलेगी मेरे आलिंगन-स्पर्श से । मैंने जल में डुबकी लगा दी और मछली की तरह तैरती हुई अन्दर ही अन्दर उनके पास पहुँच गई और हक करी न धक् उनके बदन से चिपट गई•••।

पर यह क्या ! वहाँ तो नाम मात्र को भी दाहकता न थी । लगा जैसे किसी ठण्डी बर्फ की चट्टान से चिपट गई हूं ।•••अद्रिका ! यह तो तू ही जल रही थी अपने पागलपन में, तुझ में ही थी दाहक अग्नि, यहाँ तो "शीतलता ही शीतलता है, शान्ति अनन्त शान्ति !" स्पर्श पाते ही मेरे सात्विक भाव जाग उठे, लजा गई मैं, मुझे चेत आया और मैं वापिस दौड पड़ी । जैसे जल की मछली प्रवाह को काटकर दूसरी ओर निकल जाती है । मैंने वस्त्र पहन लिये, और भय से संत्रस्त हो ऋषिपुत्र के चरणों में आ गिरी । किन्तु वहाँ क्षोभ की आंच भी न थी, वह अब भी हँस रहे थे, कोप का चिन्ह न था वहाँ । मैं चकित थी । बुरी तरह परास्त हुई थी ।

वह बोले—

"अद्रिके ! आज क्या फिर देवेन्द्र ने परीक्षा लेने के लिये भेजा है ? आओ चिपट जाओ मुझसे निर्वस्त्र होकर, कठोर आलिंगन में कसलो मुझे । पर क्या मिलेगा पगली यहाँ तुम्हें ? कुछ परिणाम तो तभी निकलेगा ? जब दोनों ओर बराबर अगन लगी हो । यहाँ तो तुम्हारी अपनी भी बुझ जायेगी पगली ! "योगश्चित्तवृत्ति निरोध" की साधना करते हैं हम । तुम्हारे द्वारा ली गई परीक्षा हमारे अभ्यास में सहायक होगी । आओ, और आगे आओ अद्रिके! अपनी गर्म गर्म साँसों से इस साधनामय शरीर को मोम की तरह पिघलाकर देखो तो !•••तुमने कितनी देर कर दी ?•••तुम्हारी प्रतीक्षा थी मुझे । मेरे प्रयोगों का एक उपकरण बन चुकी हो तुम ! तुमसी रूपसी कहाँ मिलेगी विश्व में ? खोजने पर भी नहीं । तुम्हारे तन की कसौटी पर खरा उतर कर मेरी साधना पूर्णता को प्राप्त हो जायेगी••••••।"

अचानक बोलते बोलते रुक गये वह । शायद कुछ गम्भीर हो गये थे, मध्यम स्वर में बोले—

"क्यों व्यर्थ ही अपनी शक्ति का क्षय कर रही हो तुम ? कहीं ऐसी जगह जाओ, जहाँ इसका उचित प्रतिदान मिल सके । समान धर्मियों का सम्मिलन ही आनन्द की उत्पत्ति में सहायक हो सकता है•••ठहरो ! जब यहाँ तक आई हो तो

व्यवस्था भी दूँगा मैं तुम्हें !···आओ मेरे साथ आश्रम में ही चलो···मैं तुम्हें भी सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करूँगा···।"

मंत्र मुग्ध थी मैं या मन की गति की अनुगामिनी ? मन भी कितना चंचल जादूगर है, वह पग पग पर मुझे छल रहा था, और मुझे उस छले जाने में ही आनन्द आ रहा था। अजीब सृष्टि है इस मन की, जिसके द्वारा लूटी जाती है उसी के लिये तरसती रहती है। मैं 'सन्तुष्ट' शब्द के अर्थ की कल्पना में ही खो गई और सोचने लगी—

"ठीक ही तो कह रहे हैं" ऋषि पुत्र ! मुझे इतना तो ध्यान रखना चाहिये था कि स्थान कौन सा है, खुले घाट पर प्रेमालाप शुरू कर दिया। यह देवलोक नहीं मानवलोक है पगली। यहाँ की मर्यादाएँ ही अलग हैं। और ऋषियों की मर्यादाएँ तो मानवों में सबसे कठोर होती है। इनकी भी अपनी सीमा है, यहाँ कोई देखता तो क्या कहता ? अपनी न सही इनकी तो प्रतिष्ठा का ध्यान करना चाहिये था मुझे··· बावली ! स्वयं को हाव भाव में कुशल अप्सरा कहती है और प्रणय से मुग्ध हो सारा ही होश खो बैठी। आखीर पशु तो नहीं हैं हम ? विलास की रंग भूमि में रस और रास के अनेक आयाम होते हैं, धीरे धीरे ही तो लक्ष्य पर पहुंचा जाता है।"

कब हम आश्रम पहुंच गये, पता ही न चला। ठिठक गई, तब, जब दूध में गहराई सी चाँदनी की तरह श्वेत पुष्पों के शृंगार से सजी तेजस्विनी ऋषि पत्नी को स्वागत में खड़े पाया। मधुर आतुरता से भरे थे उसके शब्द—

"आइये, आर्य ! कहाँ रह गये थे, इतना विलम्ब कैसे हो गया ?"

"विलम्ब तो उतना नहीं हुआ शिवानी ! तुम्हारे हृदय के स्पन्दन ही तीव्र गति ले लेते हैं···तुम्हा क्या दोष ? प्रतीक्षा की घडियाँ ही कुछ ऐसी होती हैं।··· देखो तो हमारे साथ कौन आया है···?

असमंजस और कुतुहल से देखती रह गई ऋषि पत्नी–शिवानी, मेरे रूप को। ···पता नहीं क्यूँ स्तम्भित सी हो गई। उसे रुष्ट देखकर ऋषि ने सचेत किया उसे–

"अरे क्यों क्या हुआ ? क्या साधारण आतिथ्य का धर्म भी विस्मृत हो गया ! आखीर क्या सोच रही हो ?"

मैं समझी थी, निश्चय ही भ्रम ने ईर्ष्या का रूप ग्रहण किया होगा। मैं ऋषि पत्नी से अपनी तुलना करने लगी मेरी अहंकृति को सन्तुष्टि मिली, बड़ी साम्त्वना सी हुई, एक अपांग दिया मैंने, ऋषि पुत्र मुस्करा पड़े, आश्वस्त होकर मैंने आगे बढने का साहस किया। खुद अपना परिचय दिया मुस्कराकर मैंने—

"मैं अद्रिका हूं, देवलोक से आई हूं।"

वह जैसे नींद से, चौंकी, दौड़कर मुझसे चिपट गई और आलिंगन में कस लिया मुझ हक्की वक्की को। जाने कहाँ से माधुर्य का स्रोत फूट पड़ा—

"अरे ! आप हैं बहिन ! हम तो आपके दर्शनों को तरस रहे थे। उसी दिन

से प्रतीक्षा कर रहे हैं जिस दिन से आर्य श्रेष्ठ ने आपके दिव्य सौन्दर्य की प्रशस्ति में वाणी के स्तोत्र प्रस्तुत कर दिये थे ।"

अबकी वार मेरे चौंकने की वारी थी। यहाँ भी ठगी गई थी मैं···मैं सोचती रह गई—

"मेरे रूप की प्रशंसा की थी ऋषि पुत्र ने ? कहीं व्यंग्य तो नहीं कस रही ऋषि पत्नी ?···पर यह कैसे हो सकता है···कोई लक्षण, कोई हाव भाव तो होता ऐसा !···व्यंग्य में कहीं कटुता की गंध तो होती ?···यहाँ तो अब भी चान्दनी सी शान्ति में चन्दन की सुगन्ध निखर रही है···कहीं किसी क्षोभ, किसी ईर्ष्या या दम्भ का लक्षण नहीं···एक सिकुडन भी तो नहीं माथे पर ? अगर है तो बरा बर्फीले पहाड़ से फूटते झरने की तरह दुग्ध धवल उज्ज्वल हँसी जिससे हर्ष की फुहारें उड़ रही हैं··· नहीं अद्रिके! वार-वार तू अपने ही भ्रम से भ्रमित रहती है, रातदिन औपचारिकताओं को निभाते निभाते तेरा जीवन कितना कृत्रिम हो गया है···देवेन्द्र की कूटनीतिक गतिविधियों का साथ निभाते निभाते निश्छल जीवन की स्वाभाविकता का स्वाद ही खो बैठी है, आचलिक सारल्य में नागरी सभ्यता की तलाश करने लगी है।···शिवानी के होठों पर क्रीड़ारत मधुर हास को देखकर मैं चकरा गई···मेरे दर्प पर भयंकर चोट पड़ी।···पर मन का ऐन्द्रजालिक भी अपना खेल खेल रहा था ?···एक अतृप्त नशे से झूम उठी मैं···शक्ति ने मेरे रूप की प्रशंसा की थी···ऋषि पत्नी से बढ़कर कौन सा प्रमाण होगा ? अनजाने ही बुदबुदाई मैं···

"मेरे रूप की प्रशस्ति—?"

"हाँ, जो मेरे सामने प्रत्यक्ष है। निश्चय ही देवों के मन को भी मोह लेता होगा यह, जब एक नारी के मन पर भी अपना इन्द्रजाल डाल दिया इसने ?" पूर्ति की ऋषि पत्नी ने।

गर्व से उन्मत्त होकर भी, लजाने का अभिनय किया मैंने—"परिहास कर रही है आप···?

"नहीं बहिन ! इतने कुटिल नहीं होते हम, हमें सरलता ही सोहती है जो कहना होता है स्पष्ट कह देते हैं"···कभी कभी तो व्यवहार शून्य भी कहलाने लगते हैं हम इसी कारण···।"

'फिर कहाँ हूं मैं वैसी ? एक क्षण को भी तो···(तुम्हारे ऋषि···)—जीभ काटली मैंने मुँह में आई बात को रोक लिया, स्वयं को झिड़का मैंने—"क्या कहने चली थी पगली···कुछ तो होश किया कर···आखीर कितने झटके खाकर चेतेगी···"— तो भी मन तो अपने ही विषय में सुनने को ललक रहा था, मैंने शान्त होकर उसकी सुनी···शिवानी ने पूरी की अपनी बात—

"न होती तुम वैसी तो, तुम्हारी कला के गीत न गाते हर समय हमारे पति देव ?···।"

"क्यूँ ज्ञान ध्यान भी छोड़ दिया क्या···?"—विनोद किया मैंने और शक्ति के मुख पर प्रश्नवाचक दृष्टि गड़ा दी। पर वहाँ जो नयन दृष्टि इठलाई मैं तो काँप गई उसे देखकर। न जाने कैसा तारल्य था उन नयनों में, मैं नीचे से ऊपर तक सिहर उठी, वे मुस्करा रहे थे या उनकी आँखे। कैसा छवि जाल था, कैसा इन्द्रजाल। मुझे मदिरा सी चढ़ गई। बचा लिया मुझे शिवानी ने। बाँह खींचकर भीतर ले गई और बोली—

—"एक बात बताऊँ अद्रिके !"

कैसी आत्मीयता थी, मैं ललक उठी, न जाने क्या कहेगी शिवानी ? मेरा रोम रोम झूमने लगा ? मेरी साँस तेज हो गई। दिल धड़कने लगा। मैंने उत्कण्ठा से उसके मुँह से अपने कान सटा दिये। वह फुसफुसाई—

"तेरा बड़ा उपकार है मुझ पर···।"

"क्या उपकार है मेरा···?" विस्मित थी मैं।

"उनकी कृपा हो गई मुझ पै···।"

"क्या पहिले नहीं थी···?"

"थी तो, पर तेरे पास हो जाने के बाद से तो कुछ विचित्र सी मस्ती छा गई थी उनमें ?"

"तेरी सौगन्ध, वहाँ तो कुछ भी नहीं हुआ ! पूर्ण संयम दिखलाया ऋषि पुत्र ने।"

"पर फिर भी एक बात है···।"

"क्या ?"

"ये सभी पुरखों पर लागू होती है···।"

"आखीर क्या ?"

"ये पुरुष है ना, बाहर से संयम का कितना भी मोटा आवरण ओढ लें पर···।"

"पर क्या···।" उसकी क्षणभर की ठिठक मुझमें झुँझलाहट पैदा कर रही थी।

"पर होते तो पुरुष ही हैं न ?"

"अरे वह तो होते हैं और रहेंगे भी। क्या संयम से लिङ्ग भी बदल जायेंगे ?"

—मेरी अकुलाहट ने झुंझलाहट के स्वर को प्रकट कर ही दिया।

"तू तो, लगता है, बुरा मानती है अद्रिका ! रहने दे, चल बाहर चलें।"

अब समझी मैं, मैं जिसे भोली समझ रही थी वह तो मेरे मन के एक एक भाव को पकड़ रही थी। भला कहीं नारी से नारी की अकुलाहट छिप सकती है ? मैंने ऋषि पत्नी के सम्मुख अपनी हार स्वीकारने में ही भला समझा। मनुहार की। उसकी गर्दन में बाँहें डाल दी। अत्यन्त कातर होकर पूछा—

'बोल, बोल न, शिवानी ? क्या किया ऋषि पुत्र ने ? जो एक संयमी के भीतर भी बैठा हुआ विचित्र पुरुप दिखलाई पड़ गया तुझे ?"

अरे, वही जो पुरुष करते हैं ?"

"क्या ?—मैं साधने लगी उसे।"

"क्या ? क्या यह बात कहने की है…?"

आखीर नारी थी मैं, एक अप्सरा ! समझने तो लगी थी मैं…पर उस भोले मुख से कितनी मादक लग रही थी वे बातें । उसी के मुख से सुनने को अनजान हो गई मैं—

"पर तुम पति-पत्नी के बीच मेरा उपकार क्या हो गया शिवानी ?"

"उपकार क्यों नहीं ? उपकार है।"

"कैसे ?"

"तू न होती या तेरे रूप का जादू न होता और तेरी कला ने उसे प्रखर न किया होता तो…?

"तो क्या…?

"फिर वह न होता…।"

"क्या न होता बावली !"—मीठी मीठी झुंझलाहट में फुसफुसाई मैं ।"

अबकी बार अद्‌भुत प्रतिक्रिया हुई उसमें, न जाने कैसा आवेग सा उभर आया। उसने किचकिचाकर बाँहों में भर इतने जोर से कसा मुझे कि मैं कसमसा उठी और उसने तडातड़ चुम्बन जड़ दिये मेरे माथे पर, पलकों पर, कपोलो पर और…। हर चुम्बन के साथ अपनी चिल्लाहट को दबाकर यूँ बुदबुदाई—

"यह हुआ…यह हुआ…यह हुआ…अद्रिके।"

उसके उतुंग उरोजों ने मेरे वक्ष से टकराकर काँटे से खड़े कर दिये। अनजाने ही मैंने भी उसके शरीर को उतने ही जोरसे कस लिया। एक पल को न जाने आँखों में कौन सी छवि उतर आई, मुझे शिवानी के बदन में न जाने कौन दीखने लगा ? न जाने कौन से नशे में पलकें खुद ब खुद झुक गईं ? उसकी गर्म गर्म सांसों को टोहकर अपने अधरों को उसके अधरों पर धर दिया। पर हाय वह चिल्ला पड़ी, शायद अधरों के साथ दाँतों ने भी कोई क्रिया कर दी थी। चिल्लाई वह—

"हाय मार देगी क्या उन्मादिनी ?"

चेत आया मुझे, मैंने उल्टा उलाहना देकर झेंप उतारी—

"मैं या तू ? तूने तो मेरा कचूमर ही निकाल दिया होता ?"

हँस पड़ी भोली शिवानी और लजा भी गई, फुसफुसाई वह—"तूने ही तो बार बार पूछा था"—"क्या ? क्या ?"

अब तक हम कुछ होश में आ चुके थे पर बात का रस खोने को जी नहीं चाह रहा था। बोली मैं—

"पर इससे मेरा क्या सम्बन्ध, इसमें मेरा उपकार क्या ?"

"तेरे ही कारण तो हुआ बहिन !"

कसमसाई मैं, अनजानी पीर उभर आई, कसक से एक आह निकल गई मुँह से। स्वप्न से में बुदबुदाई मैं—

"मेरी ओर तो एक वार भी ऐसे न देखा उन्होंने···?"

"तभी तो कह रही थी अद्रिके! वाहर संयम का मोटा आवरण चढाकर भी पुरुष पुरुप ही होता है।"

"हम स्त्री भी तो स्त्री ही होती है लज्जा के आवरण में शिवानी ?"

"लज्जा का आवरण अत्यन्त झीना होता है वहिन! वहाँ से सव कुछ झांकना रहता है, सव कुछ सामने हो जाता है, कभी कभी तो मन को उजागर करने में वह उल्टा सहायक का कार्य कर देता है। लज्जा कपोलों की लाली वनकर कान के आस पास फूट पड़ती है तो सारी कहानी सहज ही कह देती है। पर ये पुरुष तो कैसा दम्भ करेंगे ? विशेषत: ये संयम का आवरण ओढने वाले कि कुछ दीखने ही नहीं देते, उस पर भी यदि कुछ खुलने लगे तो उल्टा भृकुटियाँ चढाकर जवरदस्ती झुठलाने की कोशिश करेंगे।···यह ढोंग···?"

मैंने शिवानी के ओठों पर हाथ रखकर मुँह बन्द कर दिया। न जाने क्यूँ निष्ठावान् प्रतिव्रता में विद्रोहिणी अतृप्ता का तीव्र आक्रोश जाग उठा था और इस अभिशप्ता अप्सरा में किस निष्ठावान नारी का समर्पण तरला उठा। मेरे मुँह से स्वत: ही फूट गया—

"ना, ना, ऐसा न वोल शिवानी! एक पतिव्रता को···?"

"···पतिव्रता को यह शोभा नहीं देता अद्रिके! क्योंकि पुरुष का वनाया विधान है और पुरुष को शोभा देता है कि वह अनेकानेक वासनाओं को मन में पालकर भी, पतिव्रता पर अपने आदर्श का रौव डालकर, छलावा करता रहे। अद्रिके! बड़े वड़े वे वेदान्ती, जो "एकोऽहं द्वितीयो नास्ति" या "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का उद्घोष करते नहीं थकते, यह भूल जाते हैं कि दूसरों को छलने के प्रयत्न में मनुष्य स्वयं ही छला जाता है। ऋषि ऋत् या ऋजुता से होना है, अनृत, कुटिलता या प्रदर्शन के पाखण्ड से नहीं।"

यह कैसा आक्रोश उभरने लगा था उसमें, मैं भय से सिहरने लगी। ऋषि पत्नी, ऋषि से भी अधिक प्रखर हो उठी थी मेरे सम्मुख। मैं पछताने लगी—मैं किस झोंक में, किस मुँह से, उस पतिव्रता को अपना उपदेश कर वैठी जवकि मेरे स्वयं के अन्दर रात दिन असंख्य विद्रोहिणियाँ भड़कतीं रहती हैं। मुझे ठहरना मुश्किल हो गया···मैं खिसकने का वहाना तलाश करने लगी, वगलें झाँकने लगी। वह वोली—

"घवरा नहीं वहिन! मैं तुझे दोप नहीं देती। नारी तो मैं भी हूं। क्या मैं नहीं जानती कि जो कुछ पुरुष को आकृष्ट कर पतित करता है वह हमारा नहीं अधिकांश में परमात्मा का वनाया हुआ है और पुरुष उसे भोगकर स्वयं तुष्ट भी होता है फिर भी मेरी समझ में नहीं आता कि माया कहकर तिरस्कृत क्यूँ करता है इस

संतोषी शक्ति को······अपनी सारी पूरी करके भी दूसरों पर पहरे बैठाने का उपक्रम रचता ही रहता है······क्या यह अन्याय नहीं है ?···"

मेरा मन शंकालु हो उठा, 'आश्रम की इस सात्विकता में कैसी राजसिकता पल रही है, मेरी दृष्टि में देवराज की स्वच्छन्द भोगवादी संस्कृति मुखर हो उठी। कम से कम कुंठा नहीं पलती वहाँ······तो भी कितना सम्मान करते हैं हम संन्यस्त प्रकृति का। भयरहित हो आश्वस्त होकर मैंने दूसरे के घर को टटोलना शुरू किया—

"तुम्हारे साथ तो ऐसा कुछ नहीं है शिवानी ?"

"है भी और नहीं भी···।"

"अजीब है तेरी बात, कितने विरोधाभासों को पाल रही है तू ?

"मैं ही नहीं अद्रिके ! संसार की प्रत्येक नारी विरोधाभासों में जीने को विवश है। नारी ही क्या श्रेय और प्रेय के बीच झूलता हुआ, महान से महान व्यक्तित्व भी, आदर्श और यथार्थ की पृष्ठ भूमि पर, विरोधाभासों का जीवन जीकर ही उभरता है। मैं अपने पति की एक निष्ठ पतिव्रता नारी हूं उन्होंने भी एक पत्नीव्रत रहकर मात्र मुझमें ही पूर्णनिष्ठ हो भरपूर प्यार दिया है मुझे। मर्यादा और स्वयं का निर्वाह करते हुये मेरे अतिरिक्त किसी अन्य की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा।···किन्तु सौन्दर्य के प्रति उनका सहज आकर्षण समाप्त होगया क्या? उनकी सौन्दर्य चेतना, क्या तुम्हारी कला की पूजा के रूप में उभरकर सामने नहीं आई ? बहुत से आध्यात्मिक पुरुषों ने, आध्यात्मिक प्रेम से पूर्व, लौकिक प्रेम को ही, एकाग्रता का सुनिश्चित आधार बनाया है। शक्ति, शील और सौन्दर्य की उपासना के लिये, कलात्मक मूर्तियों को गढ़गढ़ कर, जड़ पत्थरों तक में सौन्दर्य के प्रतीक, भौतिक अङ्गों को, तराश कर उभारा है। आत्मिक सौन्दर्य को तलाशने के लिये सुन्दरता के भौतिक आयाम तलाश किये हैं। भगवती की मूर्ति में शक्ति की प्राण प्रतिष्ठा करके भीं, सौन्दर्य की सुखद अनुभूति विस्मृति न कर पाये हैं देवी भक्ति शील की अराधना में भी, चरित्र की सौन्दर्योपासना करते हुये, मुख की सौम्यता, नयनों की कल-कंज-मय-अभिरामता, विशालता, दयाद्रता और अधरों की बिम्बमयी मुस्कान को भूल नहीं पाये हैं, परम धार्मिक···तुम्हारे एक एक लास विलास में, मेरे पूज्य पतिदेव ने, जिस अनन्त सौन्दर्य के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की थी उसके पीछे सौन्दर्य के उपभोग की ललक नहीं थी, यह कैसे मान लूँ मानिनी ?"

मैं चकित थी—यह आश्रम की भोली भाली शिवानी है, या किसी सूक्ष्म द्रष्टा कवि की मूर्त्तिमान प्रेरणामयी प्रतिमा ? वह धारा प्रवाह बोलती रही, बीच में टोकना उपयुक्त न लगा मुझे—

"बहिन अद्रिऽ ! सृष्टि की संरचना में, विधाता से, जिस दिन नारी के आकर्षण का जादू भरा था, उस दिन, संभवतः, उसी ने, ब्रह्माण्ड के बिखरे हुये परमाणुओं को

समेट कर, पूर्ण शक्ति के संयोजन की प्रक्रिया ही प्रारम्भ की थी। शक्ति के जिस आधार से छिटककर पुरुष दूर जा पड़ा था, परमात्मा ने उसे उससे जोड़ने का उपक्रम किया था।···किन्तु यह अपने भ्रम से भ्रमित, उससे बिदकता रहा, विरक्ति की भयंकर वीथिकाओं में भटकता रहा। नारी की उदात्त भावनाओं का प्रश्रय पाकर यह पावन हो सकता था, तो भी, पुरुष के कठोर चरित्र का ढोंग रचकर पाषाण ही हो गया यह। कभी उससे दूर भागने की चेष्टा में अरसिक, भावना शून्य खोखला जन्तु बनकर रह गया और कभी उस पर आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्न में, दमन का कुचक्र चला, नृशंस और बलात्कारी वन बैठा।···पर सौन्दर्य की जो पूजा, इसके अन्तर में कुलमुला रही थी, उसे न पहिचान सका, आकर्षण की जो शक्ति इसे अपनी ओर खींच रही थी, उसे तोड़ने के प्रयत्न में, सौ सौ वार स्वयं ही टूटकर रह गया।

अद्रिके ! कभी तूने विचार किया है कि विलासी पुरुष नारी के किन अंगों पर विशेष ध्यान देता है। बोल ! तू तो अप्सरा है, नृत्य के शृंगारिक हाव भाव के साथ, विशेष अंग प्रदर्शन तो करती ही है न ? साफ कहदे ! दो स्त्रियों में लाज की बात ही क्या ?

उत्तर न देना असम्भव था, तत्काल मेरे मुँह से निकला—

"नितम्ब, कुच और उरु···।"

"ठीक कहा तूने ! बच्चा पैदा होता है तो माता के स्तनों को निचौड़ता है, उन कुचों से अपना हाथ अलग नहीं करना चाहता, छाती से चिपट जाने में ही सुख का अनुभव करता है; जिस गोद में संरक्षण पाता है उस गोद से नीचे उतरना नहीं चाहता। नितम्बों पर आसन लगाकर, उरुओं की शैया बनाकर ही तो, उस पर लिटा कर वह उसकी भूख शान्त करती है। शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक नारी पुरुष की हर भूख शान्त करने के प्रयत्न में जुटी रहती है। तृप्त करती है उसे वह, क्योंकि वह तृप्ति चाहता है। जिससे जन्म लेता है जीवन भर उसी में उसका आकर्षण बना रहता है और पतंगे की तरह बार उसी पर मंडराने को ललकता है वह। किन्तु मातृत्व के उत्स की कल्पना जाने कहाँ खो देता है ? तृप्ति प्राप्ति की प्रक्रिया में तरह तरह के साधन अपनाता है तो भी तृप्ति दात्री को माया कहकर ही तिरस्कृत करता है, मातृशक्ति की अवहेलना करता है।···पर उसे ज्ञात नहीं कि वह कहीं भी चला जाय, अन्तरिक्ष के समान फैले उसके विस्तार से वाहर वह कहीं जा ही नहीं सकता। प्रकृति की क्रोड़ ही पुरुष का एक मात्र स्थान है।

पुरुष ने नारी के समर्पण को छलकर मातृ सत्ता के स्थान पर पितृ सत्ता को स्थापित करने का प्रपञ्च रचा किन्तु अपने अहं से स्वयं ही छला गया और इतस्ततः भटकता रहा। नारी उसकी इस मुग्धता पर मन ही मन व्यंग्य से मुस्कराती रही···।"

एकाएक बाहर से महर्षि शक्ति ने आवाज दी—"शिवानीऽऽऽ ! बाहर भी आओगी या नहीं ? क्या सारी पट्टी एक ही दिन में पढ़ा दोगी ? आश्रम में अन्य

अतिथि भी हैं, हमें सबका समान आतिथ्य करना है ।

वात वहीं की वहीं रह गई, मैं भी उसकी प्रखरता से घवरा रही थी, तुरन्त वाहर लौटने का उपक्रम किया । एक क्षण ठिठक दोनों ने एक दूसरे की ओर देखा । आंख मिलते ही खिलखिला कर हँस पड़ी । ठहाके लगाती दोनों बाहर निकल रही थी, निकलते ही वाहर जो देखा, देखते ही हँसी पर विराम लग गया—महाराज उपरिचर, महर्षि शक्ति के साथ, विराजमान थे । मैंने देखा, और देखकर सकते में आ गई । राजा भी हक्के बक्के हो मुझे अनिमेष देख रहे थे । सामान्य अभिवादन भी भूल गई मैं । उपरिचर ने भी, महर्षि शक्ति और शिवानी की उपस्थिति का आभास भुला, मुझसे उत्सुकता से ललककर प्रश्न कर ही लिया—

"आप यहाँ ? धन्य हुये हम आपको देखकर, अरे वाह ! महर्षि का निमंत्रण तो हमारे लिये वरदान हो गया । विमान से, न जाने कितनी वार, नदी नालों पर्वतों और मैदानों के ऊपर घूमते हुये आपको खोजाते रहे हम । देवलोक भी गये किन्तु देवेन्द्र से भी कोई पता न चल सका । किस यात्रा पर थीं आप ? चेदि देश का आतिथ्य आपके आगमन की वाट जोहता ही रहा ।"

मैं महर्षि की ओर देख कर मुस्करा पड़ी, परिहासात्मक रूप में उत्तर आया मेरे मुख से—

"महाजन उपरिचर ! जव किसी की शक्ति किसी से, रूठ जाती है, तो शक्ति हीन शक्ति को प्राप्त करने के लिये, ऋषि मुनियों के आश्रम की ओर ही आते रहे हैं ।"

"किन्तु देवी ! हमें, शक्तिहीन नहीं, शक्तिमान समझकर आमंत्रित किया गया है, यहाँ, आश्रम में ।"

उपरिचर का गर्व मुझे सुहा न सका, तो भी देवराज का मित्र तथा शक्ति का आमंत्रित अतिथि समझ, शिष्टाचार खोना उपयुक्त न समझा मैंने । बलात् अधरों पर स्मित संजोकर बोली—

"शक्ति के विना भी कोई शक्तिमान हो सकता है क्या महाराज ! शक्ति के के इंगित पर शक्तिमान स्वयं खिंचे चले आते हैं······।"

अनायास अट्टहास फूट पडा शक्ति के कण्ठ से, पर महाराज, जाने क्यूँ साथ न दे सके, कुछ खिसिया सा गये । उनका राजत्व विनोद का आनन्द न उठा सका । दर्प सामने होकर गरज पड़ा—

"अप्सरे ! पूछो महर्षि से, किस लिये बुलाया गया है हमें ? यहाँ एक सिंहिनी थी जिसे निरस्त करना इनके वश में न था, वह देखो उधर, हमारे वाणों की चोट से तड़प तड़प कर कैसे प्राण दे चुकी है ?"

"किन्तु यह भी तो देखिये महाराज ! कि प्राण त्याग कर भी आश्रम में वह चिरशान्ति का लाभ प्राप्त कर रहीं है । मुझे तो लगता है उसकी आत्मा, निश्चय ही

इस आश्रम में यहीं कहीं रम गई है।...अब आपके हाथ क्या लगेगा देव! केवल उसका चमड़ा, उसकी खाल? उसकी महर्षि को सम्भवतः कोई आवश्यकता नहीं? आप उसे जीवित बाँधते तो आपकी शक्ति के आकर्षण को मानती मैं?"

तिलमिला गये उपरिचर—

"यह तो महर्षि शक्ति भी न कर पाये अद्रिक।"

"हो सकता है, महर्षि की इच्छा ही न रही हो उसकी हिंसक वृत्ति को ध्यान में कर?

"फिर संत्रस्त क्यों रहे...?"

"इसलिये कि, स्वयं में सन्तुष्ट रहते हैं महर्षि! और वह इनकी शान्ति में बाधक रही होगी?"

"बाधा को शक्तिमान ही हटा सकता है न?"

"नहीं, शक्ति ने एक शरीर को शक्तिमान बना, अनाशक्ति की शक्ति से समस्या का निराकरण कर लिया। जो जिसका प्राप्य था वह उसको दिलवा दिया। किसी को चमड़ा किसी को आत्मा। उन्होंने स्वयं की शान्ति को तो सुरक्षित कर ही लिया इस अन्तिम प्रणय वेला में। महाराज उपरिचर! आप तो मात्र, एक ब्राह्मण की बुद्धि के खिलौने बनकर रह गये।"

न जाने विवाद कहाँ तक बढ़ता, महर्षि ने बीच में पड़ इसे शान्त किया—

"अद्रिके! मैंने हिंसक पशु से आश्रम की रक्षा करने के लिये महाराज उपरिचर को सादर बुलवा भेजा था। राजर्षि उपरिचर ने हम पर तुरन्त कृपा की और अपने क्षत्रिय धर्म का निर्वाह किया। सन्देशवाहक ब्रह्मचारी ने मुझे बतलाया था कि जब वह उन्हें बुलाने पहुंचा तो महाराज विलासग्रह में थे धर्म रक्षा हेतु इनके तुरन्त चल देने पर महारानी सतृष्ण दृष्टि से इन्हें देखती रही थीं। मिथुनों के बीच व्याघात डाल हमसे अपराध ही हुआ है शायद।

अद्रिके! जिसका जो धर्म होता है, वह उसे ही शोभा देता है। ब्राह्मण शस्त्र की शिक्षा देता तो है पर चलाता नहीं, हमारी साधना को पूर्ण कराने में महाराज शक्विान सिद्ध हुये हैं।"

उपरिचर गर्व में तन कर दुगुने हो गये। राजसत्ता अहंकार के मद में झूम उठी। उन्होंने मुझ पर सतृष्ण सप्रश्न दृष्टि गडादी जैसे पूछ रहे हों, "बोलो अब क्या कहती हो?"

मैंने शक्ति के संकेत को समझ मौन धारण कर लिया था, तो भी मेरा मन आश्वस्त नहीं था। न ही मैं यह मान सकी कि इस प्रकार का व्यक्ति रंगमहल की विलास क्रीड़ा को छोड़कर वनकान्तार की यिभीषकाओं से जूझने के लिये निकल पड़ेगा। मेरे विचार में या तो उसका मन कहीं और अटका होगा या स्वपत्नी के

संभोग से विरस हो रहा होगा। मैंने परीक्षाकर ऋषि पर प्रकट कर देना चाहा—तुरन्त एक अपाङ्ग दिया, दृष्टि मिलते ही उस शक्तिमान का सम्पूर्ण संयम मोम की तरह पिघलने लगा, वाहुबल का दर्प स्फुरण बनकर कंपकंपाने लगा। जीभ की लपलपाहट में प्रकृत पशु का ज्वार उभरने लगा।

ऋषि ने परिस्थिति की नाड़ी को पहिचान कर उपसमता के प्रदर्शन किये, किन्तु शिवानी से मेरी दृष्टि मिली तो सब कुछ समझकर खिलखिलाहट फूट ही पड़ी। दोनों ने एक साथ ही प्रणाम की मुद्रा में कहा—

"अच्छा महाराज! देवसखा उपरिचर को हमारा विनत नमस्कार। अभिवादन स्वीकार कर नृप श्रेष्ठ अबला की हार पर विजय के गर्व का आनन्द उठायें।"

बुरी तरह झेंप गये उपरिचर। ठहाका लगाकर ऋषि ने बात कर बहलाया।

"...पर वैरवरी की शक्ति से जब अबला सबला बन बैठे तो बड़े बड़े वाग्भटों के छक्के छूट जाते हैं। अद्रिके! जिह्वा का एक ही रस तो दूसरा भी ग्रहण करलें, भोजन का रस भी शक्ति प्राप्त कराने में सहायक होता न?"

एक चुभन सी फिर हुई मन में। अन्तिम शब्दों में मन के इष्ट को तलाशती, बन्धी डोर से खिची पतंग सी पीछे चल दी—"जाने कब प्राप्त होगा यह शक्ति? चंचल मन मुझे ही उड़ाये फिर रहा है, जाने कौन सी शक्ति है जो कुछ न देकर भी अपना पक्ष लेने पर विवश कर देती है, एक अप्सरा को उपरिचर से टकराने पर विवश कर देती है।

भोजन के बाद...सन्ध्या के अन्त पर आज की ही तरह—जबकि जलथल आकाश और समस्त अन्तरिक्ष चन्द्रमा की चंचल किरणें आलोक के खेल रच रही थीं मुक्त चन्द्रिका के उन्मुक्त हास में मुक्त पवन के झोंके रजनीगन्धा के कुंजों को महकाकर तन मन को विनिर्मुक्त कर रहे थे। अपने स्वभाव के अनुकूल मैं भी मुक्त विचरण के लिये निकल पड़ी और अजानी सी दूर बहुत दूर नदिया के कछार में पड़ी ठण्डी रेत पर तैरती परी की तरह सँ सँ करती यमुना के मदमाते प्रवाह तक जा पहुंचीं और धार में उछलती कूदती, लहरों से खेलती चमचमाती मछलियों के खेल को देखकर आनन्दी लहरों में डूबने उतराने लगी। दूर बहुत दूर पालों के पर फैलाये उन्मुक्त हंसिनी सी एक नौका जल की अतल राशि पर तैरती हुई इधर ही आ रही थी। लहरों से इठलाते खेलते चंचल चान्द के प्रतिबिम्ब में न जाने कौन समा गया था कि पुष्प धन्वा के अगणित कुसुम वाणो की भाँति चंचल किरण मेरे कोमल मन में भरता हुआ मौन निमंत्रण देकर अनजान दिशा में खीचने लगा। तन मन में कंटकाकीर्ण पागल स्फुरणों के साथ अनायास ही मन की हूक कूकने लगी। मन के आश्रम में बैठा चिर परिचित प्रियतम बाहर भीतर मादक वंशी की धुन पर जाने पहिचाने विरह के गीत उभार रहा था। जल के बहुत निकट चाँदनी से तपते रेत पर पड़ी विरहाकुल

मछरिया सी तड़प उठी मैं। शीतल चाँदनी ने तनवदन में आग सी लगाना शुरू कर दिया। गहरी अंगडाइयों से वदन टूटने लगा। किसी विषम ज्वर के ताप से शरीर झुरझुराने लगा। सह न सकी, और तो क्या, तन पर चोली भी असह्य सी हों गई जलती जलती चांदनी से बचने की जैसे एक ही राह दिखलाई पड़ी, मैं निर्वस्त्र हो नदी के अतल जल में छल्लाने लगा बैठी। शीतल जल के स्पर्श ने जीवनदान सा किया। मन कुछ स्थिर हुआ और मैं मछली की तरह तैर तैर कर जल विहार करने लगी। पता न चल सका हंसिनी सी वह नाव, कब मेरे पास आकर तैरने लगी या मैं ही अनायास उसके पास पहुंच गई थी। शायद बहुत थक गई थी और किनारे से दूर होने के कारण लौटना भी असंभव हो गया था, आनन्द इतना था कि मन चाह रहा था आँख मूंद कर जल की शैया पर ही सो लिया जाय। सचमुच मैंने आँख वन्द कर हाथ पाँव ढीले छोड़ दिये। पर तभी न जाने एक झपट्टे के साथ किन कठोर वाहुओं ने पकड़कर ऊपर खींचा लिया था। वहुत देर की जलक्रीडा ने सारा शरीर शीतल कर दिया था अथवा अप्रत्याशित भय से कांप कर शिथिल हो गई थीं कह नहीं सकती। बहुत निढाल हो चुकी थी मैं पर तभी किसी ने स्नेह से अपनी वलिष्ठ भुजाओं के आलिंगन में भर मेरे मुँह मे किसी तीव्र गन्धा मादक मदिरा का चषक सा लगा दिया। अजाने ही उसका सब कुछ गटक लिया मैंने। उसने एक के वाद एक प्याले मुँह से लगाने शुरू किये। उसकी गर्म गर्म सांसे मुझे जगाने की कोशिश सी करती पर मैं निढाल होकर उसी की बाँहों में समाती जा रही थी मुझे बाँहों में भरने वाले का वदन तप सा रहा था पर वह स्पर्श उस समय मुझे वड़ा सुखद लग रहा था मैं उससे चिपटती चली गई। उसकी सांसे तीव्र होती चली गई, मुझे केवल छाती की धड़कन सुनाई पड़ रही थी, जो लगातार मेरे कोमल वक्ष पर थपथपा रही थी। कव कैसे क्यूं हौले हौले मैं किस मादक खुमार में डूव गई कुछ चेत न रहा मुझे। तन्द्रा की अवस्था में इतना आभास ही मिलता रहा कि तन की किसी गहनगुहा में अमृतधारा से टूट टूट कर टप टप आनन्द की अनगिन बूंदे टपक रही हैं।

"रात भर क्या हुआ मुझे क्या पता ?" नारी सुलभ चेष्टा से मन ही मन शरमा गई अद्रिका। देखने वालों को तो कर्ण कपोलों के पास फूटती लाली से ही अनुमान होता पर वहाँ कौन था दर्शक। वह देखने, सुनने और कहने वाली वहाँ स्वयं ही थी। मन की बातें मन से यूँ हीं हुआ करती है। वह स्मृति के धुंधलके मैं टटोलने लगी।

सवेरे चिड़ियों की चहचहाट पर आँखे खुली तो सूर्य की प्रखर किरणों से चुंधिया मिचमिचा गई अलसाई अखियाँ। आँखो में कुछ जलन सी भी थी। उठने की चेष्टा पर सारा शरीर टूटता सा लगा। उठ न पाई। एक एक पोर दर्द से टीस रहा था। लग रहा था जैसे योजनों की यात्रा की हो। गर्दन ऊपर उठा शरीर पर

दृष्टि डाली तो सकते में आ गई मैं, हाय राम बिल्कुल नंगी ? पता नहीं, किसने एक मूल्यवान उत्तरीय से ढंक रखा था मेरा नंगा बदन इस स्थिति से मैं विचलित होकरएक दम उठ बैठी। वस्त्र को पहिचानने का प्रयत्न किया, जाना पहिचाना सा लगा उत्तरीय। अनुमान निश्चय में बदल गया। महाराज उपरिचर के शरीर पर देखा था मैंने इसे, मेरे शरीर पर कैसे आ गया। रात की एक एक घटना अनुमानित कथा की कड़ियाँ बन कर उभरने लगी। मुझे समझने में अब देर न लगी—क्या हो चुका था। अधोभाग दर्द से चीस उठा।

ज्यूँ त्यूँ शक्ति संजो मैंने खड़े होने का प्रयास किया, गिरी और सम्भली। उत्तरीय से झड़कर कितने रत्नमाणिक और आभूषण गिर पड़े। मैं चकित थी, इस नाव में कहाँ से आ गया यह ? उपरिचर का ऐश्वर्य मेरे रूप की भेंट बन कर समर्पित हो गया था।

मछली की शक्ल की वह नाव, किनारे से बंधी थी, जिसमें मखमली गलीचे बिछे थे जिन पर पड़े हुये, असंख्य मसले, कुचले फूल, रात्री के अभिसार की कथा कह रहे थे। गन्ध उड़ चुकी थी मसली हुई कली शेष थी।

मैं किनारे की ओर देखने लगी—देखा एक हट्टा कट्टा मछियारा वीरोचित मुद्रा में सामने खड़ा था। एक भी आभूषण को छुये बिना नाव को उसी स्थिति में छोड़, मैंने किसी प्रकार, स्वयं को संयत किया और उससे नीचे उतरी घुटनों तक जल से किनारे पर आने का प्रयत्न करने लगी पर सम्भाल न पाई, गिर पड़ी थी जल में। नाव का एक किनारा हाथ आ गया था उसी से लटक कर प्रवाह से बची। सामने खड़े मल्लाह ने दौड़कर पानी में छल्लांग लगादी और सहारा देकर किनारे पर ले आया मुझे। विस्मित सी देख रही थी, उसे, मैं···वह बोला—

"मुझे गलत न समझें मैं वह नहीं हूं···मैं मांझी हूं लुटेरा नही, नाव पार लगाता हूं लूटकर डुवाता नहीं, रानी जी !"

"मैं कोई रानी वानी नहीं हूं···।"

"जानता हूं, पर किसी राजा की अंकशायिनी···?"

"तुम अभी किसी लुटेरे की बात कर रहे थे न···"

"अगर कोई किसी की इज्जत लूटे, तो उसे लुटेरा न कहकर और क्या कहेंगे ?"

"फिर राजा···रानी···?"

"गुंडो की कोई विशेष जाति धर्म सम्प्रदाय अथवा पद नहीं हुआ करता, कुलीन से कुलीन वंशों में भी ये तत्व मिलते हैं। क्या राजा लुटेरा नहीं हो सकता ? क्या ऊंचे कुलों में जन्म लेने वालों का अपराध अपराध नहीं होता। समर्थ को दोष नहीं लगना चाहिये क्या ? यदि यही सब मेरे द्वारा हुआ होता, तो क्या आप मुझे, श्रीमान समझती ?

श्रीमान तो, यह न होने पर भी न समझा जाता शायद ।"

"यही तो विडम्बना है इस अपने समाज की।···पर इसका कारण मेरे गुण-अवगुण नहीं है। वह जो नाव में पड़ा चमचमा रहा है, वही है। सर्वेंगुणा काञ्चन माश्रयन्ति–सारे गुण खा गया है स्वर्ण का दानव। निर्धन के गुण भी विवशता के पाले में झुलस जाते हैं, उस पर यदि अकुलीनता की मुहर लग जाय तो कुलीन समाज की दृष्टि में, मात्र वे अपराध ही होते हैं, मात्र अपराध···।···यहाँ तक कि धर्म के लिये ही अवतार ग्रहण करने वाले कृपानिधान राम भी शम्बूक की तपस्या को बर्दाश्त नहीं कर पाते।"

"सब कुछ वही नहीं होता अजनबी!···तुम उस धन की बात कर रहे हो, उससे कहीं ज्यादह लुटा देने की क्षमता है मुझमें।···मैं तुम्हें दे सकती हूं···तो भी लोग मुझे श्रीमती नहीं मानते···।"

"क्यूँ···?"

"क्यूँ कि यही मेरी नियति है···।"

विस्मय से काँप उठा वह, कुछ घृणा उभर आई उसके सिकुडते ओठों पर।

"···फिर यह सब आपकी इच्छा से ही हुआ है? श्रीमति!···क्षमा करना, मैं पराई आग में बेकार ही कूद पड़ा।···अच्छा मैं चला···।"

मल्लाह वितृष्णा में मुँह विचका, मुझे यूँही छोड लौट पड़ा। मैंने आवाज देकर रोका।

"ठहरो! तुम, किस काम को पराई आग में कूदना कह रहे हो···?"

"यह बतलाने की नहीं समझने की बात है···खैर छोडिये···जब राजा रानी डूबने को हों राजी तो क्या करेगा कोई माँझी।"

"सुनो! न मैं कोई रानी हूं और न किसी राजा के साथ डूबने को राज़ी, मांझी! तुम अपनी कहो, इतने सारे पानी के रहते कौन सी आग में कूद पड़े तुम?"

"दिल्लगी मुझसे कर रही हो या खुद से···? आग पानी में नहीं, आपके शरीर में लगी है महिषी, क्या उसकी झुलस आपको महसूस नहीं हो रही?

सचाई मेरे बहुत निकट खड़ी थी फिर भी क्यूँ मैं उसे झुठलाने का प्रयत्न कर रही थी? पता नहीं क्यूँ भ्रमों में जीने की आदत पड़ गई थी?" ऐश्वर्य की मादकता और रूप के खुमार ने, सदा ही मेरे अस्तित्व के गलत अर्थ लगाये, मैं यथार्थ से उड़कर कल्पना में विहरती रही, देवराज से लेकर उपरिचर तक और तो और ऋत् और सत्य के पुजारी, महर्षि भी, मुझे खिलौना बनाकर खेलते रहे। अबोध नारी की यही नियति है क्या? यथार्थ की चोट खाते ही फफक उठी मैं—

"हाँ मैं जल रही हूं···सिर से लेकर पैर तक···तन से मन से और बिलखती आत्मा से···पर इस अगन में तुम मेरा साथ, कब कहाँ, कैसे दे रहे हो?

"···यह युगों का इतिहास है नारी! मात्र एक दिन की कहानी नहीं। समाज

की तथाकथित महान् आत्माओं ने शूद्र और नारी की एक सी गति की है, गंवार कहकर दुत्कारा है, पशु कहकर दण्डित किया है, और ढोल की तरह बजा बजा कर अपने आमोद के साधन जुटाये हैं तो भी मन चाही तर्जों पर धर्म के अजाने गीत गाये हैं। हमें तरसा तरसा, तडपा तडपा कर, मन चाहे क्रूर मनोरंजन में, खुशी के ठहाके लगाये हैं। जब जी चाहा कुचल दिया और जब जी चाहा बाजार में उतार दिया दास और देवियों को, निर्जीव प्रतिमाओं की तरह। उनके अंग भंग कर जब जी चाहा अनचाहा उपहार दे दिया और जब जी चाहा सिर धड़ से उतार दिया हमारे गुण, हमारी प्रतिभा, हमारी सेवा, कृत उपकार और समर्पण कृतज्ञता के विषय नहीं उनके लिये, हमारी विवशताएँ हैं जिनका डटकर लाभ उठाते हैं वे। इन श्रीमंतों ने एक सा व्यवहार किया है दोनों के साथ—और मैंने···छोड़ो···मैं तुम्हें कुछ और समझा था···।"

"छोड़ कैसे दे, मानव ! तुम बात तो इतनी आत्मीयता से कर रहे हो जैसे तुम्हारा हमारा युगों का रिश्ता हो और करवटें ऐसे बदल रहे हो जैसे खुद से ही घबरा रहे हो···तुमने अपना परिचय नहीं दिया अब तक ?"

"वह तो मैं पहिले ही स्पष्ट कर चुका हूं···मानवी !"

"कहाँ···? अभी तक तो मैं इतना ही जान सकी हूं कि तुम निश्चित रूप से कोई अकिंचन हो, सर्वहारा वर्ग से सम्बन्ध है तुम्हारा और विभूतिवान, ऐश्वर्य युक्त सत्ता सम्पन्न श्रीमंतों से द्वेष रखते हो। कुलीन अकुलीन की बात में तो···क्षमा करना··· तुम्हारी हीन भावना ही प्रकट हुई है···हो सकता है तुम्हारा सम्बन्ध अकुलीन वर्ग से ही हो···अकारण ही महात्माओं और ब्राह्मणों को गालियाँ देकर यूँ लगता है जैसे विद्रोहिणी आत्मा ने सत्यासत्य का विवेक भी छीन लिया है तुम से···अन्यथा उनके पास कौन सा ऐश्वर्य रखा है जिससे इतने जल रहे हो तुम !···निश्चय ही तुम्हारा अक्रोश क्रान्ति का उद्घोष कर रहा है किन्तु किसी अजाने विद्रोह या विप्लव की गंध भी निकल रही है उससे, उसी में राजनीतिक विद्वेष का स्वर भी मुखर हो उठा है। मुझे संशय होने लगता है कि तुम अपनी राजनैतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये ही, समाज के विशेष वर्ग को तोड़ने के लिये. नारी जाति के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन कर रहे हो। तुम मुझे किसी शतरंज का मोहरा तो नहीं बना रहे ? तुम्हारे द्वारा बार बार बिगड़कर, लौटने में, मेरे प्रति करुणा कम, तुम्हारे उद्धत बल का का अभिमान अधिक प्रखर है तुम्हारे आक्रोश में धौंस ज्यादह दीख रही है।"

मेरी पैनी दृष्टि को मल्लाह सह न पाया, गिडगिडाने सा लगा, कुछ नम्र होकर बोला—

"ऐसी बात नहीं महारानी जी···बात ही कुछ ऐसी थी कि मुझे लगा···।"

"आगये न अपनी औकात पर, कहाँ लुप्त हो गया तुम्हारा आक्रोश, वह

पराक्रम…? यही तो वह कारण है कि तुम लोगों का उत्थान कभी नहीं हो पाता। …पीछे जितना बढ़ चढ़ कर बोलते हो, सामने उतना ही घिघियाते हो। मृत्यु के भय से तुरन्त तुम्हारे संकल्प काँपने लगते हैं…भय के साथ यदि लोभ भी आ जुड़े, तो, तुम, दूसरों से तो क्या स्वयं से भी विश्वासघात कर बैठो…सहज ही अपनों का गला काट लो…अपनी गर्दन फँसा दो……शूद्र! तुम नारी से अपनी तुलना करते हुये शरमाते क्यों नहीं? नारी समर्पण की मूर्ति है, शक्ति का उद्घोष है, यदि वह जग जाये तो शंकर उसके इंगित पर तांडव करते हैं, महाप्रलय का शंख निनादित हो उठता है। नारी ने भी मृत्यु से भय माना है क्या? न जाने कितनी बार सावित्री बनकर वह यमराज से टकराई है। महाकाल को अंक से चिपटाकर अट्टहास करती है नारी, अरे मल्लाह! राजवंशों की महान अट्टालिकाएँ काँपने लगती हैं उसके भ्रूभङ्ग से, राजमुकुट उसके चरणों पर गिरने लगते हैं, जलधि की उत्तुङ्ग लहरें उसके मानस की किल्लोल से बिलबिला कर मचल उठती हैं, गिरि शृंग भड़भड़ा कर झुरझुरा पड़ते हैं उसके निश्वासों की आंधी में, विशाल नदियों में बाढ़ आ जाती है उसके करुणार्द्र आँसुओं से।……धरती अपनी मर्जी से बहुत कुछ सहती है रे मांझी! जब ज़रा वह करवट बदलती है तो भूचाल हीं नहीं आते ज्वालामुखी लावा उगलने लगते हैं।… अपरिचित प्राणी! यह न भूलो कि तुम भी एक पुरुष हो और पुरुष होकर तुम वन्य पशुओं की तरह लार न टपकाओ यह मैं तुम्हारी चिकनी चुपड़ी बातों में आकर मान लूँगी, यह कैसे मान लिया तुमने? तुम सोचते हो एक ने मेरी अचेतन अवस्था का लाभ उठाकर मुझे लूट लिया और दूसरा किंचित स्नेह का प्रदर्शन कर सहज ही जागृत में ही मुझे ठग लेगा?

."आप मुझे गलत समझ रही हैं देवी! मैं आपको ठगने नहीं सहायता पहुंचाने के लिए प्रस्तुत हुआ था।" "झूठ बोलते हो तुम! अपनी सहायता तो कर नहीं कर सकते, मेरी क्या करोगे? सवर्णों से प्रताडित और पीड़ित होने की जो गाथा तुमने गाई उसके प्रतिकार में स्वयं भी कोई उद्योग कर सके हो क्या आज तक?

उसके उत्तर की आशा में विराम दिया मैंने अपनी बात को और मन ही मन सोचने लगी—"उपरिचर ने जो कुछ किया उसका प्रतिफल तो कुछ होना ही चाहिये, उसने नारी की कोमलता देखी, प्रतिहिंसा नहीं ललित कला के तो दर्शन किये, बढ़ते हुये आवेग के नहीं। मैं उसे तो क्या, आज शक्ति को भी दिखला देना चाहती हूं कि अबला बैंखरी वाणी से नहीं प्रज्ञा और बुद्धि से भी सबल होती है, प्रज्ञा मुझमें शक्ति से कम नहीं और बुद्धि उपरिचर से।

मैं अपने सहायक को पूरी तरह तौल लेना चाहती थी, देखना था कितने कदम साथ दे सकता है? इससे पहिले कि वह उत्तर देता एक बार फिर मैंने उसके गर्व पर प्रहार किया—

"बोलते क्यों नहीं ? है कोई योजना तुम्हारे पास ?"

"यह राजनीति है ! गुप्त तथ्य प्रकाशित नहीं किये जाते ।"

"तभी तो कहा था मैंने कि तुम मुझे अपनी राजनीति का मोहरा नहीं बना सकते ।"

निरस्त हुआ था मल्लाह, या जानबूझ कर मौन हो गया था अथवा वह भी अपने सामने वाले को तौलने का प्रयत्न कर रहा था, कुछ कहा नहीं जा सकता । हकलाते हुये से बोला—

"यह बात नहीं महर्षि ! जब तक एक दूसरे को जान न लें, परस्पर मित्रता के बन्धन में न बंध जायँ हमारे लक्ष्य समान होकर शपथ पूर्वक एक बिन्दु पर न आ टिकें, भेद कैसे दिया जा सकता है ?"

"मैं भी तो यही कह रही थी अपरिचित ! तुम्हारा इतना ही परिचय तो पर्याप्त नहीं कि तुम एक मल्लाह हो ? तुम्हें यह तो बतलाना ही चाहिये कि कौन सी आग तुम्हारे अन्दर जल कर मेरी पीडा को छूने लगी है ? मेरी पीड़ा की घृताहुति उसे प्रज्ज्वलित करेगी स्त्री और शूद्र के उत्पीडन के विषय बनाकर मात्र भाषण झाड़ देने से तो बात नहीं बन जाती ? किसी न किसी ठोस आधार को बीच में खड़ा ही होना चाहिये, जिसके सहारे धर्मयुद्ध का महल खड़ा हो । अकारण-करुणा-वरुणालय-दीन-दलित बन्धु ! क्या ऐसे असवर्ण नहीं, जो नारियों पर इतना अत्याचार करते हों जितना कोई भी सवर्ण नहीं करता और क्या ऐसे सवर्ण नहीं जो नारियों की पूजा किया करते हों । पुरुष तो पुरुष, मैं तो ऐसी स्त्रियाँ भी जानती हूं जिन्होंने नारी होकर भी नारी को ही उत्पीडित और तिरस्कृत किया । देवयानी और शर्मिष्ठा की आपसी कलह ही किसी विलासी के आमोद का साधन बन गई ।···दयानिधे ! न हर नारी पीडित है और न हर शूद्र शोषित । असंख्य नारियाँ राजरानियों की भांति सुखों का भोग कर रही हैं और अनेक शूद्र ऐश्वर्य के स्वामी होकर सत्ता का उपभोग कर रहे हैं । पीड़ित, उत्पीडित या शोषित केवल वे हैं जो अंकिचन और सर्वहारा हैं साधनहीन हैं वह शूद्र, ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य कोई भी हो सकता है, कुलीनता और अकुलीनता से भी यहाँ अन्तर नहीं पड़ता । चाहे कोई गुणी है या अवगुणी धार्मिक या अधार्मिक, आस्तिक या नास्तिक कुछ भी है, यदि शक्तिहीन निर्धन और निर्बल है. तो वह उत्पीड़न का शिकार होगा । शक्तिहीन सदैव संत्रस्त रहा है और शक्तिमान त्रस्तकर्त्ता ।··· पर फिर भी मैंने यह देखा और अनुभव किया है—जिनके पास वृत्तबल है आदर्श का व्यवहार है, तपस्या और त्याग की आधार भूमि है वे शक्ति का दुरुपयोग नहीं करते, और न ही प्रतिहिंसा को पालते और निरपराधों के कण्ठ भी नहीं काटते, दुराग्रहों के भ्रम पालकर निर्दोषों की बलि नहीं दे देते ।

यदि ऐसा होता रहा तो यह दलित और दमनकारियों का नाटक कभी भी

खत्म न होगा । अवर्ण-सवर्ण का द्वन्द्व प्रलय तक भी समाप्त न हो पायेगा । लोभ और स्वार्थ की भौतिक भूमि में समता, शान्ति और न्याय के बीज कैसे पनपेंगे पूर्वाग्रही ?··· तुम वर्ग भेद और वर्ण भेद की बातें तो करते हो, धर्म या अधर्म की नहीं ? आर्थिक न्याय की मांग पर धर्म की मोहर क्यों नहीं लगाते तुम ? अधर्म के नाश की बात करो दुराग्रही ! प्राणी जगत के नाश की नहीं ।

"किस धर्म की बात कर रही मायेश्वरी ! उसी की न, जिसकी आड़ लेकर व्यवस्था हमें सदैव ठगती रही है ?"

"नहीं वह धर्म नहीं, रूढ़ियों का जाल है रे नाविक ! मैं शाश्वत् धर्म की चर्चा करती हूं । धर्म विवशता की चक्की में नहीं पीसता, प्राणों का उल्लास बनकर उभरता है, जिसे मनुष्य सर्वस्व स्वाह करके भी स्वीकार करता है । वह प्रेय है या श्रेय ?"

"कहीं सुन लिये हैं ये शब्द तुमने शायद ? मुझे तुम्हारी शिक्षा में सन्देह है, बहस करने की इच्छा है, पहिले स्वयं को तोल लो, कुछ शिक्षा पालो । किसी का शिष्यत्व गृहण करो, पर शिष्यत्व की शर्त पूर्ण समर्पण है, चाहो तो स्वयं को समर्पित कर कुछ पा सकते हो मुझसे···?"

मैं तो हँस पड़ी पर वह न हँस सका—गम्भीर होकर बोला—

"यह मेरी बात का उत्तर नहीं हुआ ? तुम तो मेरे जबाड़े में अपनी लगाम फंसाने की तैयारी कर रही हो ?"

"डर लगता है ? तब रहने दो···।"

"डरा नहीं करते, जिन्हें तूफानों से टकराने की आदत हो ।"

"···तो अहंकार पर टक्कर लग गई होगी ? पुरुष का दर्प लेकर तुम भी कैसे नारी के नेतृत्व को स्वीकार सकोगे ? नारी और शूद्र की एकता का मंत्र पाठ करने वाले इसकी बड़ी कठिन है ?"

"यह नहीं······।"

"यह नहीं या वह नहीं यह कहते चले जाओगे या कुछ समझ भी पाओगे ? हवा में तीर क्यों छोड़ रहे हो ? व्यर्थ लहरों के थपेड़े खा खा कर भटकने से दिशा नहीं मिलती मल्लाह! नाव को किनारे पर लाने का प्रयत्न करो···।"

मैं खिलखिला पड़ी, पर वह खिसिया गया । मैंने उसे सन्तोष देने के लिये वाणी का संकेत किया—

"इस वक्त तो यही समझ लो कि श्रेय आपस में टकराते नहीं और प्रेय कभी टकराये बिना रहते नहीं······। जब तक पुरुष नारी को श्रद्धा की दृष्टि से न देखेगा, तब तक वह स्वयं भी विश्वासी कैसे बन जायेगा । श्रद्धा और विश्वास के सम्मिलन में ही संकल्प शिवत्व से पूर्ण होता है अन्यथा सुन्दर विलासी हो जायेगा और सत्य क्रूर ···छोड़ो, इस समय······बाकी फिर······मैंने कहा न······सब शिक्षा की बात है

आदर्श को आधार बना उत्साह संजोओ माझी ! अन्यथा क्रोध स्वयं ही तुम्हारे लिये भस्मासुर का काम करेगा···।···अच्छा भूख लगी है मुझे अब। और मैं थोड़ा विश्राम भी चाहती हूं···नहा धोकर कुछ पहिन लूँ···तुम ला सको तो जाके कहीं से कुछ ले आओ···नाव से जितना चाहो उठालो···मार्ग में सोचते चले जाना···आने पर तुम्हें दीक्षित करूँगी···।"

मल्लाह को निरस्त देख मेरा उत्साह ही नहीं बढ़ गया था, आश्वस्त भी हो गई थी मैं। मंत्रमुग्ध पशु की भांति मेरे आदेश का पालन किया पर यह क्या···? नाव की ओर बढ़ा था तो दूसरे ही पल उल्टा क्यों हट आया, बिना कुछ उठाये ? खाली हाथ ? वह चला गया। विचार करने पर सान्त्वना सी मिली मुझे—

"कुछ तो पानी है मर्द के बच्चे में, देखूँ, या कब तक लौटेगा ?···लौटे तो भी ठीक, न लौटे तो भी ठीक, मुझे तो अपना लक्ष्य पाना ही है···।

कुछ देर बाद लौटा, तो मैं, कपड़े ठीक कर स्वस्थ हो चुकी थी। भोजन भी रुचिकर लाया था वह, शक्ति और स्फूर्त्ति का अनुभव किया, पर मल्लाह में कुछ परिवर्तन देख मैं आशंकिता हो उठी। उसकी आँखे चढ़ी थी, अंगारे सी दहक रही थी, शरीर के साथ जुबान भी लड़खड़ा रही थी, मुँह से मदिरा की तीखी गन्ध की भभकार बाहर आ रही थी···विस्मित सी, मैंने उसे देखा-बोला—

"क्षमा करना देवी ! इसके बिना मैं रह नहीं सकता,···कुछ हल्का पड़ने लगता था तुम्हारी बातों से···मैं, झटके खा गया था, थोड़ा गर्म हो आया। अब पूरा चहक पड़ा हूं···देखना · अब ढीला नहीं ··· उससे ज्यादह तना हुआ पाओगी तुम हमें···।

ऐसे घूरा उसने मुझे जैसे सारी की सारी एक साथ ही निगल जायेगा। कुछ घबरा गयी थी, पर साहस सुरक्षित था मेरा और उसकी आँखों में आँखे डालकर उतनी ही तीक्ष्णता से घूरा ··· चित्त हो गया, पहली ही दृष्टि में, झेंप गया, आँखे मिचियाने लगा।

नारी लाज से पलकें झुकाकर जब पुरुष से दृष्टि मिलाने में कतराती है तो पुरुष का हौसला दूना हो जाता है, किन्तु उससे आँखे मिला सामने खड़ी होकर जब वह दृष्टि की टक्कर देकर, पीछे धकेल देती है, तो उसका सारा पुरुषत्व, भरभरा कर ढह जाता है, सारा नशा रफूचक्कर हो जाता है, कतरा कर बगले झांकने लगता है और अगर नारी उसे सहकर, एक बार जोश के साथ, ओठों को सिकोड़ कर, वाणी में अतृप्ति का भाव लाकर जरा सी घृणा से, प्रश्नात्मक रूप में इतना कह दे—"बस ?" फिर तो उसे डूब मरने को चुल्लु भर पानी तलाश करना पडता है, पौरुष का प्रदर्शन तो क्या, जीवन भर आँख मिलाने की हिम्मत न कर सकेगा बेचारा। नारी की 'लाज' और आर्त्त सीत्कार की "सीऽऽ" ही उसमें पुरुषत्व का दम्भ भरती है।··· मुझे उससे काम लेना था, मैंने लाज का अभिनय कर अपांग दिया उसे, कुछ सिहर कर अर्द्ध नग्न शरीर

की हल्की सी झलक दिखलाई तो मचल उठा वह मद्यप आँखों में, कामुक आमंत्रण पा, वह दो पग आगे बढ़ा, मैंने रोक दिया • • •

"अभी नहीं माँझी !" तुम यदि रहस्य बने रहना चाहते हो, तो, मैं भी इतनी जल्दी समर्पण नही बन सकती, जबकि मैं यह भी जान चुकी हूं कि तुम अधिक देर रहस्य न बने रह सकोगे ।"

"रहस्य पुरुष नहीं नारी होती है कूटभाव कुशले !"

"पर तुम तो उल्टी गंगा पहाड़ चढ़ा रहे हो न ?"

"गंगा नहीं तुमको, • • • तुमको पहाड़ चढ़ा रहा हूं•••सिर पर बैठा रहा हूं अपने • • • ।"

शायद झोंक शुरू हो गई, अब अपनी भाषा से क्या होना था ?•••खग की भाषा में बात करना ठीक था, कुछ कटाक्षों का प्रयोग भी आवश्यक हो गया था ।

"मुझे क्या चढ़ायेगा रे तू ! अपने आप तो गहरे पानी पैठा हुआ है" मैंने भी मद्यप की तरह अभिनय किया—

"••••••रहा न कोरा धींवर ही ? अरे बुद्धु मैं रहस्य के जल की बात कर रही हूं•••।"

"हाँ हाँ ऽ ऽ ऽ ठी ऽ ऽ क ठीक•••मैं फिर •••हि•••च्क्•••फिर कहाँ खड़ा होऊँ मैं•••।"

"ऊपर•••।"

"किसके•••?•••हिच्क्•••तुम्हारे•••हिच्क् ?"

"मेरे ऊपर खड़ा होने के लिये बहुत हल्का होना पड़ेगा बावले !"•••

मैं मुस्कराई और मद्यप मर मिटा ।

कुछ सोचता सा, लड़खड़ाता हुआ, माथे की बगल में, उंगली टिका, आँखे ऊपर चढ़ा कर बोला—

"हल्का ऽ ऽ•••?"

"हाँ, जो अन्दर छुपा रखा है, उसे बाहर कर दे, हल्का हो जायेगा ।"

"दिल की बात•••?•••दिल का भेद लेना चाहती है तू•••गुप्तचरी कर रही है कुटिले•••ऽ ऽ•••। यकायक क्षोभ से काँप उठा वह•••तिड़क पड़ी मैं भी—

गुप्तचरी नहीं, साथी हैं हम, दोनों एक से सताये हुये, इसे तूने मान लिया है•••तूने ही माना है, मान लिया है न ?"

"हाँ मान लिया•••फिर•••?"

"फिर गुप्तचरी काहे को कहता है••••••?"मैं रुआँसी होकर बोली, वह पिघला•••।"

"•••च्च च्च च, रोती काहे को•••अरे इतना बड़ा सांड सामने खड़ा है, फिर

भी डकरा रही है, काहे को ?···बोल···बोल क्या दुःख है तुझे···कुछ बुरा बोल दिया मैंने···?"

"तू मेरे को गुप्तचरिका कहता है रे···।"

"अच्छा क्षमा कर दे मुझे···नहीं कहता है···,पर तू मुझ से अन्दर की पूछती है तो मेरे घाव छिलने लगते हैं···मुझे अपना पराया नहीं सूझता क्षोभ में···।"

मैंने स्वर में सहानुभूति को संजोया—

"देख मांझी ! इन्सान या तो रोकर दिल को हल्का कर लेता है, या किसी को समदुःख कातर बनाकर···समदुःख कातरता में अपनी बात दूसरे पर प्रकट करनी होती है···रहस्य समाप्त हो जाते हैं। मन का दुःख आधा और बुद्धि दुहरी हो जाती हैं···।"

"···तुम ठीक कहती हो···पर···पर···मुझे भय क्यूं लगता है ?"

"भय···किससे···? मुझसे ?···तो फिर निभ चुकी हमारी तुम्हारी ?"

"तू औरत है न···?

"क्यूं तुझे क्या दीख रही हूं ?"

"नहीं···है तो औरत ही···औरत ही है तू···पर वो बात···यह है···कि औरत के पेट में···कुछ खपता नहीं···उसे मन की नहीं बताना चाहिये···कहा हैं बड़े बूढ़ों ने···।"

"···और तेरे लिये क्या कहा है बड़े बूढ़ों ने···तू शुद्र है न ?···तुम्हें मुँह नहीं लगना चाहिये, कहा है बूढ़ों ने।···कहा है न ?···पर शूद्र होते हुये भी क्या तुझे अपना प्यार नहीं लुटा रही मैं, अपना साथी नहीं बना रही मैं···? पर छोड़ अगर तेरी यह मानसिकता है, तो बस हो चुकी यारी···।"

"वो ऽऽ···।"

उसके बोलते ही लताड़ा मैंने—

"अरे डरपोक, कायर, क्लीव, का पुरुष। क्यों देखता है हमारी ओर···।"
——जोर का थप्पड़ दिया उसके गाल पर मैंने, सकते में आ गया, सारा नशा काफूर हो गया, ज़रा सी देर में······नीच ! वसुंधरा भूमि और पुण्यमयी नारियों का भोग वही कर सकते हैं जो वीर होते हैं, अभय और साहसी ?"

वह झुका मैं, समझती थी पैरों में गिर कर माफी मांगना चाहेगा अब······किन्तु······हिंसक पशु सा यकायक झपट पड़ा, मुझ पर वह। नितम्बों के नीचे' पृष्ठ भाग को बाहों में भर कसकर मुझे फूलों के गुच्छे की तरह ऊपर उठा कर, कन्धे से लगा, दौड़ पड़ा, अपरिचित जगत की ओर। चीते सी इसकी पकड़ में, मैं उसके वृषभ से कन्धों पर से ही, पत्थर सी पीठ पर लगातार मुक्के बजा रही थी, पर उस पर कोई असर न हुआ। मैं उसके बन्धन से छूटने के लिये, बहुत कुछ हिली डुली मचली पर मेरी कँपकँपाती टाँगे हवा में झूलकर रह गई, मैं प्रयत्न करके भी छूट न सकी, उसे छोड़ना नहीं था, वह छोड़ न सका और लेकर दौड़ता रहा अनजाने पथ की ओर।

उसके शरीर की गंध, मछली की तरह, नाक में चढ़ती जा रही थी, पर उसकी लोहे जैसी छाती का दबाव और वज्र से बाहुओं का कसाव, विशेष, स्पर्श जनित, आनन्द पहुंचाने लगा था, मुझे, उसके साहस ने विचित्र भावों की सृष्टि प्रारम्भ कर दी मुझ में। मैं तुलना करने लगी—कितना खोखला था कामी उपरिचर के थुलथुल वदन का सुगन्धित मार्दव, इस कँटीले स्पर्श के सामने। जंगली भेडिये की तरह शिकार किया उसने भी और चीते की तरह झपटा है यह। जानवर की तरह उठा कर भागा है मुझे यह और दरिंदे की तरह झिंझोडा था उसने मेरे कोमल शरीर को। दोनों पशु हैं…।" फाड़ कर खा जायेंगे मुझे। मैंने सोचा—"मैं अप्सरा हूं, देवताओं" ने कलात्मक प्रतिभा ही नहीं, व्यवसायात्मिका बुद्धि भी दी है, क्यूं न अपनी बुद्धि का उपयोग करूं……जानवर से जानवर को लडवा दूं……नाचें दोनों पशु मेरे इंगित पर और पशुपति नाथ की प्रसन्नता हो।…अन्यथा उसे न तो देवराज कुछ कहेंगे और न महर्षि शक्ति ही—मैंने मांझी के कान पर मुंह रख कर कहा—

"सुन रे मांझी सुन ! सुन, ओ मेरे सैंया ! सुन. सुन सुन…।" मैंने उसके कण्ठ में बाँहे डाल, कनपटी को चूम लिया…कोमल स्पर्श और गर्म सांसो ने. अपूर्व आनन्द से पिघला दिया उसे…हाथ की पकड़ ढीली हुई, मैंने समझा और प्रतिकार छोड़ उसके कन्धों से चिपट गई…शब्दों में पूरी मिठास घोलकर बोली मैं…

"……मैं तो तुझे परख रही थी, मेरे मांझी ! तू तो वज्र का बना निकला…!"

साथ ही कामुक आलिंगन में कस, एक चुम्बन और जड़ दिया कपोलों पर। छीना झपटी में मेरे केश बिखर गये थे। एक ही झटके में मैंने उसके सिर पर झटक दिये। कन्धों तक ढक लिया, उसे। सुगन्धित अलकों ने, विशेष स्फुरण में झूम कर, किचकिचा उठा वह। पता नहीं कैसे ? आनन्द के अतिरेक में लड़खड़ा कर या किसी चीज़ से ठोकर, ऐसा गिरा, कि मैं दूर पड़ी जाकर लुढ़कती हुई उसके हाथों से छूटकर और वह पागलों की तरह धरती टटोलने लगा। मैं धूल झाड़कर खड़ी हो गई और ठहाका लगाने लगी, वह विस्मय आनन्द से भरा, अनसुनी करुणा से तरलाया, दीवानों की तरह मुझे देखने लगा, क्षण भर में ही सारा क्रोध अजानी गंध सा, न जाने कहाँ उड़ गया…और उसने भी मेरी तरह ही ठहाका लगाया…दोनों की आवाज़ एक होकर, जंगल की हवा में, तैरने लगी।

अचानक, न जाने कहाँ से, एक जाल हम दोनों के ऊपर आकर गिरा, और एक ही झटके में बाँधकर, अनिर्दिष्ट दिशा की ओर घसीट ले चला। न कुछ समझ सके और न ही सम्भल सके हम। कुछ क्रूर अट्टहासों और घोड़े की टापों से गूंजता रहा जंगल। घिसटते हुये बदन, कई स्थान से छिल कर लहु लुहान हो गये थे, तो भी कोई टीस न थी घावों में । असमंजस ने अन्य अनुभूतियों" पर अधिकार कर लिया था। थोड़ी दूर ही जाकर घोड़े रुक गये और हमारा घिसटना बन्द हुआ। असंख्य पैदल और घुड़सवार

सैनिक हमें घेर कर खड़े थे और विस्मित हो, हम उन्हें देख रहे थे। हमें खोल दिया गया, ज्यूँ त्यूँ करके हमने स्वयं को संयत किया। अस्त व्यस्त वस्त्रों को ठीक किया। चुचुआते रक्त को पौंछने के प्रयत्न में हथेलियाँ लाल हो गई हमारी और घावों से पीड़ा निकल आई।

देखकर स्तब्ध रह गई मैं, सामने बैंत और बाँसो से बने एक औपचारिक सिंहासन पर महाराज उपरिचर बैठे, क्रोध से दाँत किटकिटा रहे थे पास ही दूसरी आसंन्दी पर विराजमान, महर्षि शक्ति की भृकुटियाँ भी तनी हुई थीं। पता नहीं ऋषि का सौम्य हास, आज कहाँ तिरोहित हो गया था? उपरिचर के विश्वस्त सेनानायक, श्येन ने, तड़तडाता एक कोड़ा मल्लाह की पीठ पर मारा और वह वज्रकाय, एक बार को बुरी तरह बिलबिला कर, डकरा उठा किन्तु फिर भी एक स्वाभिमानी पुरुष की तरह तनकर खड़ा हो गया वह। कुछ देर पूर्व एक स्त्री के सम्मुख भीगी बिल्ली हो गया था जो, इस समय पराक्रम के पुंज, सिंह, सा दहाड़ रहा था। अन्तर्मन से झूम उठी मैं ऐसे साथी को पाकर। देखते ही देखते, सामने बैठे दोनों श्रीमतों की तुलना में, उसका व्यक्तित्व, मेरी कल्पना में विराट् होता चला गया और अब तक, उसे, हीन दृष्टि से देखने वाली, मेरी चेतना, उस पर मन ही मन मुग्ध होने लगी। इतने सैनिकों से घिरा हुआ भी, अंगार-दाह-दृष्टि से तडपते क्रुद्ध सिंह सा सबको देख रहा था वह। श्येन के कोड़े की चोट जब उसके कृष्ण वर्ण शरीर पर लहू की धार बनकर उभरी तो ऐसा लगा जैसे अनिर्दिष्ट विनाश का कारण बन कर काले काले सघन बादलों में भयंकर बिजली तड़तडाई हो और उसकी डकराहट में सारे जंगल को गुंजा कर सावधान कर रही हो। पर इसके बाद एक उफ़ भी न निकली उसके मुंह से। क्या पहिली ध्वनि किसी को चेताने के लिये संकेत मात्र ही थी। फिर कौन सी धातु से बना था उसका वदन, जो पीडा का दर्प बनकर, पत्थर ही हो गया? संभवतः उपरिचर की क्रूर पशुता को परास्त करने के लिये, पीड़ा ने आत्म शक्ति का रूप धारणकर लिया था। उपरिचर झुंझुला उठे। क्षुब्ध होकर चिल्लाये--

"दस्यु! ज्ञात होना चाहिये तुम्हें। देवताओं के मित्र, चेदि नरेश उपरिचर को, यदि चन्द्र वंशियों ने, शुक्तिमति से, आमंत्रित कर, यहाँ बुलाया है तो तुम जैसे दुष्टों का दमन, उसमें स्वतः ही छिपा है।'

''चन्द्रवंशियों ने आमंत्रित किया है तो हस्तिनापुर के राजभवन की राह पकड़नी थी आपको, यहाँ मल्लाहों के टोलों में रासलीलाओं के स्वप्न देखते हुये क्यूँ विचर रहे हैं आप?"

"तेरे जैसे विद्रोहियों को, पकडकर, महाराज शान्तनु के सामने, प्रस्तुत करने के लिये।"

"···तब तो धन्य है, देवताओं की मित्रता का दम्भ करने वाले, शुक्तिमति के अधिपति लोग, जो भोग लिप्सु चन्द्रवंशियों के क्रीत दास होकर, अबोध वनवासी,

निर्धन निर्बल निषादों और अबला तथा असहाय नारियों पर, वल का प्रदर्शन कर, पौरुष की, विजय पताका लहरा रहे हैं, कुयश के अत्याचारी आकाश में। भृत्य ! किसी भृत्य से बात करो, हमसे नहीं, हम भृत्य नहीं, निषादों के निर्वाचित नेता है "समझे।"

क्रोध से चीखे उपरिचर—

"विद्रोही दस्यू ऽ ऽ ऽ !"

"दस्यू नहीं, मात्र विद्रोही कहो उपरिचर !······विद्रोही दाशराज !! वह दासराज, जो किसी शान्तनु का क्रीतदास नहीं, निषादों का शक्तिमान नेता है, थोपा हुआ राजपुरुष नहीं चुना हुआ मुखिया है उनका। त्रेता में भगवान राम ने, हमारी मित्रता को स्वीकार कर, गर्व का अनुभव किया था, राम के दर्शन पा जाने के लिये, असमर्थ चतुरंगिनी सेना से युक्त, कैकय नरेश के दोहितृ ने, घुटने टेककर हमारी मित्रता की भीख मांगी थी और सूर्यवंश के कुलगुरु वशिष्ठ ने, अपने हृदय का सम्पूर्ण स्नेह उडेल कर, अपने अंक में भर कर भेंटा था हम लोगों को।······तुम हमें दस्यु कहते हो ?······दस्यु के हम नाविक हैं, सुरक्षित पार पहुंचाते हैं सबको।···घाट पर पर अकेली नहाती स्त्रियों का शील भंग कर, पौरुष का प्रदर्शन नहीं करते हम, नारियों के मन को जीतकर श्रद्धा से प्रेम की अभ्यर्थना करना जानते हैं चेदि नरेश !

"हमें बताने की आवश्यकता नहीं दुष्ट दस्यु ! शासकों के पास, तुम जैसे लोगों का परिचय सुरक्षित रहता है। हम से क्या, महर्षि शक्ति से पूछो, ये बतलायेंगे तुम्हें। तुम्हारे जैसे दुष्ट तो मित्रता की क ख ग भी नहीं पहिचानते निभाने की बात ही दूर है।···सूर्यवंश ने, तुम्हारी औकात से बाहर, तुम्हें मुँह लगाकर सिर चढाया और तुमने उनके मान का प्रतिदान, प्रतिदान, किस कृतघ्नता और नीचता से दिया। सौभरि की सूर्यवंशी पत्नियों को ही ले उड़े तुम ?"

हम किसी सौभरि की पत्नियों को लेकर नहीं उड़े, मिथ्यारोप है हम पर बनाया हुआ षड्यंत्र। मैंने सूर्यवंश की प्रत्येक कन्या को अपनी बहिन से बढ़कर समझा है। वे मल्लाहों के टोलों में इतनी निर्द्वन्द्व होकर घूमी हैं जितनी आपके सुरक्षित दुर्गों में भी नहीं···बाहर या भीतर कोई आँख उठा कर नहीं देख सका उन्हें। हाँ यह सौभरि ही थे, जो मछलियों की तरह तैरती राजबालाओं को देखकर मुग्ध हो उठे, और कामासक्त हो जल में छल्लांग लगा, जलपरी से क्षत्रिय ललनाओं का पीछा करने लगे। मछलियां पकड़ते हुये कोई मेरे जाल में फँस जाये तो यह मेरे जाल का दोष नहीं। सौभरि फँस गये, मैंने मछली समझ कर खींच लिया। मुक्त करना चाहा तो उल्टे गले पड़ गये। उनके निर्देशानुसार, उनके शरीर को लेकर राजा के सामने जाना पड़ा और मछलियों के अनुरूप शुल्क माँगा, स्वयं ही इस अनाचार के लिये जोर दिया था सौभरि ने। मैंने एक-गौ के वदले, कौशल नरेश को सौंप दिया सौभरि का शरीर। अब वह जाने और राजा यही वह चाहते थे। मेरा गला छोड़ राजा पर सवार हो गये। उन्होंने राजा को धिक्कारा—

"तुम्हारे राज्य में, विप्र, धेनु और ऋषि मुनियों का क्रय विक्रय किया जाता है, यह आज सिद्ध हो चुका। अधर्म और अनाचार का पोषण करके तुम धार्मिक न कहला सकोगे। मैं तुम्हारा राजसिंहासन पर स्थिर रहना कष्टकारी मानता हूं, यह तुम्हें छोड़ना होगा, अन्यथा मेरा शाप···।"

सिंहासनों के लोभी कौशल नरेश, थर थर काँपने लगे, अपराध क्षमा कर देने की प्रार्थना करने लगे। सौभरी ने सौदा कर लिया···फूलसी कोमल, अल्हड नवयौवना किशोरियों को प्राण सहचरी बनाकर, सौंप दिया गया। सौभरी को पिता के राज्य की रखा के लिये एक जर्जर प्रौढ़ को अपनी कंचन काया समर्पित कर दी बालाओं ने, पतिव्रता धर्म का पालन किया किन्तु पलायनवादी ऋषि ने न कभी पुरुषार्थ का संचय कर घर बसाया था और न किसी उत्तरदायित्व का निर्वाह ही किया था, जल्दी ही ऊब कर, घर छोड़ दिया जंगल में भाग गये। मल्लाहों ने उन्हें अपनी बहिन समझ उनका निर्वाह किया अब महर्षि शक्ति ही बतायें, निर्वाह करना अनाचार है या सौभरी का अतिकार···पूछो महर्षि से उनके मित्र की आर्याओं को बहिन की तरह पालकर क्या पाप किया था हमने? तिस पर भी इन्होंने, राजा को समझाने की अपेक्षा, हाँ में हाँ मिलाना अधिक उपयुक्त समझा, हमें षड्यंत्रकारी घोषित कर दिया गया। अयोध्या नरेश की प्रतिहिंसक वाहिनी ने नृशंस होकर, हमें उजाड़ दिया। मित्रता की बलिवेदी पर, संघर्षों की आग को पीकर, हम, दूसरी नदियों के कछारों में, फैल गये। तब से आज तक कोई विद्रोही और कोई दस्यु कहकर, हमें ही नहीं, हमारी स्त्रियों को भी अपमानित करते रहे।

चन्द्रवंशी शान्तनु ने गंगा किनारे टोले की एक लड़की, गंगा से रासरङ्ग का प्रपञ्च रचा और उससे विवाह भी किया किन्तु उसके हृदय को जीतने में असफल ही रहा। उसकी विलासी प्रवृत्ति से, वह इतनी ऊब गई, कि अपनी सन्तान का भविष्य भी उस राजसी वंश में भी उसे सुरक्षित न लगा, उसे शान्तनु पर किंचित भी विश्वास नहीं था। अपना एक भी बच्चा उसे देने के लिये राजी न हो सकी वह। मातृ सत्ताक परम्परा में देवियों के संस्कारों से युक्त गंगा, अपनी सन्तान को, दृढ़ चरित्र बनाना चाहती थी। उसे निश्चित ज्ञान था शान्तनु विलासी है और किसी भी दिन उसकी सन्तान को सौतिया डाह का शिकार होना पड़ सकता है राजा रूपसियों के रूप जाल में पड़कर ययाति की तरह उसके पुत्रों के यौवन की बलि दे सकता है। मैं और मेरे पिता ने उसकी सन्तान को गंगा के खोलों में सम्भाला। आज वसुओं की भाँति स्वतंत्र और समृद्ध होकर विचर रहे हैं···एक बच्चे की भीख शान्तनु ने गंगा से मांगी थी, गंगा ने देना स्वीकार किया···देखें उसका क्या होता है।

ऐसे खोखले चन्द्रवंशियों के, आमंत्रित अतिथि उपरिचर! तुम जैसे व्यभिचारी के सहचर शक्ति जैसे कायर पुरोहित ही हो सकते हैं। दीन, दुर्बल, अकिंचन और असहाय अबला नारियों की सहायता करने वाले दाश का, तुम जैसे प्रदर्शन कर्मी वीर, न पहिले कभी कुछ बिगाड़ सके हैं, न आगे कुछ बिगाड़ पायेंगे। शस्त्रधारी सैनिकों

और घुड़सवार योद्धाओं से घेरकर, शिकारियों की तरह जाल फेंक कर, निहत्थे मल्लाह पर वार कर पौरुष का प्रदर्शन करने वाले उपरिचर ! तो भी तू यह मत भूल, कि इस प्रदेश में इस समय भी तू मेरी दया पर जीवित खड़ा है । तुझे मालूम नहीं इस समय तू मेरे क्षेत्र में है और तेरी स्थिति किसी बन्दी से अधिक कुछ नहीं । शक्ति का अतिथि है तू इसी लिये तेरी प्राण रक्षा भी हो सकी है, अन्यथा···

उपरिचर ! बहुत सहा है शूद्रों ने, बहुत सह रहे हैं, बहुत सह सकते हैं, पर तुम्हारे जैसे सवर्ण नहीं सह पायेंगे अगर धरती सा सब कुछ सह जाने वाले धरती के ये बेटे करवट बदलने लगे एक दिन······"

उपरिचर जाने किस कथा के रस में अथवा अफीम की झोंक में सुन गये यह सब···जैसे घंटो धुएँ में आग सुलगती रही हो और अचानक किसी बिन्दु पर आकर भभक उठी हो, क्रोध से उन्मत्त हो गये वे । उन्होंने श्येन के हाथ से कोडा छीन लिया पूरी शक्ति से झटक कर दाश पर दे मारा । मैं सह न सकी, दाश से चिपट गई. एक एक कोडा इतने जोर से पड़ा कोमल शरीर पर कि खून से लथपथा गया । करुणार्द्र शक्ति कराह उठे, उन्होंने उपरिचर का हाथ थाम कर रुकने का संकेत किया किन्तु सत्ता के अहंकार और पार्थिव ऐश्वर्य के मद ने अन्धाकर दिया था उन्हें । महर्षि का हाथ झटक दिया दर्पीले नागने । दाश को, न जाने, कौन सा अप्रत्यक्ष संकेत मिल गया ? वह आत्मबल पाकर गरज उठा । उसने चीते की तरह झपट कर उपरिचर पर छल्लांग लगा दी और एक ही झटके में धरती पर लुढ़का दिया, फिर नट की तरह कलाबाजी करते हुये, पास ही खड़े भयंकर त्रिशूल के पास जा पहुंचा उसे उखाड़, भगवान शंकर की भाँति, भैरवगर्जन करते हुये, उपरिचर के, आततायी सैनिकों का विध्वंस करने लगा । उसके पौरुष को देखकर मैं मुग्ध हो उठी, लगा सवा लाख को अकेला ही भारी है । न जाने कैसी विचित्र आवाजें उसने अपने कण्ठ से निकाली कि जंगलों को चीर, वृक्षों और ऊंची घास झुंडों की ओट से, तरह तरह के शस्त्र लिये, अगणित निषाद, कोलकिरात और वनवासियों की पूरी की पूरी सैना होहल्ला करते हुये निकल आई । आश्चर्य था अगणित स्त्रियाँ भी शस्त्र लेकर दाश की मदद कर रही थी । उपरिचर चारों ओर से घिर गये । मैं आश्चर्य मिश्रित प्रसन्नता से झूम उठी और उस पल अपने घाव के रिसतें रक्त को देखकर झूम उठी । सभी के बीच लाज शर्म छोड़ दौड़कर उस मछियारे से चिपट गई । उसके बहते रक्त से अपने रिसते रक्त को मिला कर नया सम्मिश्रण तैयार करने की चेष्टा करने लगी ।

बहुत जल्दी ही संघर्ष की निर्णय हो गया । उपरिचर घिरे खड़े थे । मल्लाह ने क्षमादान करते हुये कहा—

"उपरिचर ! अपराध अक्षम्य है आपका, इसलिये नहीं कि आपने क्रूर कोडों से मेरे बदन की खाल उधेड दी, बल्कि इसलिये कि आपने एक अबला की अचेतनता

का लाभ उठाकर उसके गर्भ में बलात्कार से अपने शुक्र की स्थापना की जो आपकी पत्नी गिरिका का अधिकार था ? यह देवराज की मित्रता का अपमान तो है ही किन्तु किसी पतिव्रता के विश्वास को भी तोड़ा है तुमने। देवताओं के साथ, विवाह की पवित्र अग्नि का अपमान कर अधर्म ही किया है तुमने ?···हम अपने लिये नहीं कहते···।

हमें तो युगों से बहुत कुछ सहने की आदत है। हमारे खून और पसीने में कोई ज्यादा फर्क नहीं। हमारा पसीना उत्पादन बनकर समाज का पोषण करता है और खून तुम्हारी हिंसक वृत्ति का तोषण। पशुओं से कोई अस्तित्व ही नहीं हमारा। किन्तु सहने की एक सीमा होती है सत्तावानों ! दलितों का यह उत्पीड़न शोषण, क्रान्ति के ज्वालामुखी का लावा बनकर फूटेगा। हमने समाज की निकृष्टतम सेवाओं को राष्ट्र या समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रगति के लिये स्वीकार किया था,ऐश्वर्यशाली सत्तावान पुरुषों को मनोरंजन, विलास, शोषण, उत्पीडन और बलात्कार के लिये नहीं। भूचंडिका के श्रमिक पुत्रों ने श्रम और प्रेम का आह्वान किया था, प्रमाद और घृणा का नहीं।

पार्थिव शक्ति के मद में चूर आज तुमने वशिष्ठ की सन्तान का हाथ झटक दिया। निरकुंश शासकों ! तुमने बुद्धि और धर्म दोनों का नियंत्रण अस्वीकार कर दिया। यद्यपि मेरी दृष्टि में धर्म के ठेकेदार और शासन के रखवाले कुंडलमार सब एकही थैलीके चट्टे बट्टे हैं। शक्ति जो सह रहे हैं अपने कृत्यों का फल है उनका। थोड़ी सी सुख सुविधाओं के लिये, इन धार्मिक पुरोहितों ने, कितनी हाँ में हाँ मिलाई तुम्हारी ?···और हम लोगों पर होते अत्याचार को देखकर भी न देख सके···।" आविष्ट मछियारा बहुत अधिक श्रम से थक गया था शायद रुककर विश्राम किया उसने—शक्ति आगे आये, सब उनकी ओर देखने लगे। चढ़ी भृकुटियों का क्रोध, आँख के आँसू बनकर टपक रहा था, उनके बोलते ही चुप्पी छा गई चारों ओर—मल्लाह के नयन भी लाज से झुक गये—

'महाभाग दाशराज। तुममें पुण्य और पुरुषार्थ का संचय देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई किन्तु चिन्तन और मनन के अभाव में तुम्हें आवेश की आंधी में उड़ता देख उतना खेद भी है। भ्रान्तियाँ न जाने कितने विप्लवों को जन्म दे देती हैं गुहराज ! उपरिचर और अद्रिका दोनों ही मेरे अतिथि थे, किन्तु तुम्हारा इस प्रकार अद्रिका को लेकर दौड़ना क्या किसी भी भ्रम को उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त न था ?''

"उत्तर मुझसे नहीं अद्रिका से मांगिये ऋषिवर।"

"मुझे और उपरिचर को एक ही श्रेणी में रख दिये तुमने, क्या इसके लिये भी अद्रिका से पूछ चुके हो तुम ? दाश राजा कुछ कहने से पहिले वाणी को तौलना बहुत आवश्यक है। कुछ कहने से पूर्व सोचो सदा। महर्षि वशिष्ठ ने भरपूर स्नेह दिया है

निषादों को ।

वेन की सन्तान के रूप में तुम्हारे लिये -कवष से लेकर आज तक, शुक्र से भी संघर्ष करते रहे हम । शम्बूक के वध में हमारा नहीं विश्वामित्र का हाथ था उन्होंने क्या हमारे १०० भाइयों की वलि नहीं ली थी ? सौभरी यदि मेरा मित्र है तो क्या उसका सहकर्मी होना भी मेरे लिये आवश्यक है ? भूमि पुत्र ! राजनीति की परम्परा में न्याय के साथ साक्षी का विशेष स्थान है सभी साथियों को तुम्हारे विरुद्ध पाकर भी, तुम्हारे पक्ष में निर्णय देकर, क्या खुलेआम शासन के विद्रोह का उद्घोष करना चाहिये था मुझे ? क्या तुम भूल गये कि त्रिशंकु की गतिविधियों के कारण सूर्यवंश से हमारा सम्वन्ध कितना रह गया था । कामान्ध सत्तावान ऐश्वर्य शालियों ने किस जाति को वख्शा है दाशराज ! गुंडों की न कोई जाति होती है न धर्म, वर्ण, न पद और न व्यवस्था. ये किसी भी समाज और समूह के ऐसे कुष्टांश हैं जिन्हें मिटाना कठिन हो गया है । हम तो आज भी अरण्यवासी है तुम लोगों की छाया से ही जुड़े हैं हम, ये सुख के एकान्त भोगी हमें क्या सुख देंगे ? हम ब्राह्मण हैं, त्याग हमारा बल है और तपस्या शस्त्र । हम जीवन और मृत्यु में भेद करके नहीं जीते । वृत्तियों के परिष्कार और आत्मा के उत्थान के लिये ही है जीवन हमारा । अपनी साधना में यदि हम किसी को सहयोगी बनाना चाहें तो कोई भ्रम न होना चाहिये ।

निषादराज ! हजारों उपरिचरों में भी वह शक्ति है क्या जो शक्ति का अपमान कर सके ? शक्ति के पास पशु वल नहीं मंत्र शक्ति है उसकी आत्मा में ही नहीं वाणी में भी शक्ति है जो उपरिचरों के लिये ही नहीं इन पर कृपा करने वाले इन्द्र के लिये भी भारी है किन्तु शक्ति के दुरुपयोग से अहंकार की साधना में हमारा विश्वास नहीं ।"

ऋषि की प्रखर वाणी से समस्त उपस्थित समुदाय सहम उठा, दाश राज का कठोर हृदय पिघलने लगा'''एक शब्द न वोल पाया वह घुटना टेक धरती पर लुढ़कना चाह रहा था मानों, कहा नहीं जा सकता, थकावट, कीड़ों की चोट, आवेश या ऋषि की प्रभावपूर्ण वाणी, कौन सा कारण था, अर्द्ध मूर्छित सा हो गया वह । इससे पहले निढाल होकर, ऋषि के पैरों पर गिरता वह, ऋषि ने दौड़कर उसे संभाल कर छाती से लगा लिया—

"नहीं दाश ! ऐसे नहीं ! उठो संभलो, क्या करते हो, हैं'''? अपने इन क्रान्तिकारी आन्दोलकर्त्ताओं साथियों को निर्देश दो कि महाराज उपरिचर को ससम्मान जाने दें । अतिथि ही समझो, इन्हें अब भी'''क्षमादान दो इन्हें'''ताकि जिन्दा रहकर यह सोच सकें, कि क्रान्ति की ज्वाला अत्यन्त शक्तिमति होती है और उससे पूर्व कि वह प्रखर हो, कुशल शासकों को उससे समझौता कर रचनात्मक कार्यों में लगा देना चाहिये ।

एक वात वहुत अच्छी कही तुमने मेरे भाई ! मेरा अपमान उपरिचर ने नहीं

मेरे कृतकृत्यों ने कराया है···यह जो अद्रिका है न···मेरी···अतिथि···जो अभी अभी तुम्हें कोड़ों से वचाने के लिये चिपट गई थी, तुम्हारे वदन से···। मेरे···हृदय को आन्दोलित करने लगी थी। चित्त के स्नेह ने भय और सन्देह का रूप धारण कर लिया···आसक्ति ने न जाने कैसा वीज वो दिया, मैं अपने मार्ग पर इसके साहचर्य की कल्पना करने लगा···पर छोड़ो···जो ईश्वर को स्वीकार होता है वही विधान हो जाता है···अपनी माया वही जाने···न जाने क्या खेल खिला रहा है अपनी जग़ह वैठा ···वस मेरी एक प्रार्थना है दाश···।"

अचानक बहुत विह्वल हो उठे शक्ति, करुणा से तरल होकर, हृदय का अपरिमित आवेग, आंसुओं का उत्स वनकर फूट पड़ा। भावावेश में अञ्जलि वांध कर खड़े हो गये वह—

"दाश ! उपरिचर ने जो किया, सो किया, किन्तु कोई कष्ट न देना इसे··· इसे मेरी धरोहर समझ···अगर तूने इसे सम्भाला, इसकी रक्षा की तो मुझ पर अहसान होगा तेरा···।"

सहसा अपने आंसुओं को पौंछते हुये आश्रम की ओर दौड़ पड़े, क्षण भर को भी मुड़कर न देखा पीछे···मैं जो अव तक हकवका गई थी, मुनि के उद्वेलन को देख सिसक पड़ी। मैं जीत गई थी किन्तु अव तक, उस जीत का आभास हुआ, तव तक सब कुछ हार दिया था मैंने जीतकरही हारी थी मैं···एक हूक सी उठी हृदय में। वाणी तो मौन थी किन्तु आँसुओं ने कुछ कहना शुरू कर दिया, शेष वचा हिचकियाँ वन कर फूट पड़ा मुझे कुछ मालूम नहीं, कव उपरिचर लौट गये···दाश राज कव, कैसे और कहाँ ले गये। दाश तो एक विद्वेष की ज्वाला में ही जल रहा है। पर मैं तो प्रेम और विद्वेष दोनों से ही दहक रही हूं अब तक। पछतावा पानी का नहीं आग का काम करता है और अधिक से अधिक जलाने लगता है······।"

क्या है तेरी नियति अद्रिका। देवराज ने नचाया, ऋषि ने रुलाया उपरिचर ने सताया और मछियारे ने मछली की तरह द्वन्द्व के जाल में फँसाया···। किसी ने फँसाया या खुद फँसी ? वोल···वोल ना रे मछियारे···वोलता क्यूँ नहीं···तू क्यूँ आया था, मेरे जीवन में वोल ना···जानता है तू··· ।

"जानता है वह मछियारा कौन था, कौन था वह मल्लाह···तू···तू ही था रे दाश !

अद्रिका वन्द पलकों में स्वप्न संजोते हुये ही दाश के कठोर शरीर को सहलाने लगी किन्तु दाश की कोई प्रतिक्रियाँ न पा, आँख खोली तो धुत्त पाया उसे—

हे देव ! देवराज ने किस आग को दवाने के लिये अप्रत्यक्ष रूप से अद्रिका का प्रयोग किया है। समझ नहीं पाता पुरुषार्थी मानव, न जाने कितनी बार अजाने ही देवताओं के हाथ का खिलौना वनकर रह जाता है।

अद्रिका ने रेत पर पड़े मल्लाह को झकझोरा, शायद कुछ ज्यादा चढ़ गई उसे। झल्ला पड़ा—

"हुं···क्या है···?"

उसकी लाल लाल आँखे, अंगारे की तरह दहक रही थी, नशे में था, या सो रहा था या अन्दर ही अन्दर खून के आँसू पीकर सिसक रहा था। मेरी प्रश्न भरी दृष्टि का उत्तर दिया उसने—

"हाँ···मैं ही···मैं था···पर यहाँ···क्या कर रही है तू ?"

अद्रिका चुप! कहे तो क्या ? वह तो केवल बीती सोच रही थी, पर पता नहीं क्यों इस समय उसे भ्रम सा हो गया कि वह अपनी कहानी किसी को सुना रही है।

अद्भुत होती है काल की प्रक्रिया! युगों की घटना पलों में घट जाती है। जन्मजन्मान्तरों का घटित क्षणों में सोच लिया जाता है। स्मृति के पटल पर चित्रहार अंकित हो जाता है मन्वन्तरों का इतिहास। चिन्तन की सृष्टि में कितने संसार पानी के बुलबुलों को तरह पल में बन कर पल में मिट जाते हैं।

अद्रिका ने सोचा।—"उस दिन भोजन करते समय, शक्ति ने अपने पिता महर्षि वशिष्ठ के ग्रन्थ 'योग वशिष्ठ' की चर्चा चलाई थी और कुछ ऐसी ही बातें की थी। वड़े रहस्यात्मक ढंग से फुसफुसा कर उन्होंने कहा था—

"अद्रिके! मेरा मन यदि किंचित भी तुममें अनुरक्त हुआ है, तो उस संस्कार का भुगतान करने के लिये मुझे एक जीवात्मा के रूप में सामने आना ही पड़ेगा। तुमने जो अनुराग का वीज वोया है उसका फल प्राप्त करनें के लिये निश्चित ही किसी न किसी को आधार बनना ही होगा। शरीर न सही आत्माओं के रूप में भी मिलने सूक्ष्म रूप से विवश किये जा सकते हैं काल के इंगित पर। इसीलिए अध्यात्म के साधक संस्कारों से बचने का प्रयत्न किया करते हैं। उपरिचर या शिवानी उसे हमारा दम्भ भी कहें तो हमें कोई आपत्ति नहीं।

मैं काँप गई थी, ऋषि ने मेरे और शिवानी के वीच की वार्त्ता कहाँ बैठकर सुन ली थी। मैंने पलकें झुकाली और वह कहते चले गये—

"मोह का बीज एक क्षण में तैयार होता है। सङ्ग से काम की उत्पत्ति होती है, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति भ्रम, उससे बुद्धि नाश और सर्वनाश भी। आत्मा अपने आनन्द स्वरूप को भूल जाता है तो एक मात्र दुःख की भटकन ही शेष रह जाती है। कामना संस्कारों के वीज बोती रहती है। शिवानी और उपरिचर तो निमित्त मात्र ही होते हैं। वस्तुतः हम स्वयं ही अपनी कामनाओं के भूत बनकर खड़े हो जाते हैं।···शिवानी ने अपने गर्भ में, मेरे वीर्य को धारण किया है। कौन कह सकता है कि मेरे कामातुर मन की ललक उसमें काम के संस्कार

लेकर न उभरेगी ? इसीलिए तो शरीर के संयम से अधिक मन के संयम पर बल दिया महर्षियों ने। निश्चय ही मेरे मन की कमान पर रखा, कामना का तीर, छूट चुका था, जो शिवानी के शरीर के आरपार होकर निकलेगा। मेरी अपनी ही सन्तान, पराशर होकर किस किस के तन मन को बींधेगी—मैं कह नहीं पाऊँगा। किन्तु मेरे कामातुर मन का प्रतिबिम्ब उसमें अवश्य झांकेगा, यह मैं कह सकता हूं क्योंकि शिवानी से मेरा सम्पर्क धर्म के संस्कार का नहीं, काम के संस्कार का था। तपस्विनी शिवानी को यही दुःख खाये जा रहा है कि उसके गर्भ से जन्म लेने वाली, महर्षि वशिष्ठ की पौत्र सन्तान कौन सा रूप लेकर सामने आयेगी ?"

मुझे निश्चय होगया, इस अन्तर्यामी ने सब कुछ जान लिया फिर भी उसके सारल्य पर मुग्ध थी मैं।

एक ही व्यक्ति को भिन्न भिन्न व्यक्ति, कितने रूपों में देखते हैं फिर शक्ति जैसे व्यक्ति को मैं, दाश, उपरिचर या शिवानी इतनी सरलता से समझ जायें यह कैसे सम्भव हो सकता है ? शक्ति तो अनेक रूपों में व्यक्त होकर प्रस्फुटित हो रही है।

अद्रिका अपनी बेटी का सोचने लगी—"शक्ति ने तो अपनी उसी दिन कह दी थी, उसका बेटा पराशर आज यमुना के बीच, अकेले टापू पर अपने जीवन के विकास क्रम में लगाकर आगे बढ़ रहा है।...और मेरी बेटी, स्वार्थ लोलुप, स्वछन्द कामी उपरिचर की, अयाचित सन्तान—मत्स्यगन्धा, उसकी बलात्कारी प्रवृत्ति और विरत अरुचि का परिणाम होकर जीवन की नई कहानी गढ़ रही है, विचित्र स्वभाव है मेरी मत्स्यगन्धा का—

बाप का दम्भ है उसमें, हठ, दुस्साहस, असीम महत्वाकांक्षा और अनुराग विराग के बीच झूलती अरुचि। भगवान का धन्यवाद है, सुरुचि का संस्कार नहीं उसमें अन्यथा न जाने किस गड्ढे में जाकर गिरती।

शक्ति के लिये मेरे हृदय में असीम स्नेह था उपरिचर के लिये रंचमात्र भी नहीं। उसने मुझे बलात्कार से गर्भ धारण करने पर विवश किया, मेरी उसमें कोई रुचि न थी। इसी रुचि और अरुचि के बीच, रतिविरति के संस्कार, पल्लवित होते रहे मत्स्यगन्धा में। सब कुछ पाकर भी सब कुछ खो देना चाहती है वह और सब कुछ खोकर भी सब कुछ पा लेना चाहती है वह, देखें विधाता आगे क्या खेल रचता है ?

इतने अधिक चिन्तन से शायद अद्रिका का खुमार ढीला होने लगा था। अजानी व्यथा की लकीरें उसके मस्तिष्क में उभरने लगीं, चेहरा मलिन हो गया। उसने दाश की ओर देखा, 'धुत्त पड़ा था'...मुँह बिचका लिया और सोचने लगी—"कोई अन्य

आश्रय भी तो नहीं था, फिर इसका क्या दोष यह तो प्राण देने को आतुर रहता है मेरे लिये···पर संस्कार तो बदल नहीं पाता न ?···इससे तो, तो भी निवाहना ही होगा, मेरी बच्ची को पालता है, मेरी देह को तुष्ट करता है···आत्मा और मन के स्तर पर नहीं है तो क्या किया जाय···का सामर्थ्य तो कई उपरिचरों से अधिक है इसकी······इसे पाकर न छोड़ सकूँगी······परदेश में गाढे का साथी है, कृतज्ञ ही हूं इसके प्रति।

उसने पानपात्र उठाया और गटक गटककर पीने लगी···खुमार शुरू होगया, खून चक्कर लेने लगा, अंखियाँ रतिया गई····· मस्ती छलकने लगी···मदमा उठी देह···उसने दास को गुदगुदाया, उसने बाँहें फैलादी और वह उसकी बाँहों में बन्द हो आलिगन में कसकर सो गई······मद में सब खो गया······"कौन बेटी ? किसकी बेटी ?······कहाँ और कैसी ?"

———

प्रातःकाल क्षितिज पर, काली काली सघन वन माला, की ओट से, अरुण आभामण्डल से युक्त तरुण सूर्य, दीप्त किरणों के हाथ फैलाकर, अन्धकार की झीनी भीनी चादर को खींच, गुदगुदाकर, अलसायी सुबह को जगाने का प्रयत्न कर रहा था। चाँदी की सुनहरी शराब से छकी, मस्तानी रात, अचानक उसकी छाती से छिटक, अपनी नींद की गोलियाँ समेट, तस्करों की तरह भाग निकली। वक्षपर लिपटा, टिमटिमाते तारों से सजा आँचल, आधा लटकता हुआ उसके पीछे घिसटता रहा। जल्दी में, प्रकाश की ठोकर खाकर, मस्ती भरा चाँद का प्याला उसके हाथ से छूटकर, प्रतीचि की गोद में जा गिरा। तन्द्रालु दिवस ने, जागने से पूर्व, अन्धकार की सिकुडन भरी चादर को एक मुट्ठी में समेट, दूसरे हाथ से प्रतीचि के अंगों को सहलाते हुये, उसकी गोद में पड़े, चन्द्र चषक को उठा, उसका सोम, आखिरी बार, गटक, कर कुछ देर और सो लेने का उपक्रम किया। 'हूं हाँ' में ज्यादा हूल हिज्जत करते पा, सुनहरे अङ्गों वाली उषा ने, आवेश से, एक ही बार में, पूरे झटके से, सारी चादर को उघाड कर रख दिया। प्रकाश नंगा हो गया अपने अंगों को ढकने का धूपछांही प्रयत्न करने लगा। उषा उसे ऐसे देख, शर्म से सुर्ख होगई और आँखे वन्द कर यमुना की सर्पीली लहरों पर दौड़ गई, स्वाभाविक, सजल, सुगन्धित पवन के झोंको में इठलाकर निसर्ग सिद्ध सुषमा ने पक्षियों की चहचहाहट में कूकना शुरू कर दिया—उठो, उठो…… जागो ऽ ऽ, देखो ऽ ऽ, भुवन भास्कर कब से तुम्हें पुकार रहे हैं…कुछ तो लाज करो… कुछ तो शर्म करो…कुछ तो…।"

दाशराज ने करवट वदली। इधर उधर हाथ फेरकर, वगल में टटोला तो खाली ?…अद्रिका…?…जा चुकी थी।…वह झटके से उठा, आँखे खोलकर देखा, सूर्य की सुनहरी किरणें आ चुभी…आँखे मिचिया गईं। जमना तट से लौटती हुई आवाज गूंजकर कानों के पर्दे से टकराई—

'बापू ऽ ऽ ऽ ओ वा ऽ ऽ ऽ पू ऽ ऽ ऽ हो, यहाँ आज्जा ऽ ऽ ऽ, देख तो ऽ ऽ बटोही है एक, उस पार जाना चाहतौ ऽ ऽ ऽ है…ओ बापू हो ऽ ऽ ऽ, आज्जा ऽ ऽ"

मल्लाह ने आवाज पहिचानी—मत्स्यगन्धा की थी। एक ही झटके से खड़ा हो गया, लंगोटी समेटी…और रात के खुमार को तोड आशंकित किनारे की ओर ही दौड़ पड़ा…वडवडाता हुआ—

"……यह लड़की तो चैन ही नहीं लेने देती…न दिन को चैन है न रात को चैन…माँ से ज्यादह जालिम निकलेगी…मुझे मारकर ही दम लेंगी क्या…दोनों ? …एक आती है रात को, पी जाती है मुझे…एक दिन में आती है, चाट जाती है मेरे दिमाग को…वह कम से कम दो प्याले तो ले आती है कहीं से,…पर यह तो प्यालों को भी तोड़ टुकड़े टुकड़े कर देती है। वो एकाध मेरी सुन तो लेती है, पर यह तो जुवान छुरी की तरह चलाती है और मेरी एक भी नहीं सुनती……वह कुछ देर पास

बैठकर दुःख सुख की कह सुन तो लेती है, पर यह तो क्षणभरको बिजली सी कड़कती है और रुपहलीबदरिया सी जमना की कछारों में खो जाती है, जाने कहाँ ?...हाँ, हाँ...ऽऽ ...– क्या है......क्यों आसमान सिर पर उठा रखा है...?

उसकी जुबान रुक गई वहीं......क्योंकि वह उसके निकट पहुँच चुका था और वह उसे एक शब्द भी सुनाने को राजी नहीं था...अपने सम्पूर्ण हृदय से स्नेह करता था, वह उसे, कोमल मर्म पर किंचित भी चोट करना उसे नहीं सुहाता था, जानता था कि उसकी जरा सी भी असावधानी, उस जिद्दी और गुस्सैल प्यार की गुड़िया को, नाराज कर देने के लिये, पर्याप्त होगी और फिर......फिर न जाने कितने दिन को कछारों में खोजाय और वह उसकी सूरत को भी तरस जाय...... वह जब तब कह ही देती थी......"बापू ऽ ; अपनी आदत न बदली तूने तो देखता रहियो कहीं तेरी भूल से ऐसे खो न जाये मत्स्यगंधा कि तू इसकी सूरत को भी तरस जाय ?...वह कांप उठता विदा के उस क्षण का स्मरण कर।

निकट पहुंच कर उसने उसे देखा और मुस्करा पड़ा और अत्यन्त स्नेह से पूछा—

"क्या बात है बिटिया ?

वह बोली नहीं, शायद उसके देर से उठकर आने पर, तमतमाई हुई थी। केवल संकेत से काम लिया उसने। नीले जलकी चंचल लहरों में, उछलती चमकती चंचल मछलियों सी अखियों की पुतलियों को ही घुमाकर, कुछ समझाने की चेष्टा की; उस मीनाक्षी ने, दृष्टि आगन्तुक पर खिसका कर, अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया उसने।

मल्लाह ने दृष्टि उठा आगन्तुक को देखा तो सकते में आ गया, विस्मय चकित रह गया।

"यह क्या ? महर्षि शक्ति में यह कैसा परिवर्तन ? कल तक जो प्रौढ़ता की प्रतिमूर्त्ति थे आज तरुणाई कहाँ से फूट पड़ी उनमें...?"

शायद नशे की पिनक पूरी न टूटी थी, ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, कई बार देखा मल्लाह ने। मन उलझकर रह गया, उस आकर्षक, तेजस्वी शरीर में। उसका ध्यान टूटा तब, जब फूटती सुनहरी मूछों के रोमटों के नीचे, लाल लाल ओठों पर, गंगा की तरल तरंग सी, पावनी, एक मुस्कान थिरक उठी, और साथ ही भोर की चमचमाती, रूपहली हीरक किरणों की तरह, दन्तावली की कान्ति दमदमा उठी। अद्‌भुत दृश्य था, आश्चर्यमय ! विशाल अरुण कमल दल सी दो हथेलियां, नाक के नीचे आकर जुड़ गईं और रिमझिम रस बरसाते मधुर मेघ गर्जन सी गम्भीर वाणी मानस को भिजा कर, तैरने लगी हवा की लहरों पर। मल्लाह का हृत् कमल खिल उठा। सूखे मन से आनन्दी भावों के अंकुर फूट पड़े, यह सुनकर—

"......नमस्कार चाचा दाश......!"

उसे लगा, जैसे, युगों से इतना सुनने को ही उसकी आत्मा, आज तक, विकल

रही थी, यह मधुर रुनझुन सुनने को ही आज तक वह जीवित था सहस्रों मदिरा के प्यालों में भी वह मदिरता कहाँ जो माधुर्य इस समय, उसे चन्द्रमुख से निस्रत वाणी के सोम में उपलब्ध हुआ ? क्षण भर में सुधबुध खो गया वह। लगा जैसे एक अद्‌भुत आश्चर्यजनक अहिंसक क्रान्ति हो गई ?···पल भर में युग बदल गया, सदियों के द्वेष मिट गये, विना युद्ध लड़े ही विजय की तुष्टि मिल गई। भेद भाव की भित्तियाँ ढह गईं और उन्मुक्त आत्मा आनन्द से नर्तन कर उठी। उसने चिकौटी काटी, अपने वदन पर और हल्की सी चपत जड़ी स्वयं अपने गाल पर···कहीं अभी तक स्वप्न तो नहीं देख रहा···?"

मत्स्यगन्धा चिल्लाई, पागल हो गये क्या ?···अभी तक नशा नहीं उतरा···?"

शक्ति पुत्र ने, उसको इंगित से मना कर, आगे बढ़, अत्यन्त स्नेह से, मल्लाह का हाथ थाम, अपनी छाती से लगा, आलिंगन में कस लिया—

"क्या करते हो चाचा ! क्या मुझे पहिचाना नहीं ? मैं हूं···महर्षि शक्ति का पुत्र—पराशर,···आपका भतीजा।"

"धींवर दास का, बरसों का दैन्य धुल गया मानो, उस स्पर्श से। उसके हृदय का जागरित प्रेम, हृदय की दीवारों से सारे आशीर्वाद खुरच खुरच कर आंखों में तरला उठा। मोटे आँसुओं की दो बून्द टपक पड़ी, ऋषि पुत्र के वृषभ से कन्धों पर और कृतज्ञता के बोझ से बोझिल, दाशराज का सारा शरीर, पराशर की छाती से रपट कर, उसी ऋषि पुत्र के चरणों में झूल गया। गद्‌गद् वाणी में कुछ शब्द फूट पड़े—

"मुझे क्यों पाप में घसीटता है रे···!

कन्धे पर पड़े आंसुओं के पानी को हाथ से पोंछ, मस्तक पर चन्दन की तरह लगा, पुलकित मन हो, ललक उठे, सुकुमार पराशर—

"आप यह क्या करते हैं चाचा, सोचिये, आप आयु में मुझसे कितने बड़े हैं···? श्रम की पावनताओं और पवित्रता से अभिषिक्त, मंगलमय अश्रु बिन्दुओं को व्यर्थ नही गंवाया जाता···।

"तू ब्राह्मण है···।"

"आप अनुभव वृद्ध हैं, मेरे पिता समान हैं, चाचा !"

"मैं शूद्र हूं···।"

"नहीं, आप श्रमशील, पवित्र मानव हैं।"

"समाज यह मानने के लिये तैयार नहीं है मेरे लाल···" हिचकियों में सिसक पड़े दाश···। सान्त्वना की बौछारों में भिगोया पराशर ने।

"समाज को बदल दिया जायेगा चाचा !"

"कैसे ?" अस्फुट वाणी में फुसफुसाया प्रौढ़।"

"दृढ़ संकल्प से...।"

"बूढ़ा हो गया है संकल्प हमारा, ऋषिवर ।"

"उसे जवान करो, प्रौढ़ता में तो, उसे पक्का होना चाहिये ?"

"जवानी लौटकर नहीं आती तात !"

"जवानी कहीं नहीं जाती चाचा ! हर समय, हमारे साथ हमारी बगल में, हमारे बहुत निकट, दिल की गुफा में खड़ी रहती है ! सन्तान के रूप में बाहर और उत्साह के रूप में अन्दर । मन का उत्साह भंग हो जाय तो, तो लोग भरी जवानी में भी बूढ़े हो जाते हैं । मन जोश से भरा हो, तो बूढ़ों में भी जवानी की बिजली तड़तड़ाती है दाश चाचा ?"

"मेरी सन्तान......?"

"मुझे पराया मानते हो चाचा । कब तक यह भेदभाव, यह ऊँच नीच यह रंग-कुरंग बने रहेंगे । कैसे होगा युग परिवर्तन ? तुम्हारे संकल्प की पूर्ति...? जब तक तुम स्वयं ही भेदभाव और सवर्ण-असवर्ण की दीवारें, अपने मन के आंगन में खड़ी रखोगे, कैसे बदल पायेगी यह दुनिया ? दुरंगी छोड़कर इकरंग होओ चाचा ! हीन भाव छोड़ना ही होगा तुम्हें, तुम्हें सरल होना पड़ेगा, छिपे हुये वैमनस्य का परित्याग करना पड़ेगा तुम्हें । क्रोध हारता है, प्रेम जीतता है चाचा ! आवेश और आवेग ने तुम्हें अन्दर ही अन्दर मरोड़ कर तोड़ डाला है कहीं इतने दिन प्रेम की साधना में लगाये होते, तो यह आसमान चरणों में झुक जाता, आप जैसे वीर उत्साही के......।'

दाश, हक्का बक्का सा केवल खड़ा हुआ उसका मुँह देखता रहा । उसके हृदय के दहकते अंगारों पर, आज, जैसे, गंगा जल से भरा पूरा घड़ा, उडेल दिया था किसी ने ? उसकी सासों से, बरसों से सुलगती, आग की बुझन का ठण्डा धुँआ, उठ रहा था मानो । वह चाह कर भी बोल न पाया, उसे लगा, जैसे उसकी व्याकुल आत्मा को, परम शान्ति, अपनी गोद में, थपकियाँ दे दे, लोरी गा गाकर प्यार से सुला रही हो । उसकी आँखें, आनन्द के अतिरेक से, झपकने सी लगीं, शायद मूर्च्छा की स्थिति बन रही थी । पराशर ने झपट कर, अत्यन्त करुणा से, अपनी सबल बाहों में भर लिया उसे और शक्तिशाली जंघाओं के आसन का सहारा दे थाम लिया, गिरते दाश को ।

"......हिम्मत न हारो दाश ! जो स्वप्न तुम, भयंकर प्रतिहिंसा से पूर्ण नहीं कर पाये, वह स्वप्न, मैंने प्रेम की शक्तिशाली भावना से पूर्ण करने का, बीड़ा, उठाया है । ......मेरे पिता कहते हैं कि, प्रेम की पवित्र शक्ति के रूप में ही, उन्होंने मुझे जन्म दिया है । घृणा की ऊंची पर्वत शृंखलाओं को, विन्ध्याचल की तरह, झुका दूंगा मैं, भेदभाव और जातिगत वैमनस्य की, चौड़ी खाइयों को सदा के लिये पाट दूंगा मैं । सत्ता के ऊंचे नीचे टीलों को, समाज की उर्वरा प्रतिभा से, समतल करना है मुझे । अर्थ के वैषम्य को तोड़कर, सभी में सुख वितरित करना है चाचा ! निराश न

हो, मेरा साथ दे, तेरे कबीले की दुर्गन्ध को निचोड कर तेरी सन्तान को, अगरु की सुगन्ध से, सुवासित कर दूंगा मैं।···मैं ऋषि पुत्र हूं···मेरा वचन, मिथ्या नहीं हो सकता, निषाद राज ?···इसमें किसी ने कभी भी बाधा डालने का प्रयत्न किया, तो भयंकर महाभारत होगा, प्रेम को न पाया गया, तो भीषण प्रलय होगी। समन्वय को आधार न बनाया गया, तो संस्कृतियों के सेतु, सागर की उत्ताल तरंगों में, टूट टूट कर, स्वयं नष्ट भृष्ट हो, खो जायेंगे दाशराज !

मैं मन, कर्म और वचन से, प्रणय की अनुभूतियां लेकर नयी सन्तुति के रूप में, उभरूंगा, प्रेम रूप परमात्मन् को, अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ, पृथ्वी पर अवतरित होने के लिये, विवश कर दूंगा।

जानबूझ कर या अनजाने ही अथवा स्नायु दौर्बल्य से, मल्लाह एक खुमारी सी में डूब गया। उसने मुनि के अधरों पर अपना हाथ रख दिया—

"अधिक नहीं···बस और नहीं, इतना आनन्द एक साथ नहीं सह सकता मैं··· तेरी गूढ़ बातें, समझने में असमर्थ हूं, मैं···मुझे मेरे निवास तक पहुँचा दे बस···मैं खुशबू को खोना नहीं चाहता···कुछ देर बैठकर आनन्द लूंगा···यह नशा खराब नहीं करना चाहता मैं···बाकी इसे समझादे···बड़ी चतुर है यह···सब समझ जायेगी··· ले जा। जा बेटी ! इसे उस पार ले जा···कर ले अपनी नौका तैयार···छोड़ दे नाव को धारा में···खेले जा वहाँ···दूर···वहाँ जहाँ स्वर्ग का नन्दन कानन धरती पर उतर आता है, वृक्षों की सघन छांव ने जिसे श्यामल कर दिया है, यमुना के नीले जल में काले बादलों से गुपचुप आँख लड़ाता वह द्वीप जिसे···"

मल्लाह की झोपड़ी आ गयी थी, उसे उसके बाहर रेत पर ही लिटा, मुनि पुत्र किनारे पर नाव की दिशा में लौट चले, मत्स्यगंधा पहिले ही से पतवार थामें बैठी थी उसके आगमन पर ही उसकी दृष्टि टिकी थी, बड़ी बैचेनी से प्रतीक्षा हो रही थी क्योंकि रस्सी खुली होने के कारण नाव बह बह कर बीच धारा की ओर जा रही थी, जिसे वह यत्न से ही सहेज रही थी। बलपूर्वक किसी प्रकार लग्गी का सहारा देकर उसे रोक रखा था उसने।

शारीरिक और मानसिक ओज के मूर्तिमान आकार युवा ऋषि, दौड़ते हुये आगे आए और एक छल्लांग लगाकर नाव पर जा कूदे, नाव बड़े जोर से डगमगाई, झटका खाकर लुढक गई नाविक की बेटी। एक बारगी तो बुरी तरह झुंझलाई, पर, दूसरी ओर, ऋषि की खिलखिलाहट देखकर, झेंप गई और खिझाहट की हार न स्वीकार, खिसियाना छोड़, खुद भी, खिलखिला पड़ी···लगा जैसे सागर की गम्भीर गर्जना में जल तरंग की मधुर ध्वनि झनझना उठी।······पर इस चक्कर में चप्पू चलाना भूल गई नाविक की बेटी और नाव उसके अधिकार से निकल, तीव्रता से, अनिर्दिष्ट दिशा के प्रवाह में बह चली।···ध्यान आया, तो बड़ी कठिनता से सम्भाला

बेचारी ने। वह अब भी हँस रहे थे उसके भोलेपन पर। अब उससे न रहा गया और चिल्ला पड़ी वह—

"ऐ, पंडित जी ! ये बत्तीसी क्यों दिखा रहे हो ?"

"तुम्हारी जबाड़ी खुलवाने के लिये ?"

"मेरी···?"

"हाँ मुझे चुप्पी पसंद नहीं···मेरा स्वभाव है हँसना और मुझे हँसती हुई चीजें ही पसन्द हैं–हँसती धूप, हँसता चाँद, खिलती चाँदनी, हँसती लहरें, खिलती कलियाँ, हँसती नाव और हँसती (तुम)······?"

"और हँसती हुई मौत ?"

"मौत की नहीं, मैं जिन्दगी की सोचता हूं ।"

"जिन्दगी के पीछे ही तो मौत हँसती रहती है महाराज !"

"प्रत्यक्ष को छोड़ अप्रत्यक्ष को मान रही हो तुम तो ? कैसे मान लें कि पर्दे के पीछे कोई हँसता है या रोता है, मौत को किसने समझा है कि जीवटों के सामने पड़ी वह रोती है या हँसती है ? हाँ, हम हँस सकते हैं मौत पर भी···।"

"हँसना रोने से अधिक दूर नहीं होता महाराज। दोनों सापेक्ष जो हैं न ? हास्य के साथ रुदन ऐसे ही जुड़ा है जैसे जन्म के साथ मृत्यु। अब इठलाता जीवन, नाव पर, खिलखिला रहा है और अभी नाव डगमगा कर डूब जाती तो तुम्हारे डूबते ही मृत्यु खिलखिला पड़ती कि नहीं ?"

"देखो नाविक ! जिन्दगी की तरह नाव न जाने कितनी बार डगमगा जाती है यह मान सकता हूं मैं, पर डूब क्यों जाती भला ?"

"सन्तुलन न रहने से······।"

"ठीक मेरे सामने तुम हो नाविक ! नाव के उस किनारे पर बैठी हुई जिन्दगी सी, पतवार तुम्हारे हाथ में है और सन्तुलनबिगड़ जाता, भला क्यूं ? मैं तो नहीं मानता। मुझे अपने खिवैया और जीवन के कौशल पर पूर्ण विश्वास है······।"

"विश्वास टूट जाते हैं···विश्वासी !"

"कच्चे विश्वास लेकर नहीं चलता, जिन्दगी में विश्वास करने वाला, मैं, तुम्हारा सहयात्री, दूसरों की वैशाखियाँ लगा कर नहीं चलता। अपने आत्मविश्वास पर चलने की आदत है मुझे, वहाँ डूब कर ही किनारा हाथ लगता है।

"मैं किसी भावुकता या पागलपन की नहीं यथार्थ की बात कर रही हूं भावुक! नदिया की धारा ऽ ऽ ऽ···

"नदिया की धार भी, बहते जीवन प्रवाह सी ही है नाविक !"

"कहने में सरल है ब्रम्हणा ! क्रिया में कठिन···।"

"क्रिया में उतार देखिये···।"

"काश, मैं ऐसा कर सकती···।"

"आप कर नहीं सकती न ? मैं जानता हूं क्यूं···? क्योंकि आप नाविक हैं और

नाविक का धर्म है पार लगाना, डुवाना नहीं। तभी तो जिन्दगी के रूप में देखा है तुम्हें और चाहता हूं जिन्दगी हँसती रहे···।"

"हँसने की छोड़ो, तुम तो डूवने का प्रयत्न कर रहे हो, जब खुद डूवने लगे कोई तो कौन बचा पायेगा उसे ?

"···तो भी नाविकका धर्म है उसे वचाने की सोचे, सोचे ही नहीं प्रयत्न करे।"

"सोच लिया, ऐसे में वचाने का अर्थ है खुद डूव जाना ?"

"पर वचाना तो वचाना ही है, उसका अर्थ दूसरा कैसे हो सकता ?"

"उसे वचाने के प्रयत्न में, यदि···?"

-"वह तो दैव कृपा हुई···परम सौभाग्य···!"

"डूव जाना···?"

"किसी को वचाते हुये डूव जाना ? साथ साथ डूवने का आनन्द भी तो विचित्र होता है ?"

"मैं पहेलियाँ नहीं बुझा रही महाराज ! मैं ऐसे किसी के साथ डूव मरने को तैयार नहीं।···अकेले डूवोगे यहाँ···।

"अकेले कोई डूवा है आज तक ? डूवने के लिये दूसरी चीजों की जरूरत होती है···जल की जरूरत होती है, अपने से गहरे जीवन (जल) की, छिछले की भी नहीं, गहरे की···।"

'जल तो वहुत गहरा है यहाँ, और ठण्डा भी···।

"तो डूव भी जायेंगे···।"

"फिर विलम्व की क्या वात···? शुभ कार्य में देरी क्यों ?"

"एक व्यवधान है बीच में, नहीं तो तुरन्त मिल जाता जीवन जीवन में···।"

"क्या व्यवधान है यहाँ, खुला तो पड़ा है सव कुछ···?"

"एक तो नाव का काष्ठ शरीर है यहाँ···।"

"नाव तो डगमगा कर डूव ही जावेगी उसकी चिन्ता छोड़िये और तुरन्त मंगल प्रयाण की तैयारी कीजिये···।"

"एक और बाधा है···।"

"क्या···?"

"खेकर ले चलने वाले का आकर्षण नाविक―।"

"वह तो साफ जायेगा वचके···।"

"कायरों की तरह ?"

"कुछ भी कह लो, तुमने अपनी नियति खुद गढी में तो नहीं···?"

"ऐसे लोगों पर कुछ देर हँस लेने का अधिकार तो है ही हमें···।"

"हंसने का अवसर किसे मिल पाता है डूबने से पहिले ?"

"हँसने वाले अपनी राह खुद तलाश लेते हैं नाविक ! कहा न, उन्हें दूसरों की वैशाखियों पर चलने की जरूरत नहीं, फिर यह कैसे सोच लिया तुमने कि दूसरा

तुम्हें यूँही छोड़ देगा ? दौड़कर तुम्हारा पीछा नहीं पकड़ लेगा।"

"व्यवहार ज्ञान के अभाव में।"

"व्यवहार अभी आजमाया कहाँ है तुमने ?"

" उसे आजमाने की जरुरत भी क्या है? युगों का इतिहास साक्षी है – कोरा शब्द ज्ञान क्रिया का रूप तो नही ले सकता ? "

"इतिहास को साक्षी बनाते हैं वे जो नया इतिहास गढने में असमर्थ होते हैं। मैं एक नया इतिहास गढने का संकल्प ले चुका हूं बाले ! शब्द ज्ञान क्रिया नही हो सकता, मानता हूं किन्तु शब्द ज्ञान क्रिया के समझने में सहायक तो हो सकता है न ?"

"कैसे ?"

' सम्भाषण से ? "

" अन्तर क्या पड़ा, बात तो वही रही ? "

" सम्भाषण, शब्द ज्ञान भी है और एक क्रिया भी, ऐसी क्रिया जिससे एक मन खुलकर दूसरे का स्पर्श करता है। "

"यह क्या सम्भाषण से ही सम्भव है, व्यवहार से नही ? करनी और कथनी का अन्तर तो. अर्थ की नही, अनर्थ की सिद्धी करता है, बाल मुने ! "

'जरा समझाइये... । "

"मैं तुमसे कहूं कि मैं तुम पर जान देती हूं, प्यार करती हूं और डूबा दूं यहीं पानी में ... तो क्या प्यार हुआ ? "

इसे, मैं यह कहूंगा, कि तुम्हारे पास शब्द ज्ञान का अभाव है, तुम्हे हो ही नहीं सका शब्द ज्ञान, तुम उसे आत्मसात करने में भी असमर्थ ही रहीं। प्रेम शब्द का ज्ञान तुम्हे जिस दिन हो जायेगा और उसका अर्थ जिस दिन तुम्हे आत्मसात हो जायेगा उसी दिन, स्वतः ही भावुक मन में कलियाँ चिटकने लगेगीं। मन में गुदगुदी सी उठने लगेगीं, अज्ञात कल्पना से मन धड़कने लगेगा, पुलक और रोमांच से तन मन प्रमुद्रित हो उठेगा, आंखों में निराला सरुर छा जायेगा।

शब्दों में, सूक्ष्म भाव क्रियायें, छिपी होती हैं, बाले ! जो स्पन्दनों में मुखरित होने लगती हैं ...... पर यह शिक्षा की बातें हैं, तुम ठहरी .... तुम्हारी समझ में देर से आयेंगीं। पल भर में मानसी संसार कैसे रच जाते हैं, यह वशिष्ठ की सन्तान बहुत अच्छी तरह जानती है. . . . . ।"

"यही तो आप लोगों का सबसे बड़ा दोष है- जब बात को समझा नही पाते, तो पंडिताई का रौब झाड़ना शुरु कर देते हैं, बाप दादाओं के नाम की ओट लेकर खड़े हो जाते हैं या मोटे मोटे ग्रन्थों को लाद लेते हैं दिल दिमाग और जिगर पर।"

"और यह क्या तुम लोगों का दोष नही कि जिस विषय को समझना, तुम्हारे लिये कठिन है बिना परिश्रम किये ही, उस पर चर्चा शुरु कर देते हो, चर्चा ही नही आलोचना प्रत्यालोचना भी प्रारम्भ कर देते हों।"

"मैंने तो सीधी बात कही थी, कि, नाव डूब गयी तो मौत आ जायेगी और सारी हंसी कपूर की तरह उड़ जायेगी।"

"मैंने भी उतनी ही सीधी बात कही थी, कि हँसना मेरा स्वभाव है और हँसती हुई हर चीज मुझे पसन्द है, हंसते हुये मैं सब कुछ देखना चाहता हूं। क्या हँसते हुये मौत को नही देखा जा सकता ?"

"मौत एक भयानक सत्य है और भय से हँसी गायब हो जाती है महानुभाव !"

"भय एक दुखान्तिक भाव है और जहां यह हो ही नही वहां मौत भी हँसती हुई नजर आती है महानुभाविका !"

"अनोखी हैं तुम्हारी बातें ?"

"नही एक सत्य भी है इनमें।"

"कैसे ?"

"किनारे पर खड़े हुये व्यक्ति के लिये, तुम्हारा नदिया की लहरों से खेलते हुये देखना, भय उत्पन्न करता है, पर तुम्हें वह मामूली ही नहीं, स्वप्न में भी भय नही होता तुम्हे, तुम "हैया हो, हैया हो" करके, आनन्द के गीत गाती हुई, नाव खेती रहती हो और खुशी से खिल खिलाकर, मुस्कराती रहती हो।"

"मुझे मालूम है मैं तैरना जानती हूं, डूब नही सकती।"

मालूम है तुम तैरना जानती हो, तैर कर बच भी जाओगी डूब नही सकती, किन्तु तुम तैरती हुई नही होती; केवल "तिर जाना" शब्द या उसका भाव, कहीं तुम्हारे मस्तिष्क में पडा हुआ होता है। क्रिया के अभाव में भी, तुम, क्रिया का लाभ, प्राप्त कर रही होती हो।

"पर जिसे तैरना नही आता, वह उस शब्द का लाभ किसके भरोसे पर उठायेगा ?"

"अपने नाविक के।"

"गैर का क्या भरोसा ?"

"गैर कौन है ?"

"मैं।"

"मैं या यह शरीर ?"

"मैं या शरीर, दो थोडे ही हैं ?"

"दोनो हैं ही।"

"क्यों ? कैसे ?"

तुम मुझसे उलझ रही हो, तुम्हारा शरीर तो नहीं ? तुमने मुझे छुआ भी नही और अब तक एक पूरी कुश्ती तुम मुझसे लड़ चुकी हो; मुझे हराने का पूरा प्रयत्न कर चुकी हो, कभी शब्दों से, कभी मन से ···। 'मैं' और 'शरीर' दो नही, तो, मृत्यु का भय क्या ? "मैं" तो अब भी ऐंठ रहा है फिर भी ऐंठता रहेगा। हां इतना जरुर है

कि मैं और शरीर दो नहीं हैं, मैं और मेरा नाविक दो नही हैं। मेरे नाविक का भरोसा झूठा नही है, वाले ! अनन्त की यात्रा पर जीवन की नौका जिसे सौंप दी है वह मेरा नाविक न तो झूठा है और न ही मुझ से अलग, न वह कभी डूबा है और न कभी किसी को डुबाता है…"

वह अपनी कहे जा रहे थे, वह अपनी सोचे जा रही थी। बड़े असमंजस में पड़ गई थी मल्लाह की वेटी। उसने अन्दर झांकना शुरू किया…कुछ तो सार लगता है इसकी वातों में ?…जब वह वावा को छोड़ने गया हुआ था…मैं नाव पर वैठी जरूर थी, चप्पू मेरे हाथ में था नाव लहरों पर हिचकौले ले रही थी, वह वार वार प्रवाहमें वही जारही थी शरीर वलपूर्वक उसे रोकने का प्रयत्न कर रहा था…पर मैं तो इस मुनि पुत्र के साथ ही उड़ी जारही थी, तव भी,वावा को छोड़ने…और कई वार तो मानो वावा को पकड़े हुये इससे टक गई भी, इसके हाथ पर मेरे हाथ पड़े, कन्धे घिसे…इसके स्पर्श का भाव मन में आते ही सिहरन सी दौड़ गई।…पर यह वात मैं समझ क्यों नहीं पाती…?" प्रत्यक्ष में वोली फिर वह—

"पर इसका तुम्हारे डूबने और हँसने वाली वात से क्या सम्बन्ध है ?"

"सम्बन्ध है। मैं डूबने में भी एक आनन्द देख रहा हूं और तैरने में भी। तुम तैर कर डूबने से बचने की इच्छा करती हो, मैं डूबने के विना तैरने की कल्पना नहीं कर सकता। मैं दोनों का आनन्द ले सकता हूं। डूवने से वचने के लिये ही जाने क्यों, लोग, तैरने की वात किया करते हैं किन्तु जल का स्पर्श किये विना कोई तैर सका है अव तक…तैरा हो तो हवा में भले ही या मन की नदिया में…?

"इस नाव पर, पानी का स्पर्श किये विना, तुम तैर रहे हो, या नहीं ?"

"यह नाव, क्या, पानी का स्पर्श नहीं करती ?"

"शरीर नाव से ही तो जुड़ा है, इससे दो हाथ ऊपर, आसमान में तो नहीं है वह ?

"नाव टूट भी तो जाती है ?"

"तो नाव खेने वाले का भरोसा होता है।"

"कैसे सम्भव हो सकेगा यह ?"

"लगता है वातों में तुम्हें विशेष रस आता है, तभी तो छेड़छाड़ कर वहीं आ जाती हो, जहाँ से चलती हो…सुमुखी ! आत्मविश्वास ही जीवन के अस्तित्व की कल्पना का सृष्टा हो कर, उसे विचित्र रूप दे रहा है। नाविक है मेरा विश्वास, जो मुझे धोखा नहीं देता…धोखा देने वाले कच्चे विश्वासों को मैं अपना साथी नहीं बनाता आगे वढ़ने से पूर्व झकझोर कर देख लेता हूं सव कुछ…। मैं वहाँ पग रखता हूं जहाँ मौत और जिन्दगी एक होकर मेरे साथ चलते हैं विश्वास दृढ़ है, तो मौत भी जिन्दगी बन जाती है, रे, मेरे, मांझी। लोग मरकर भी अमर हो जाते हैं, साथी।

"अटपटी हैं तुम्हारी बात ? विश्वास से जिन्दगी नहीं कटती, यह धोखेबाज बड़ी कठोर है।"

"बात कितनी भी अटपटी हो देवी ! किन्तु विश्वास पर ही जीवन चलते हैं, गृह, परिवार, कुटुम्ब और समाज के समस्त नाते विश्वास की शक्ति पर जुड़े हैं, जैसे गुरुत्वाकर्षण से ग्रह पुञ्ज।···विश्वास के सहारे ही चलती है जिन्दगी की नाव। विश्वास के बिना तो पल पर भी नहीं कटता, अनुरागिनी ! डूबने, डुबाने और बचाने वाला तो जाने कौन है ? जिलाने और मारने वाले का भी किसी और को पता नहीं। खेल चल रहा है, खिलौने खुद बनकर खेले जा रहे हैं हम। खिलौनों से खेलने वाला जाने कौन, जब तक जी में आता है, जी भर कर खेलता है और जब जी भर जाता है तो तोड़ देता है काया के खिलौने।···शायद नये सपनों से मचल उठता है।···एक विश्वास के सहारे ही तो हम जिये जा रहे हैं बस ! हँसते हुये जी लें या रोते हुये जी लें। विश्वास आत्माओं को इतना निकट कर देता है, कि, शरीर नगण्य हो जाते हैं···यह नदी, देख रही हो,—सागर की ओर दौड़ी जा रही है। किसी विश्वास के सहारे ही उसके सीने में समा जाती है। इसे पता भी नहीं चलता कि कब डूब गई ? सरिता का तो नाम भी शेष नहीं रहता; सागर शेष रह जाता है पर फिर भी, सागर की उत्ताल तरंगों में इसका विश्वास गरजता रहता है, गरजता रहता है इसका प्यार, प्यार ही प्यार······

पुरुष प्रकृति से प्यार करता है, प्रकृति से प्यार करके वह स्वयं से ही प्यार करता है, प्रकृति उसी का तो व्यक्त रूप है न ? मैं तुम से प्यार करता हूं मत्स्यगन्धा ! मैं, दो से एक कर देना चाहता हूं। आसमान को धरती पर उतार कर क्षितिज का अप्रत्यक्ष धरातल उभार लेना चाहता हूं मैं। मेरा मन चाहता है उस क्षितिज पर खड़ा हो कर, तुममें, सम्पूर्ण, समा जाऊं और उस अकल्पनीय रूप में सामने आऊँ जो प्रेम और विश्वास का प्रतिरूप हो ··· ।"

भावावेश में, कुछ निकट, आ गये थे, युवा ऋषि। उन्होंने मत्स्यगन्धा के प्यासे नयनों में, जाने कैसे, झांका, कि उसे लगा कि शक्ति पुत्र, सारे का सारा, उसमें उतरता जा रहा है, पर सम्भालना कठिन हो गया था, शायद, वह भार, उससे। उसे लगा वह निढाल हो जायेगी ··· एक ही किनारे पर दोनों के, इतना निकट, आने से नाव का सन्तुलन बिगड़ने लगा वह मात्र उंगली के संकेत से ही दूर बैठने के लिए कह सकी। ऋषि ने, समय की नाजुक स्थिति को, समझा और तुरन्त दूसरे किनारे पर हट गये, सन्तुलन, ठीक बैठ गया, नाव के साथ वह भी सम्भल गयी थी ? अब वह उचित उत्तर देने की स्थिति में थी, बोली—

"लगता है आप बहक रहे हैं मुनिराज ! मुझे आपसे भय लगने लगा है ?"

भय, इसलिये, लग रहा है, कि, तुम, मुझे, ऐसे नहीं देख पा रही, जैसे मैं,

तुम्हें, देख रहा हूं। तुम भेद की खाई में पडी हो, मुझे अपने से अलग मान रही हो, वरना, अपने आप से भी डरता है, क्या, कोई ?...

"हाँ, डरना ही चाहिए हमें, जब अपने ही आपको, नोच लेने का पागलपन हम पर, सवार होने लगे ?"

"पागलपन में किसे पता रहता है अपना, चिन्ता न करो, अभी तुम उससे बहुत दूर हो, उस स्थिति में नाचने से डर नहीं लगता, वही आनन्द बन जाता है मुग्धे ! ...तुम्हारी दृष्टि, शरीरों पर है ये तो बीच की बाधा है, इन्हे तोडकर ही नही, जोड़ कर भी, अन्तः करण के देवताओं को प्रसन्न किया जाता है यौवने ! मेरा मन छटपटा रहा है मैं एक एक पल में, इस तन की कारा को तोड़ कर, तुम में समा जाना चाहता हूं सुकन्ये ! "

"क्या इन शरीरों को समाप्त कर देना चाहते हैं आप !"

"तुम शरीर को ही सब कुछ मानती हो क्या ? "

"मैं प्रत्यक्ष की बात कर रही हूं, यथार्थ तो यथार्थ ही है मुग्धमन !'

"...तो यथार्थ को यथार्थ रहने दो, इन्हे भी मिलने दो, सुतनु !"

'...किन्तु चट्टाने टकराती हैं तो चिंगारियां फूटती हैं, मेघ गरजते हैं और बिजलियां कडकती हैं, हरे भरे जंगल भस्म हो जाते हैं पल में ?"

"प्रेम का जल भी तो बरसता है, प्रत्यक्ष वर्षा बन कर। चट्टानों का चूरा, उर्वरा भूमि का वक्ष बन कर, उभरता है। अमृत वर्षा से अतृप्त धरती की चिर-संचित प्यास बुझ जाती है और सृष्टि के नव अंकुर फूट पड़ते हैं जो इतने विशाल वनों को जन्म देते हैं कि जिनकी सघन छाया में, सम्पूर्ण आकुल मानवता को, विश्राम मिलता है।

"कपोल कल्पनाएँ हैं सब !...ऐसी कँटीली झाडियाँ भी हैं, जो मानवता के सुन्दर आँचल को चीर चीर कर देती हैं।"

"ऐसी कामना ही क्यों की जाय भला ?"

"इसलिये, कि, अनेक बार, विलासी काम ने नारी के मार्ग को कंटकाकीर्ण किया है; सागर की उत्ताल तरंगों ने बहती नदियों के जीवन से खिलवाड़ कर, गन्दले प्रदर्शन ही किये हैं छिछली तलछट बनायी हैं और दूभर डेल्टा तैयार किये हैं...।"

"क्या उन पर सुन्दर वन नहीं उपजे ?"

"क्या उनमें विषैले नागों और हिंसक तेन्दुओं ने जन्म नहीं लिया ?...नदिया और सागर का सम्मिलन, एक सुन्दर कल्पना है किन्तु वह नदी के अस्तित्व की समाप्ति की घोषणा भी है। इससे इतना अधिक प्रसन्न होने की आवश्यकता नहीं समझती मैं, भाव-भुवन-विलासी मुनिवर !"

"नदिया और सागर, अलग ही कब थे तार्किके ! सागर में समा कर भी तो वह एक तत्व ही रहती है, केवल नाम ही तो लुप्त होता है। नाम रूपात्मक सृष्टि

को समाप्त किये विना तो असली तत्व का चिन्तन कठिन है वाले ! मैं और तुम···।"

"तुम कहना क्या चाहते हो···?"

"जो कोई भी पुरुष किसी नारी से कहना चाहता है।"

"तुम्हारी नीयत खराव हो रही है, लाज आनी चाहिये तुम्हें···।"

"लाज और भय के किनारों से वहुत दूर आ गये हैं हम दोनों···उनका स्मरण न करो, वे वीच के सूक्ष्म व्यवधान हैं, स्थल की तरह उन मनोविकारों को भी त्याग दो···।"

कितनी बार, मछरिया सी, यमुना में, निर्वस्त्र तैरते देखा है तुम्हें। पता नही, कौंन सा आकर्षण, निरन्तर, तुम्हारी ओर प्रेरित कर रहा है मुझे, एक एक पल, तुम से संयोग के लिये, तरसा है वावरा मन। आज पिता की अस्वाभाविक विरक्ति और पलायनवादी रूढ़िगत संस्कारों से विद्रोह कर, तुम्हारी मद मायी चितवन और मोदमय उन्मत्त तन के मदिर आह्वान पर, तुममें डूवने के लिये चला आया हूं मंजू श्री ! सारी रात मल्लाह के आलिंगन में, एक अप्सरा को देखकर काम की आग से जलता रहा; प्रौढ़ों के प्रणय-आलिंगन से प्रज्ज्वलित होता रहा, फूल सा युवा मन; निश्वासों में सुलगता रहा अलसात यौवन···मैं तुम्हें अंक से लगाकर, शीतल हो जाना चाहता हूं, सौन्दर्य की सजीव हिमप्रतिमे !

"स्वभावत: ही मल्लाह की वेटी से अधिक सुन्दर होनी हैं ऋषि कन्याएं और देवकन्याएं भी तुम्हें शीतल कर ही देंगी कोई न कोई, मुझमें न वह सौन्दर्य हैं न वह गन्ध···इतनी आकर्षक तो नही मैं···तुम ··मुझे शब्दों से ठग रहे हो···मैं तुम्हारा मन्तव्य नहीं समझ पा रही···तुम···तुम मुझे भृष्ट क्यूं करना चाहते हो···?"

"सूर्य को देखकर कमल खिलता है, चन्द्रमा को देख कर चन्द्रकान्तमणि पिघलती है; खोजने पर भी कोई वाहरी कारण, आज तक कोई तलाश न कर पाया। मीन से मोहक, इन नील नयनों में, यह अलसाता मन, क्यों डूव जाना चाहता है; रूप के विकसते कमल कोप में किस गन्ध को तलाश रहा है मन भ्रमर; अजाने ही प्रेम का पराग क्यों उडने लगा है मन के उजाड़ मरुस्थल में···तुम ही वतला दो न ?"

"न प्रेम का पराग यहां है, न काम का पुरुषार्थ और न ही मन का अनुराग—नितान्त वासना की गन्ध है, कामान्ध ऋषि पुत्र !"

"नहीं, प्रेम की मोहकता कहो तुम, इसे !"

"प्रेम समर्पण का नाम है।"

"समर्पित हूं मैं तुम्हें···।".

"समर्पण तन, मन और प्राणों का भी करना पड़ता है···।"

—दांत किटकिटाए उसने।

"प्राण दे सकता हूं मैं, लो प्रस्तुत हूं, निकालो कृपाण, चीर दो वक्ष और

और निकाल कर खेलो इस पुलकते हृदय से।" छाती से वस्त्र हटा दिया ऋषि ने।

"मल्लाह की बेटी को फुसलाना, सरल नहीं, विदग्ध मुने! तुम्हारे जैसे न जाने कितने आते हैं इस नाव में और उघड़े सुपुष्ट अंगों को देख, न जाने कितनी जीभ लपलपाते हैं, यहाँ···अवला न समझना, कोमलता की प्रतिमूर्ति नहीं, मूंगे की चट्टान हूं मैं···टकराओगे तो तन की नौका चूर चूर हो जायेगी, यात्री!"···उसका मुंह तमतमा आया, चप्पू नदी में फेंक, छलांग लगादी, पानी में, उसने, और चुपके से नाव से लटक उलट दिया उसे वहीं···ऋषि पुत्र बुलक बुलक करने लगे।

मत्स्यगन्धा, छपछप तैरती, उस पार जाने का उद्योग करने लगी, ऋषि जल में ऊपर नीचे होते हुये चिल्लाये—

मीनाक्षी ऽऽ! मैं तैरना जानता हूं···तैर कर पार भी जा सकता हूं···चाहूं तो आसानी से तुम्हें पकड़ भी सकता हूं···किन्तु यह प्रणय का आह्वान न होगा, प्रीति का अनुदान न होगा, पैशाचिक क्रीड़ा का क्रूर प्रतिदान होगा।···मैं तैरूंगा नहीं बलिदान दूंगा···चाहे डूब जाऊं···मुझे खुद पर भरोसा है, अपने प्यार पर भरोसा है और विश्वास को।···लो देखो, तृप्त हो लो तुम···मैं जल समाधि ले रहा हूं···पर, याद रखना—मेरी मृत्यु का, उत्तरदायित्व तुम पर होगा केवल तुम पर···हाँ तुम पर तुम्हारी अन्तरात्मा तुम्हें क्षमा न कर सकेगी नाविक। शान्ति न पा सकोगी मत्स्य कन्या, तुम!···मांझी होकर भी, वीच भंवर में डुवा रही हो तुम मुझे? नारी होकर भी प्रीति को ठुकरा रही हो, याद रखना।···मैं यह भी जानता हूं तुम ऐसा न कर सकोगी···नहीं कर सकती तुम ऐसा···कर सकती हो तो करो···मैं चला, जीवित ही जल समाधि लेने···विदा मेरे मांझी! विदा।···विदा मेरे साथी, अन्तिम विदा··· याद रखना···मैं अगले जन्म में तुम्हारी फिर तलाश करूंगा···जन्मों तक पीछा नहीं छोडूंगा तुम्हारा······

वह एक बात पर फिर कर देखती, गर्दन घुमाती, मुंह पिचकाती, बडबड़ाती दो चार हाथ मार तैर कर आगे बढ जाती,··· फिर पीछे देखती और — "अरे जा कलमुंहे कामी! ··· कसम है तुझे ··· जिवत न लौट आना ··· नहीं तो किनारे पर आने से पहिले ही तेरा सिर फोड़ दूंगी ··· ।" चिल्लाती हुई ऋषि से विपरीत दिशा में जा रही थी।

अरे यह क्या ··· यह तो सचमुच ही ऋषि पुत्र ने अपने हाथ पांव ढीले छोड़ दिये क्या? न कोई छपछपाहट न तैरने की क्रिया ··· ? दो चार वार पानी में ऊपर नीचे हो कर डुबक डुबक किया ··· कुछ देर पानी में बैठ कर, देह, लाश के समान, ऊपर आकर, प्रवाह के साथ जल में बहने लगी!

मत्स्यगन्धा ने देखा, एक क्षण रुक कर उसने देखा, उसने आश्वस्त होना चाहा ··· कहीं अभिनय तो नहीं कर रहा मसखरा ऋषि?···जब विश्वास हो गया कि

अभिनय नही, सचमुच ही उसकी लाश वही जा रही है, उसके मुह से अत्यन्त दुःख में, आह निकली — "हाय राम," उसका मन मोम सा पिंघलने लगा, बैचैनी से कुलमुलाने लगी वह, वर्फ की चट्टान सा कठोर मृत, नारी मन की, करुणा भरी, आंच पा कर गलने लगा। फिर भी उसने अपने आप पर वल पूर्वक नियन्त्रण किया, क्रोध और प्यार के झूले में झूल रही थी वह। ··· पर अचानक उसके मुख से चीख निकल गई, जव उसने देखा—एक वडा भारी मगरमच्छ, वहुत दूर से, उस लाश की तरफ बढा, चला, आ रहा है। उसका नारी मन तरला उठा। न जाने, कर्म की किस डोर ने, उसमें गति उत्पन्न कर दी और वह विजली सी छपछपाती उस लाश के पास जा पंहुची तथा कटि वस्त्र में खोंसे कृपाण को निकालकर, मगरमच्छ से जूझ पड़ी ऐसे जैसे दुर्गतिनाशिनी दुर्गा विकल महिषासुर पर झपट पडी हो। यमुना के निर्मल जल में सहसा, एक अनोखा, भयंकर - द्वन्द्व शुरु हो गया, मानो कोई प्रभञ्जन खडा हो गया हो। आलोड़ित - विलोड़ित, दुग्ध - धवल - फिनिल जल चक्रवात और स्तम्भों को देखकर, ऐसा लगा जैसे लघुस्तर पर पुनः समुद्र मँथन प्रारम्भ कर दिया गया हो। मथ मथ कर, फेन,और बुलवुले विखर रहे थे। मगर, जोर जोर से, पूंछ पटकता, तो, ऐसा लगता जैसे कोई पहाडी चट्टान, टूट टूट कर झरनों के साथ वही चली आ रही हो। पहाड़ी नद नाले जैसे उथल पुथल मचाकर पर्वत की गहरी घाटी में गूंज पैदा करते हैं, घात प्रतिघात के बीच, प्रति ध्वनित गूंज और शरीर की चमचमाहट के साथ जल धारा, जल स्तम्भों से उभर उभर, बुरी तरह गुर्रा गुर्रा कर कान के पर्दे फाड़े दे रही थी जैसे नीले वादलों में गडगड़ाती विजली चमचमा रही हो।

अन्नतः, मल्लाह की वीर चतुर वाला ने अपना दांव तलाश लिया और मगर के कोमल उदर स्थल को, निशाना वना, चक्कर काटकर, दमादम वार वार कृपाण घोंपना शुरु कर दिया। खून की रेख, पानी की सतह, पर उभरी और विशाल रक्तिम चक्र वन गया, यमुना का नीला जल खून की लाली से भर उठा मगर, अन्तिम सांस गिनता हुआ, एक वार फिर, झटके से दूर छिटक गिरा और छटपटा कर करं दम तोड़ दियाउसने। कुछ देर तो, पानी में डूवता सा, नजर आया, पर कुछ क्षणों वाद ही काठ के लट्ठे सी तैरने लगी उसकी लाश, अगणित कछुए मन चाहा आहार पाकर उस पर लपक पड़े।

वहुत थक चुकी मल्लाह की लड़की, फिर भी, काम को अधुरा छोड़ना, उसने न सीखा था। त्वरा के साथ, वह फिर, विजली सी चमकी और छपछपाती, मछली की तरह पानी पर दौड़ती सी, एक ही छल्लांग में, वहते हुये पराशर के शरीर को, उसने, गपक लिया और स्वयं तैरते हुये, भारी परिश्रम से उसे खींच, यमुना के वीच, उभरे काले टापू के किनारे पर पटक दिया। पर दुःख आवेग विस्मय और आशंका के वीच इस प्रयत्न में वह स्वयं भी इतनी थक चुकी थी कि वह अपने शरीर को भी संभाल न सकी, वह खड़ी न रह सकी, निढाल होकर ब्रह्मचारी के शरीर पर ही गिर पड़ी।

जब होश में आई और उसकी आँख खुली, तो, उसने अपना सिर, मुनि की गोद में टिका पाया, जो अत्यन्त कारुण्य भाव या विषम प्रेमावेग से, उसके मुख पर झुके, आकुल होकर उसके बालों को सहला रहे थे। उसकी आँख खुली, दृष्टि मिली, मन में अद्भुत हमचल हुई, पर शीघ्र ही विचित्र सन्तोष में बदल गयी। एक बार बिजली सी, सरसराई उसके तन में, पर स्पर्शजनित, अद्भुत आनन्द को पाकर, तन्मय हो गई वह, उसे वह खोना न चाहती थी; चाहकर भी उठ न सकी। एक बार नयन खोले, मुनि के प्रीति भरे मुखपर सतृष्ण दृष्टि जल, उसकी आकर्षक छवि को पुतलियों में उतार, पलकें बन्द कर ली उसने और मन ही मन मनुहार करने लगी वह।

मूर्च्छा थी या आन्नद का अतिरेक, वह निढाल हो चुकी थी। जान बूझकर यां प्रेम की परवशता से पड़ी रह गयी। ऋषि की गर्म गर्म सांसे, किसी अजाने आनन्द से, पुलकित कर रही थी।

यौवन, जब उन्मत हो कर, रूप में झलकता है, तो रंग का महत्व नगण्य हो जाता है, बल्कि, सांवला रंग तो, विजलियों की घटा बनकर, दमक उठता है; उस पर तीखे नाक - नक्श और शरीर का गठन और बदन का उभार, हाय ! क्या कहिये. मुनि लाख प्रयत्न करने पर भी, अपनी दृष्टि हटा न, पारहे थे उससे। तो भी मत्स्यगन्धा में महकती शरीर की अनचाही गन्ध ··· ? ··· पर काम के आवेग ने किसे होश में छोडा है ? अद्भुत चेतना संचरित हो रही थी ऋषि पुत्र में, चाह कर भी वे उसके स्पर्श को छोड़ नही पा रहे थे—

स्पर्श को त्याग नहीं रहे थे। साँसो की तीव्र गति के साथ, उठते उभरते, पानी से भीगे, नग्न प्राय वक्ष पर, नवनीत के शंकु आकार स्थूल गोलकों से, वे पीन पयोधर, मानो मसले जाने के लिये ही, कुलिश पाणि-उनके-कसमसाते करतलों को, बरबस आकृष्ट कर, चित्त में विचित्र कसाव सा पैदा कर रहे थे। पर्वत श्रृंगों के बीच बनी सी, छाती के उठान में गहराती घाटी से निकल कर, ढलान पर दौड़ती हुई सरिता सी, चिकनी रेखा, किसी नागिन की तरह, सुते हुये पेट पर रेंगती हुई त्रिवली के पास नाभि का स्पर्श कर, फुफकारती सी जान पड़ी क्योंकि उसके पार्श्व-क्षेत्र में विशेष स्फुरण से अचानक थिरकन सी होने लगी थी। उसे देखते ही मुनि के, सम्पूर्ण शरीर में, एक साथ ही. विद्युत धारा का प्रवेश हो गया, सांस ऊपर खिंचने लगे लगा जैसे छाती से लेकर जंघाओं तक, सारा शरीर, एक वार ही, ऐंठने लगा हो और उसमें अन्दर ही अन्दर चींटियों का विशाल काफिला रेंग रहा हो। वे अकुला उठे। काली काली रेशम की लच्छियों सी अलकों में उगँलियां घुमाते घुमाते, कंधो, बगलों और साँपिन सी चिकनी बांहों पर अपना हाथ फेरने लगे। संयम को द्वन्द्व में काम का मधुर आकर्षण झेलते, हुये निरस्त हो गया उनका काम विह्वल मन और उन्होंने, उसकी लाल कमल सी कमनीय हथेलियों पर अपनी कसमसाती हथेलियों को रख, अचानक ही उंगलियाँ

में उंगलियाँ फंसा, कसना शुरू कर दिया। अद्भुत इन्द्रजाल था या कसकते यौवन की मधुर पीड़ा ? उन्मत्त हो उठी वाला, रोक न पायी कसमसाती उंगलियों को, उल्टे, उसने भी मुनि की उंगलियों को जकड़ कर भींच लिया कैंची कुलिशता आ गई कोमल उंगलियों में, कहा नहीं जा सकता ? मुनि का मन दुगुना हो गया, आवेग वाढ़ उफनती नदी की तरह, वढ चला; उन्होंने, तुरन्त, हाथ को ऊपर उठा, उसे खींच, अपने धधकते वक्ष से चिपटा लिया और फूल से बदन को लेकर सहसा उठ खड़े हुये और उसे उसी तरह चिपटाए हुये, कन्धे पर सहेज, द्वीप पर बनाई, अपनी कुटिया पर ले चले। उन्मत्तता थी या आवेग, या मूर्छा थी अतिरेक, कसमसाती चाह थी या विलसते रास का उमड़ता उत्साह, अद्भुत अभिनय की भंगिमा थी या प्रकृत मानव का स्वाभाविक कामविलास—कोई प्रतिवाद नहीं किया मुग्ध मीनाक्षी ने। ऋषि पुत्र ने, उसे ले जाकर, अपूर्व सुगन्ध से सुवासित, पुष्पों के ढेर पर डाल दिया, मत्स्यगन्धा के तन की गन्ध पर, मुनि की वाटिका के अनुराग से अनुरंजित, असंख्य सुमनों ने, अपनी सुहासिनी सुगन्ध को लुटा आज, अपना अहोभाग्य समझा था। सारा वातावरण सुवास से महक उठा। रोमांचिता हो रही थी, नीलमणि के स्पटिक सी कसमसाती देह।

फूल ही फूल थे उस द्वीप पर। मुनि ने पूर्व कौशल से संजोया था उनके पौधों को, विशेष वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये। सघन वन कुंजों की हरियाली छाँव में, हजारों तरह के रंग विरंगे, झूमते मदमाते, हवा के हल्के झोंको से लहराते, सरसराते, अपनी सुवास को महकाते, वे पुष्प, पृथ्वी पर नन्दन वन का दृश्य उभार कर वरवस देव कन्याओं को खींच, उनके मन में भी, काम का स्फुरण कर देते थे। नीली यमुन-धार में फूलों से इठलाता टापू, ऐसे लगता था जैसे प्रकृति ने अपनी वेणी गूंथकर, उसमें फूलों का गुच्छा खोंस लिया हो और अन्तरिक्ष के देवता, भगवान भास्कर, अपनी सहस्रशः किरणों के हाथ फैलाकर, उसके शरीर में, अपनी चंचल-चपल-उंगलियों से अपूर्व सिहरन उत्पन्न कर रहे हों। रोमांचिता हो उठी, वनकन्या सी, दिव्य मसृण देहवाली, मत्स्यगन्धा। एक अदृश्य नशे से भर गया, उसका मन-मानस। स्वेदविन्दु, अगणित मोतियों की लड़ी वनकर, उसकी नीलमणि, सांवली देह का शृंगार करने लगे। अप्रत्यक्ष लाल की लाली, सुवासित कमलों का पराग वनकर, उड़ने लगी, उसके कपोलों पर। विचित्र कँप से कँपकँपाती देह, रति और काम का लास्य वनकर, थिरकने लगी, उस क्षण। जाने, कितने अजाने स्वप्न मधुर संसृतियों का जाल बुनने लगे, उसकी पलकों पर। कुसुमों की कोमल शैया पर, न जाने किस कमनीय आवेग से, दहकने लगी, उसकी काम विदग्ध देह अचानक बन्द पलकों पर, ऋषि की उंगलियों के कोमल स्पर्श से, सिहर उठी घायल हिरणी सी वह-अनंगवाला। कौन सा तरल द्रव्य था, जो उन्होंने उसकी मांसल देह पर, उंडेला था, उसकी त्वचा पर, मलमल कर, उन्होंने उसके सारे शरीर को महकाकर सुगन्ध मय वना दिया। वह तन्मयता में लीन हो गई। मुनि ने मधुर वाणी के स्पर्श से सचेत किया—

"मीनाक्षी! पलकें उठाओ, आँखे खोलो, देखो तो मैं तुम्हारे लिये क्या लाया हूं।

वर्षों की अपनी वैज्ञानिक साधना का प्रयोग, आज पहली बार तुम पर कर रहा हूं, तरह तरह की जड़ी बूटियों के स्वरस और फूलों की सुगन्ध से यह औषधि तैयार की है मैंने। इसे भी तुम्हारे शरीर पर मलूँगा। शरीर की दुर्गन्ध सदा के लिये दूर हो जायेगी तुमसे। सम्भाले रखना स्वयं को, उत्तेजित न होना, कुछ क्षण के लिये। इतनी सुगन्ध महकेगी तुम्हारे तन में, कि, योजनों तक, वातावरण में फैलकर मानवी सृष्टि ही क्या, पशु पक्षी और कीट पतङ्गों को भी, विभोर कर देगी। तुम्हारी सुगन्ध के इन्द्र जाल में फँस मनुष्य, तुम्हारे इंगित पर नाचने को विवश होंगे। कहो, तुम्हें अब मत्स्यगन्धा कहूं, कि योजनगन्धा ?······अब से योजनगन्धा ही कहूं मैं तुम्हें, मैं ही नहीं सब कहेंगे···स्वतः कहेंगे···"

वह सुगन्ध के नशे में डूबती जा रही थी। स्पर्श की पुलक और हृदय के स्फुरण से उसका रोम रोम उत्तेजित हो रहा था लाख संयमित करने पर भी, अनगिन भावनाएँ उसे अद्भुत स्वप्न लोक में लेकर उड़ी जा रही थी। पता नहीं कौन सी लाज का भार उसे अधर में अटक रहा था। अस्फुट से शब्द निकले मुँह से—

"मुझे डर लग रहा है ऋषि पुत्र !"

"समर्पण के पूर्व ऐसा ही होता है बाले !"

"क्या कहेंगे सब···?"

"क्या···?"

"मेरा कौमार्य···?"

"अक्षुण्ण रहेगा तेरा कौमार्य ?"

"कैसे ?"

"एक भी चिन्ह शेष न रहेगा कौमार्य भङ्ग का तेरी काम शुद्ध देह पर ।"

"कैसे···?"

"जैसे अप्सराओं के शरीर पर नहीं दीखता···।"

"अप्सरा तो नही, मैं तो मानवी हूं मुनि देव !"

"मैं तुझे अप्सराओं सा सौन्दर्य दूँगा और उनसा तेज भी तेरी कान्ति अक्षुण्ण बनी रहेगी, जब तक मेरे अतिरिक्त कोई अन्य न छू लेगा तुझे···।"

"कैसे हो सकेगा यह सब···?"

"मैंने बरसों से साधना की है, अनुसंधान किये हैं, तरह तरह के प्रयोग, वैज्ञानिक खोज। ऐसी औषधियाँ तैयार की हैं···संयोग तो क्या, सन्तान उत्पन्न करने के बाद भी तुम सद्य-सुन्दरी बनी रहोगी।"

"मेरा मन काँप रहा है···।"

"लो यह पेय ले लो, इसे फलों के रस से तैयार किया मैंने···देखो फिर भय कहाँ जाता है जरा पियो तो···।"

"कहीं सुरा तो नहीं ?"

"सुरा नहीं लेती तुम ?"

"नहीं।"

"मल्लाहों की बालाएँ तो लेती हैं न ?"

"लेतीं होंगी, मेरे बाबा ने मुझे विशेष रूप से पाला है, अनजानी माँ की प्रेरणा से ऋषियों के साँचे में ढाला है।"

"तभी तो विधाता ने तुम्हें मेरे हृदय मन्दिर की प्रेममय मूर्त्ति बनाया है।"

"कुछ भी हो, यह न पीऊँगी···मैं।"

"यह सुरा नहीं औषधि है, अभय करने के लिए, शक्तिवर्द्धक है, स्फूर्त्ति लाती है हृदय को दृढ़ करती है।"

"बहकाओ नहीं ?"

"बहकाता नहीं, लो मैं खुद पीकर दिखलाता हूं। देखो इसकी सुगन्ध, सुरा की गन्ध सुंघाई पड़ी क्या तुम्हें ?

मुनि ने उसकी नाक से लगा दिया उस पात्र को। सूंघकर आश्वस्त हुई वह। ऋषि ने उसके ओठों से लगा दिना पानपात्र, अद्भुत स्वाद में कई घूंट गटक गई वह···पर यह क्या, कैसी बिजली सी दौड़ गई उसके तन मन में, वह अपने स्थान से उछल पड़ी, अपनी नंगी बाँहों को फैला, उनके कण्ठ में डाल, छाती से चिपटा, स्वयं ही बड़े जोर से कस लिया उसने उन्हें अपने आलिंगन पाश में···पर पता नहीं, फिर, अचानक क्या ध्यान आया कि इससे पूर्व कि ऋषि पुत्र उसे बाँहों में कसते, यकायक छिटककर दूर हट गई वह। कसमसाकर रह गये युवा ऋषि, वह मदोद्धता सी ठिठौली करने लगी—"आखिर चला दिया न अपना चक्कर ?···अरे विलासी ऋषि ! फंसा लिया न भोली भाली एक ग्रामीण बाला को अपने इन्द्रजाल में ?···पर अब मैं तुझे न छोडूंगी बच्चू ! यह पेय क्या पिलाता है, खुद को पिला दे न मुझे, अपने को क्यूं बचा रहा है निष्ठुर !···बचा···बचा···देखें कहाँ तक बचेगा···तुझे छोड़ने वाली नहीं मैं···तुझे सारे का सारा पी जाऊँगी मैं···आत्मसात कर जाऊँगी···समझे······ हाँ ऽ ऽ।

वह दौड़ी और छोटे बच्चों की तरह कूद, छल्लांग लगादी मुनि की गोद में और कंठ में बाहों का फंदा डाल, जोर से कसके अपनी जाँघों में दबोच लिया, उनकी कमर को। खिलखिला कर हँस पड़े थे युवा ऋषि, किन्तु उसने अपने अधरों को, उनके ओठों पर, चिपका कर बोलती बन्द करदी। सकपकाये अब तो बेचारे, पौरुष गायब होने लगा, उन्होंने किसी प्रकार उसे अलग करने का प्रयत्न किया। वह नीचे उतरी और रूठने का अभिनय करती हुई, इठला कर बोली—

"बस इतनी जल्दी भर गया मन तेरा···जानती थी मैं, तू ऐसे ही भागेगा मुझे छोड़कर···।" पुरुष के अहं को ठेस लगी···मन आवेग से भर उठा···उत्तरीय फेंक, उत्तेजित पशु से लपके उस पर, वह छिटक गई, मुनि गिरे धरती पर, और फिर

उठ, काम अदृश्य होकर हँसा उन पर, उनके गर्वोन्नत अहं ने सिंह की तरह छल्लांग लगाई और वह चंचल हरिणी सी खिसक गई नीचे से और वह फिर धड़ाम से नीचे गिरे, पर तुरन्त उठ गये, चोट का अहसास किये बिना, काम ने बुरी हालत कर दी थी उनकी। वह व्यंग्य भरी मुस्कान सहेज कब बोली——

"अरे चंचल भंवरे ! क्यों व्यर्थ फड़फड़ा रहा है कंटीली झाड़ी पर···बिंध कर रह जायेगा···मस्ताने !

"झाड़ी पर नही, गुलाब पर कहो सुमुखी ! जहाँ केवल सुखद स्पर्श ही है।"

"गुलाब तो लाल होता है न बावरे ?"

"काला भी होता है पाटले !···देख उधर···।"

उसने उनके इंगित पर दृष्टि घुमाई—सचमुच काले गुलाब मदमा रहें थे उधर। वह चकित रह गई, क्षणभर में रूपगर्विता सी इठला पड़ी। उसके मन की, रही सही हीन भावना भी, समाप्त होगई। उसका सारा शरीर काले गुलाब की यौवन भरी मस्ती से झूम उठा। उसके सारे तन बदन में पुलकों के काँटे खड़े हो गये, चींटियाँ सी रेंगने लगी नीचे से ऊपर तक, कुछ क्षण के लिये भावों की सरिता में डूब गई, भूल गई स्वयं को कहाँ खड़ी है···?

ऋषि ने अवसर का लाभ उठा, दबोच लिया, उसके शरीर को, और इतने जोर से कसा प्यार भरे आलिंगन में, कि वह कसमसा उठी किन्तु उन्होंने, अपने गर्म गर्म ओठों के दबाव से, उसकी 'सी' भी न उभरने दी, उसके ओठों पर।

किसी तरह–पूरा बल लगाकर–वह उनसे अलग हो पाई, पर दोनों हाँफ रहे थे बुरी तरह। ऋषि घात लगा रहे थे। वह बोली—

जरा सुनिये तो जो होना है, वह तो होगा ही।···मैं तुम्हें समर्पित हूं, नहीं हुई तो हो ही जाऊंगी, पर ऐसी भी क्या जल्दी है ? यहाँ कोई और तो है नहीं—आप हैं या बस मैं···कुछ बातें तो कर लें, पशुओं की तरह व्यवहार करने से क्या···कुछ मानवीय तरीका अपनायें···कुछ मनोरंजन हो, कुछ माधुर्य रस की सृष्टि हो, कुछ श्रृंगार का वातावरण तो बने···आप मेरी बात का उत्तर दें···।"

"मैं क्या करूं, तूने ही तो ललकारा था मेरे पुरुष को···।"

"मैंने पुरुष को ललकारा था कि पिशाच को···?"

"मैं पिशाच लग रहा हूं तुझे···?"

"और नहीं तो क्या···?···भला बलात्कार कौन करते हैं ?"

"मैं बलात्कार कर रहा हूं···? क्या, तू अनुरक्त नहीं मुझ पर ?"

"च्चू च्च् च्च, मारा गया ब्रह्मचारी।···मैं कब कह रही हूं कि मैं अनुरक्त नहीं हूं रे ऋषि पुत्र !"

"फिर···?"

"अनुरक्ति का मतलब यह है क्या, कि अनुरक्त का कचूमर ही निकाल दो ?"

"हा, हा, हा ऽ ऽ···तूने ही तो उकसाया था, इसके लिए ?"

"इसलिए कि, मेरे प्राण ले ले···?"

"हा, हा, हा ऽ ऽ,···।"

"बार-बार 'हा-हा' क्या करता है, तुझे दीन दुनिया की कुछ अकल है या नहीं ?" नथुने फुलाये लडकी ने—

"क्यूँ···?"—चकराये महानुभाव।

"क्यूँ···? अरे पंडित के पूत ! तू राक्षस है या भूत ?"

"गाली छोड़, प्यार से बोल—मेरे देवदूत !"

"देवदूत ?···अरे तू मानव तो होजा अछूत !"

"अछूत ?—मैं ऽ ऽ या तू ऽ ऽ ?"

"मुझसे मिल के क्या तू भी न हो जायेगा ?"

"नहीं प्रेम की गंगा में डूबकर सब पवित्र ही हो जायेगा।"

'प्रेम की गँगा है कहाँ यहाँ···?"

"क्यूँ···?"

"यहाँ तो वासना का बरसाती नाला खलखला रहा है।"

"तुम इसे वासना कह रही हो ?"

"और नहीं तो क्या ?"

"यह काम है—मनुष्य का एक पुरुषार्थ।"

"तुम्हें यह शोभा देता है क्या ?"

"क्यूँ, क्या मैं पुरुष नहीं हूं···?"

"···पर आध्यात्मिक पुरुष की सन्तान भी तो हो ?"

"आध्यात्मिक पुरुष की सन्तान को क्या करना चाहिये ?"

"यह धींवर की बेटी बतलायेगी क्या तुम्हें ? क्या शुद्र की कन्या ब्राह्मण के बेटे को उपदेश करेगी अब ?···तुम्हें नहीं मालूम, आध्यात्मिक पुरुषों की साधना मोक्ष के लिए होती हैं ?"

"मोक्ष भी तो चार पुरुषार्थों में से एक है—और वह भी सबके बाद का···। उससे पहले तीन और हैं चतुर कन्ये ! तीन···।" मुस्कराकर हाथ की उंगलियाँ नचायी ऋषि ने ?

"तीन ?"

"हाँ तीन, विदुषी बनती हो और शेष तीन से परिचित ही नहीं हो ?"

"मैं तुम्हारे मुँह से सुनना चाहती हूं।"

"मैं सुनाना नही कुछ करके दिखाता हूं।"

"नहीं, इस समय सुना ही दो।"

"एक पुरुषार्थ है काम, अभी सुनाया था तो; मोक्ष से पूर्व है काम।"

"काम से पूर्व ?"

"अर्थ ।"

"अर्थ से पूर्व ?"

"धर्म ।"

"फिर ?"

"क्या धर्म की साधना नही की मैंने आज तक ?"

"अब, क्या कर रहे हो ?"

– "शरीर का धर्म ।"

"शरीर का धर्म ?"

"यथार्थ की साधना, प्रत्यक्ष का भोग !"

"यही समझाया है तुम्हारे पूर्व पुरुषों ने तुम्हें ?"

"जितना वे समझे, उन्होंने उतना समझाया, उससे आगे कुछ मुझे भी समझना है, आगे आने वालों को नया धर्म समझाने के लिये ।"

"अब धर्म परिवर्तन करोगे, या कोई नया धर्म चलाओगे ?"

"नहीं मानवीय धर्म सहज बनाऊंगा, जो स्वयं प्राकृत है उसे उभारकर सामने करूँगा। जो अस्वभाविक प्रपञ्च से टुकड़े टुकड़े होकर शून्य में उड़ रहा है उसे पाखण्ड से निकालकर प्रकृति से धरातल पर खड़ा करूँगा मैं; अदृश्य को छोड़ दृश्य के आनन्द का सृष्टा बनाऊंगा उसे ।"

"हाय राम, क्या नास्तिक होने जा रहे हो तुम ?"

"तुम नास्तिक को बहुत बुरा समझती हो ?"

"मैं क्या सभी समझते हैं ?"

"मैं नहीं समझता…।"

"क्यूँ ?"

"समझ है मेरी ।"

"समझ का कोई आधार तो होगा ही, या एकाएक मस्तिष्क में कीड़ा उभर आया है ।"

"आधार है ।"

"क्या ?"

"मैं समझता हूं, नास्तिकता आस्तिकता की शत्रु नहीं वरन् आस्तिक होने की सीढी है नास्तिकता। मेरी समझ में जिसे 'ना' कहना कभी न आया वह 'हाँ' कहना कभी सीख नही सकता। जो 'ना' कहने में नपुंसक है उसका 'हाँ' भी नपुंसक ही होता है। तुमने देखा नहीं नारी का प्रथम 'नकार' ही दृढ़ प्रेम का रूप धारण करता है, जिसके मुँह से पहली बार में ही 'हाँ' कह दिया उसके प्रेम की सम्पूर्ण क्रीड़ा का

आनन्द ही खो दिया और पुरुष को तो समझो जीते जी ही धरती में गाड़ दिया। 'हाँ' के वाद तो पुरुष समाप्त ही हो जाता है।"

'पुरुष या पुरुष का दम्भ ?"

"दम्भ नहीं, पुरुष का पौरुष।"

"पौरुष नहीं, मात्र अहंकार।"

"अहंकार ही कहलो। अहंकार ही पुरुष के अस्तित्व का परिचय है। अहंकार ही पुरुष की प्रगति का प्रणेता है। वही उसे कुछ करने का वल देता है, कुछ कर देने देने को विवश कर देता है, नया खोज लाने की शक्ति देता है, प्रेरणा देता है, पुरानी लीक को तोड़कर सिंहपथ प्रशस्त करने का आलोक प्रदान करता है।"

"अहंकार से आलोक की एक नयी छेड़ दी, पहले यह वोलो—नास्तिक को आस्तिक कैसे वना दोगे तुम ?"

"जव विचार से स्वतन्त्र कर, खोज की अभीप्सा जगा देंगे हम उसमें···। जीवन जितना दिखलाई पड़ता है उतना ही नहीं है योजनगन्धा ! इसमें और भी बहुत कुछ छिपा है।

कोरे सिद्धान्त मनुष्य को लकीर का फकीर वना देते हैं। नकार तलवार की धार को तीव्र करती है, जवकि तर्क तलवार की धार की तरह ही धारदार होता है और असत्य को काटता चलता है। समझ लो, जो कट नहीं पाता, सत्य के रूप में शेष रह जाता है। लगातार नकार के वाद एक दिन वह वस्तु सामने आ जाती है जिसे इंकार किया ही नहीं जा सकता।

"मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा, अटपटी और रहस्यमयी वातों से अपना उल्लू सीधा करने का प्रयत्न न करो।"

"उल्लू नहीं उल्लूकी···।" हँसे विनोदी ऋषि।

"मैं इतनी जल्दी कुछ भी नहीं यनने वाली तुम्हारी ?"

'क्या नहीं वनने वाली ?"

"उल्लू की उल्लूकी। क्या तुम वह वन चुके हो ? यदि हाँ तो मुझे पुनः विचार करना होगा अपनी स्थिति पर···शायद समर्पण पीछे लेना पड़े मुझे ?"

ठठाकर हंसी वह, वह भी मुस्कराया—

"नहीं वह नहीं हूं मैं···।"

"क्या ?"

"जिसे तुम समर्पित नहीं हो सकती।—उल्लू।"

"फिर साफ साफ समझाओ न अपनी वात ?"

"इस तरह समझो इसे—आदमी जिसे प्यार करता है, उसे पहिचानता है उससे पृथक नहीं हो पाता। फूलों की ओर देखता है और स्वतः सिद्ध सौन्दर्य को स्वयं

खोज लेता है, तारों की दमदमाहट को स्वयं ही 'हाँ' की सरसराहट होने लगती है उसमें। किसने विवश किया है इनके विषय में हाँ कराने के लिए उसे ? स्वतः ही आस्तिकता का विस्फोट हो उठता है 'ना' की धारा में 'हाँ' की नाव, अपना किनारा स्वयं खोज लेती है, नाविक की लाड़ली। जो है उसे नकारा नहीं जा सकता, और जो नही है उसे हकारना कठिन है। उतना ही कठिन है तर्कशीला।

"पूर्वजों ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, क्या उनका कोई महत्व न स्वीकारा जाय ?"

"हाँ कैसे कहदूं ? मैं तो यही कह सकता हूं कि उनके सिद्धान्त उनके या उनके समय के लिये थे, मेरे या मेरे समय के लिये सम्भवतः नहीं, आगे आने वाले समय के लिये तो कोई निश्चय किया ही नहीं जा सकता।···मनुष्य अपना उद्देश्य स्वयं है वह अपनी प्राप्ति के लिये अनन्त साधना में लगा हुआ है।"

"क्या परमात्मा का अस्तित्व ही नहीं ?"

"परमात्मा, मनुष्य के अन्तरतम का ही दूसरा नाम है। वह मनुष्य की अन्तर्गुहा में छिपा ऐसा तत्व है जिसे भक्त भक्ति में लीन होकर प्राप्त करता है, तो स्वयं ही भगवान हो जाता है।"

"इतना तो आपको मालूम ही होगा ऋषि पुत्र ! कि मनुष्य नश्वर है और ईश्वर शाश्वत ?"

'मनुष्य के शरीर में स्वयं को पुनरुज्जीवित कर लेने की इतनी क्षमता है कि, मृत्यु उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती।"

"बस फिर तो, इस क्षमतावान शरीर को ही सब कुछ मान लेना चाहिये, आत्मा को तो कुछ कहना ही नहीं ?"

" यहीं तो तुम गलती कर रही हो सत्यवती ! मैं अनात्मवादी नहीं, सर्वात्मवादी हूं, हाँ, परलोकवादी होने में मुझे कष्ट अवश्य होता है। स्वर्ग पृथ्वी से अलग कहीं नहीं, अपने सम्मुख आये हुये क्षणों से आनन्द को निचोड़कर ही स्वर्ग को प्राप्त कर लिया जाता है।···इह लोकवादियों ने जीवन को राजनीति के हाथ गिरवी धर, भौतिक स्वार्थ में, स्वयं को नष्ट करने का प्रयत्न किया तो परलोकवादियों ने उसे नैतिकता की भट्टी में झोंक अकल्पनीय कल्पनाओं की भस्म बनाकर शरीर पर लीप लिया। मानव ने मानव से घृणा कर, छुआछूत, भेदभाव, ऊँचनीच और कृत्रिम पाप-पुण्य के खाने बना, मानवता के टुकड़े कर दिये। द्वेष की आग, धार्मिक हिंसा के युद्धों में भड़क उठी, असहाय मानव कल्पित सिद्धान्तों के हाथों में छटपटाता रहा।

"नीति और धर्म का कुछ महत्व है या नहीं।"

"नीति दूसरों के द्वारा थोपी गई व्यवस्था है, धर्म हमारी चेतना का संकेत।"

"स्पष्ट कीजिये···।"

"यज्ञ में पशु बली को नीति कहकर कोई स्वीकार कर ले, पर आत्मवादी धर्म कैसे स्वीकारेगा मनु ने शूद्र को त्याज्य लिख दिया पर आत्मा का धर्म, इसे, कैसे सह पायेगा ? पलायनवादी सन्तों ने, नारी को नागिन, कहकर, उसकी छाँह से घृणा करने का पाठ पढ़ा दिया, किन्तु नारी की जीवनदायिनी सत्ता को, धर्म कैसे नकार पायेगा ?···नीति समाज की स्वीकृति है और धर्म आत्मा की। समाज मनुष्य के तन मन को अपने मान दण्डों में चाहे कसले, पर आत्मा की तड़पन तो ईश्वर की आज्ञा पर भी प्रश्न चिन्ह रखकर खड़ी हो जाती है।

परलोकवादियों ने नीति का विप पिलाकर सम्पूर्ण मानवता को रोगी बना दिया, संसार को माया कहकर, जीवन को, अपराध भावना का निकृष्ट निकेतन ही बना दिया। मनुष्य स्वर्ग नरक की कल्पना में अपनी परछाँई से भी घबराने लगा। जीवन का भोग, स्त्री का स्पर्श भोजन का स्वाद, श्रम का परिहार और ऐश्वर्य की कल्पना, सब पाप हो गया, उसके लिये। नीति ने, हमारी निजता छीन, नरक के भय में डुबा दिया। हर कोई पापी हो गया या पाखण्डी, क्योंकि जीवन इतना प्राकृतिक है, कि कोई इसे लाख झूठ, माया या स्वप्न कहे, यह अपनी ओर खींचे, विना नहीं रहता मधुर आकर्षण विद्यमान है जीवन में, परमात्मा का मधुमय आकर्षण। पाखण्डी बाहर से न सही अन्दर से सब भोगता है। प्रकृति के सौन्दर्य की अवहेलना कर सका है कोई ? यदि किसी ने प्रयत्न किया है तो परमात्मा की कृति की अवहेलना करने का जघन्य अपराध किया है।"

"क्या सौन्दर्य का भोग, मात्र, शरीर से ही सम्भव है ? सौन्दर्यवादी !"

ठहाका लगाकर हँस पड़े युवा पराशर।

"योजनगन्धा ! तुम तो गलती से कर्मवादी मल्लाह के घर में आ गई हो; तुम्हें तो पलायनवादी ऋषियों के साथ, लंगोटी कसकर, बैठना चाहिये था; कर्म को त्याग जीवित ही मृत्यु की धारा में अवगाहन करने का प्रयत्न करना चाहिये था···।"

"···अन्यथा, तुम्हारे मत को मान कर, रात दिन भोग की ललक में, कुत्ते और बिल्लियों की तरह, इस शरीर में ही, मर खप जाना चाहिये था···जय हो जमना मैया की···आजकल के ऋषियों ! तुम्हें, धन्य है···।"

"झेंपे ऋषि सत्यवादिनी के परिहास पर, जरा सशक्त होकर बोले उसकी बात को बीच से तोड़ते हुये—

"भूल कर रही हो तुम, मुझे समझने में। तुम जीवन को खण्डों में बाँटने का प्रयत्न कर रही हो, सत्या ! पुराने आदमी की तरह बातें कर रही हो।

"पुराने आदमी से मतलब ? बुढ़िया समझकर लपक रहे हो तुम मुझ पर···?"

"रूठो न यौवने ? मैं पुराने ख्याल वाले लोगों की बात कर रहा हूं।···दो ढंग के लोग थे पुराने आदमी—एक भौतिकतावादी दूसरे अध्यात्मवादी। भौतिकतावादी ने सोचा—शरीर ही है वह—और सिद्धान्त रचा—"खाओ पिओ और मौज करो।" अध्यात्मवादी ने सोचा— शरीर कुछ भी नहीं, शरीर आत्मा का दुश्मन है'—और

सिद्धान्त बनाया—"खाओ पियो नहीं, न मौज करो, वस सडो गलो, भूखे मरो और चमगादड़ों की तरह उल्टे लटके रहो।"

मैं कहता हूं—मैं शरीर भी हूं और आत्मा भी। शरीर मेरी आत्मा का घर है, मन्दिर है यह तन। शरीर को ठीक न रखूँगा तो आत्मा को अच्छा कैसे लगेगा ? शरीर की सजावट से ही मन के देवता प्रसन्न होते हैं सुमुखी।'''देह का सम्मान, छिपी हुई आत्मा का सम्मान है; देह की सीढी पर से ही आत्मा के देवता तक पहुँचना है मानव को।

देह और आत्मा, जीवन रूपी पक्षी के दो पंख हैं—एक भी कटा तो उड़ना मुश्किल; आदमी के दो पैर है, एक भी कटा तो चलना मुश्किल; गाडी के दो चक्र हैं एक भी टूटा तो खिसकना मुश्किल।

मैं देह और आत्मा से युक्त, ऐसे मनुष्य की कल्पना करता हूं जो बाहर और भीतर, बराबर, साँस ले सके। जितनी गहरी साँसें बाहर ली जायेंगी उतनी ही गहरी साँसें अन्दर तक जायेंगी।'''तुम साँस लेने से डर रही हो योजनगन्धे। प्राणायाम के नाम पर जीवन का दम घोट रही हो। मुझे जीवन से डरा रही हो।'''जीना दण्ड नहीं है पाप नहीं, पुण्य है। मैं जीना चाहता हूं एक जीवित मनुष्य की तरह, मनुष्य के लिये, मनुष्य को लक्ष्य बनाकर और जीवन के होठों पर बाँसुरी रखकर, आनन्द का अपूर्व संगीत निकालना चाहता हूं।'''बेशक तुम इस जीवन को कीचड़ कह लो, किन्तु मैं कीचड़ के बिना कमल की कल्पना नहीं कर सकता। इसीलिये कीचड़ भी अस्वीकार नहीं कर सकता। पंक से ही पंकज उगाने हैं मुझे और फिर निर्मल मन के सरोज बनाकर खिलाने भी हैं उन्हें।

आओ अब विलम्ब न करो, मेरे अंक में समा कर, नयी सृष्टि के सृजन में सहायक बनो।"

वे आतुर होकर बढ़े, उसने हाथ आगे कर, फिर रुकने का संकेत किया—

"ठहरो मनस्वी ! ऐसी भी क्या जल्दी है ? मेरे नकार को पूर्ण हो लेने दो पहिले; कुछ तो प्रतीक्षा करो; विश्वास का ढोल पीटने वाले धैर्य क्यों खो रहे हो ? प्रतीक्षा की घड़ियों में भी तो एक आनन्द छिपा है ?"

"मैं प्रतीक्षा नहीं कर सकता वरानने।"

"तुम प्रतीक्षा नहीं कर सकते तो, मैं भी, किसी आवेग में, तुम्हें नहीं सौंप सकती, स्वयं को।"

मेरा अङ्ग, अङ्ग, अनङ्ग, की आग से दग्ध हो रहा कामिनी ! महामिलन की उत्कण्ठा में, ज्वालाओं के स्फुलिंग छूट रहे हैं इनसे। मेरा रोम रोम तुम्हारा आह्वान कर रहा है प्रीति पयस्विनी। एक बार हाँ कह दो, हृदय का प्रेम तुम्हारी स्वीकृति पाने को तरस रहा है'''।"

हृदय का प्रेम नही, भूख कहो शरीर की और भूखा कोई भी पाप कर सकता है, मैं पापी को अपना हाथ नही सौंप सकती।"

"यह पाप नही ।"

"पुण्य भी कैसे कह दोगे इसे ?"

"विधाता ने तुम्हें मेरे लिये ही गढा है, अन्यथा तुम्हारे लिये व्याकुल न होता मेरा मन। जो तुम्हें सहज सुलभ हो रहा है; न जाने कितनी देवाङ्गनाएं, तड़पती हैं उसके लिए। विधाता की मंगलमय कामना की अवहेलना न करो। सुमुखी !"

"कौन से विधाता की बात कर रहे हो नास्तिक ! अपने विधाता तो स्वयं हो तुम ?

"मैं नास्तिक नही हूं··· ।"

"वह मेरी स्वीकृति पा जाने के लिए ?" व्यंग्य से हँसी और तीखा कटाक्ष किया उसने। "नास्तिकता का समर्थक इतनी जल्दी आस्तिकता के लिये तड़प उठा ? कहाँ गया तुम्हारा आत्मविश्वास ? एक पल की 'नकार' ही तुम्हें मारे डाल रही है; दीर्घ 'नकार' को कैसे सह पाओगे भला ? मेरी एक 'हाँ' के लिये तरस रहे हो ? जीवन देने पर तुले हो और 'नकार' पर इतना लम्बा भाषण झाड़ चुके हो ? आस्था को तोड़ विश्वास को कैसे निभा पाओगे तुम ?"

काम के आवेग से अन्धे हो गये थे ऋषि पुत्र, झुझंला उठे, प्रत्यक्ष प्रगल्भता को सराह न सके।

"तुम समझ ही न पाई, मैंने क्या कहा ? मैंने कह दिया न, तुममें शिक्षा की कमी है···समझ का क्रय-विक्रय तो होता नही···शिक्षा से ही आती है ।"

"तुम शिक्षित क्यों नही करते मुझे ? मेरे 'हूँकार' तक पहुंचने के लिये दीर्घ 'नकार' से तो गुजरने दो मुझे। शिक्षा एक बन्धी हुई परिपाटी का नाम है, जो परम्परा से प्राप्त है, जहाँ तुम हारते हो, उसी की ओट लेते हो ? वाह रे स्वतंत्र चिन्तक !··· यह नकार का पाखण्ड नही तो और क्या है ?"

"तुम्हारी वितृष्णा मुझे मार देगी योजनगन्धा !"

"मर ही जाना चाहिये। मृत्यु एक ध्रुव सत्य है तुम इसे नकार नही सके। तुम एक निश्चित सत्य को पा जाओगे। तुमने कहा था—मर कर भी अमर हुआ जाता है, हो जाओ अमर ? पर यह मरना भी हर किसी को इतना जल्दी सुलभ नही हो पाता, अमरता का प्राण जगा लो, अवसर न खो देना दार्शनिक !"

"तुम बहुत कठोर हो रही हो "सत्यवती !"

"तुम्हारा विश्वास जो हूं; एक ऋषि का विश्वास दृढ और कठोर तो होना ही चाहिये।"

"कठोरता के परिणाम बहुत कठोर होते हैं मत्स्यगन्धा !"

"···योजनगन्धा से फिर मत्स्यगन्धा हो गयी मैं, अच्छा है जल्दी ही तुमने मेरी हैसियत का अन्दाज करा दिया; नहीं तो आसमान में उड़ने लगती मैं···इसे थोड़ा और छोटा कर दो ऋषि श्रेष्ठ !—मल्लाह की बेटी कहो मुझे, जिसे नाविक

कहकर विश्वास की संज्ञा दे चुके हो स्वयं।······पर नास्तिक को विश्वास कहाँ ?और अगर है भी तो उसे कठोर ही होना चाहिये, परिणाम चाहे कितना भी कठोर हो। प्रीति की आस्था से तरला कैसे जायेगा यह?···पर तुम तो पल पल पर डिगे जा रहे हो?'

चुप था यायावर ! अपने ही तर्क में, कहीं, उलझकर, रह गया था या काम ने सम्पूर्ण प्रगल्भता हर ली थी उसकी ? काम के मार्ग की वाधा प्रायः क्रोध बनकर उवलती है। वर्दाश्त नही हो सकी, विघ्न की चोट। भयंकर जाल में फँसा क्रोधोन्मत्त पशु सा विफरने लगा ब्रह्मचारी। चिल्लाया—बुद्धिहीन, हतवुद्धि··· ।" नहले पर दहला दिया नाविक की कन्या ने।

'ऐ पंडित ! किसे आँखे दिखा रहा है ? दूध की मलाई समझ लिया है क्या, कि यूहीं चाट जायेगा ? मल्लाह की बेटी हूं···। कुछ देर पहले, मरने का अभिनय करके यह भी देख लिया होगा, कि वड़े वड़े मगरमच्छों को मौत की नीद सुला सकती हूं मैं। अरे अभिनेता ! तू मरने का नाटक कर सकता है, मर नहीं सकता। जो मर नहीं सकता, वह मार भी नहीं सकता। तेरी बुद्धि मारी गई है मेरी क्या मारेगा ? आ मार···मैं तो कब से तेरा आह्वान कर रही हूं ? आ मार ना, खा जा मुझें···मैं भी तुझे खा जाने को ललक रही हूं···पर तू ऐसा कर न सकेगा, तू मेरी बात भी कहाँ समझ सकेगा अनाड़ी !···मैंने कहा था न कोरा शब्द ज्ञान व्यवहार नहीं वन सकता। छद्म वन सकता है। मैं तुझसे वार वार कह रही हूं मुझे समझ। मुझे समझने के लिये पाने के लिये धीरज से काम लेना होगा। धैर्य धर्म का लक्षण है तू अधर्म से मुझे क्यूँ पाना चाहता है रे ?···ऋषि पुत्र ! तेरी शिक्षा अधूरी है कुछ पट्टियों को काली करके तू शिक्षा का गर्व क्या करता है रे ! शिक्षा वह नही जिसे तू काले अक्षरों में तलाशता रहा। शिक्षा वह है जो प्रकृति अपनी गोद में विठाकर सिखलाती है। प्राकृत धर्म का पाठ पुस्तकों में नहीं प्रकृति में मिलता है और प्रकृत स्वभाव से खुलता है।··· हम लोग वेशक तुम्हारी तरह पट्टियां नहीं लिखते पर प्रकृति का एक एक कण हमारे कानों में शिक्षा का मंत्र फूंकता रहता है। एक मंत्र बताऊँ, छोटा सा मंत्र है, 'प्रेम' ढाई आखर का, तूने तो उसे भी नहीं पढ़ा। पढ़ेगा कैसे ? आस्था की कमी है न ? तुझे हाँ कहना ही नहीं आया आज तक ! हाँ कहना सीख ! अरे छलिया ! किसे अनुसंधानों में खोज रहा है ? जरा खुद को ही सोच ले, जल्दी ही हाँ कहना आ जायेगा। जिस दिन हाँ कह देगा, समर्पण स्वयं तेरे द्वार की देहरी पर आ वैठेगा। नास्तिकता से कुछ प्राप्त नहीं होता। प्राप्य को प्राप्त करने के लिये आस्तिकता स्वीकार करनी ही होगी, तुम्हें मानना होगा "मैं हूं तुम हो, वह है हमें खींच रहा है, मिलाकर एक कर रहा है ! वह सत्य है, सत्य के लिये तर्क की क्या आवश्यकता ? सत्य को झुठलाने पर केवल 'न' निकलेगी, मुँह से जितनी देर 'ना' निकलेगी, उतनी ही देर होगी मिलने में। इधर तुम 'हाँ' कहो ! उधर वह तुम्हें उपलब्ध हुआ ही समझो।

ऋषि पुत्र ! कोई ज्ञानी पंडित तो नहीं मैं, नारी हूं, सीधी सादी। 'हाँ' का

विश्वास लेकर चलती हूं और सम्पूर्ण समर्पित कर देती हूं स्वयं को; पुरुष को नये सृजन के लिये। मेरा मातृत्व सत्तावान हो उठता है। खुद को गलाकर नई पौध खिलाती हूं और प्रकृति का उन्मुक्त यौवन इठलाने लगता है। आस्था के दीप जलाती है नारी तो आत्मा का आलोक जगमगा उठता है। आत्मा का विश्वास जगाती है नारी और पुरुष में परमात्मा मुस्करा उठता है। नारी ने अपने समर्पण से नश्वरता को अमरता प्रदान की है; पुरुष को भक्ति देकर भगवान बनाया है। सदा एक परम्परा का निर्वाह किया है उसने। आस्था की परम्परा का। किन्तु पुरुष ने उसकी आस्था को सदैव छला है। उसके पैर में पायलें कसकर मनमाने ढंग से नचाया है उसे उसने। उस की 'हाँ' को, अपनी 'ना' से तौलता रहा है, वह। नारी का विश्वास होकर भी, उसे, अपनी श्रद्धा नहीं दे पाया है, वह। उसकी प्रत्येक बात को अपने अहं की तराजू पर तोला है उसने। केवल अपनी तुष्टि के लिये यदा कदा उसकी मान ली, अन्यथा उसका अहं सदा ही क्रोध का रूप लेकर फुफकारता रहा।

मैं हृदय से अनुरक्त हूं ऋषिवर! पर मेरी आस्तिकता तुम्हारी नास्तिकता के आगे दम नही तोड़ सकती। तुम्हारा अर्वाचीन मेरे प्राचीन को दबा नहीं सकता, क्योंकि प्राचीन शाश्वत है, अर्वाचीन होकर किसी प्राचीन की पुनरावृत्ति कर रहा है।

मैं समझ नहीं पाती......तुम ऋषि पुत्र होकर भी काम के आवेग से इतने विह्वल क्यों हो, और मैं अप्सरा की बेटी होकर भी—जैसा कि मुझे मां के विषय में पता चलता है—काम से इतनी विरक्त क्यूं रही हूं। जब कि नित्य अनुरक्त हो तुम्हारे चारों ओर मंडराती रही हूं। कौन से संस्कार हैं जो विरोधी स्वभाव होकर प्रकट हो रहे हैं?"

धैर्य धारण कर शायद कुछ प्रज्ञा जागी थी ऋषि पुत्र की, उन्होंने बड़ी शान्ति से पूछा—

"सत्य को सुनना चाहती हो?"

'हाँ', मैं रहस्य को जानने के लिये छटपटा रही हूं......" कौन सी अदृश्य शक्ति है जो चाहकार भी मुझे तुमसे मिलने नहीं दे रही?"

"तुम्हारे मन में पुरुषों के प्रति अदृश्य घृणा का भाव है।

"पर क्यों?"

"यह पीढ़ियों की कहानी है। संत्रस्त नारी के मौन हृदय की वाणी है। युगों से पुरुष के अत्याचार, अनाचार और बलात्कार को झेलने वाली नारी, प्रतिक्रिया में संस्कारों से प्रतिहिंसक हो गई है। वह पुरुष को अपने लिये तड़पता देख मन ही मन प्रसन्न होती है। उसे आन्तरिक तुष्टि मिलती है इस क्रिया से। मन से पूरा प्यार देकर भी वह उससे बार बार झगड़ना चाहती है उसे हर बात में पराजित कर देना चाहती है।

पुरुष ने उसे, अपनी, शक्ति के बल पर, युग युग में बार बार सताया है अतः उसका अन्तर्तल उसे अप्रत्यक्ष रूप से सताकर आनन्द लेता है। पुरुष ने सदैव उसके विश्वास

को छला है अतः वह स्वभाव से ही उसके प्रति शंकालु रही है। पुरुष ने सदैव उसके समर्पण का उपहास किया, अतः समर्पण के लिये ललकती हुई भी, वह उससे भय खाती रही है। पुरुष उससे भागता रहा है, और माया वनकर वांधने का प्रयत्न करती रही है वह भी···।"

"फिर इतना प्यार क्यों करती है वह पुरुष से ?"

"एक तो, यह उसका स्वभाव ही है। ममता की प्रतिमूर्ति है नारी। दया, क्षमा, करुणा, दाक्षिण्य-प्रेम उसके सूक्ष्म शरीर के अंग हैं।"

"तर्क सम्मत वात कहो, भावना की नहीं। सन्तुष्ट नहीं होती इससे मैं।"

"पुरुष चाहे अपने अहंकार से ही सही, नारी की रक्षा के लिये अपने प्राण देता आया है अतः संस्कारों में वह उसके प्रति कृतज्ञ हो उठी है। चाहे काम वेदना से पीड़ित होकर ही सही, वह अपना ओज, अपना सत्व, अपना जीवन—वीर्य अपना प्राण उसमें ढाल देता है, उसी त्याग की प्रतिक्रिया में वह स्वयं को उस पर लुटा, उऋण होकर तोष को प्राप्त करती है। तभी तो उसकी दी हुई निशानी अत्यन्त लाड़ से सहेज कर रखती है और उसकी रक्षा के लिये प्राणों का उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहती है।"

"प्रीति भी, संघर्ष भी, क्या इसी द्वन्द्व का नाम नारी है ?"

"नहीं प्रीति के लिये प्रीति और अन्याय के लिये जागृत चेतना के रूप में संघर्ष। नारी न्याय की मूर्ति है सत्यवती ! सत्य के लिये जिये जा रही है, सत्य के लिये मरे जा रही है। अपनी बनाई सृष्टि को विनष्ट होते नहीं देख सकती; अतः करुणा की मूर्त्ति, वह शोक से आकुल होकर भी, बहते हुये आँसुओं को पीकर भी, ओठों को सी सी कर भी, हृदय ही हृदय में जी जी कर आँचल का अमृत लुटाती रही है। किसी भी रूप में, जब यह पुरुष, उसके वक्ष पर खेलता है तो, उसे असीम आनन्द की प्राप्ति होती है।······वैसे भी दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे से चिपटकर एक दूसरे के अंगों की पूर्ति कर एक होकर पूर्ण होने का प्रयत्न करते हैं। पूर्ण तुष्टि लाभ करने की चेष्टा करते हैं······।"

"वहुत ठीक कहा ! मेरे हृदय की गाँठ सी खोल दी तुमने ! मुझे वहुत अच्छा लगा। पर मैंने तो व्यक्तिगत रूप से अपने और तुम्हारे वारे में पूछा था···मैं न जाने कब से मर मिटीं हूं तुम पर, एक एक क्षण मन की पालकी में वस तुम्हीं झूलते रहते हो, पलकों में झूलते अश्रु बिन्दुओं में निरन्तर तुम्हारी छवि घूमती रहती है, नींद उड़ जाती है मन खोया सा रहता है तुम्हारे स्मरण में···पर स्वयं काम विह्वल होकर भी तुम्हें काम पीड़ित नहीं देखना चाहती···भय लगता है कहीं तुम अपने सिंहासन से गिर न जाओ मैं अपनी व्याकुलता से तुम्हारा श्रृंगार कर तड़पती हूं पर तुम्हें गिरता हुआ नहीं देख सकती।···स्वयं मुग्ध होकर भी तुम्हें मोह में डूबा हुआ क्यों नहीं देख सकती मैं

"मेरी नाविक जो हो तुम !"

"नाविक तो तुम ही मेरे हो···अब तो सत्य ही कहो न ?···"मुझे यह रहस्य भी बतला दो ?"

"बतला दूँगा···समय आने पर ।"

"बतलाओ न सहसा फिर कितने आकर्षक लगने लगे हो तुम ?"

"एक शर्त्त है"—शरारत से आँखे नचाई ऋषि पुत्र ने ।

"भाँप गई वह भी ।"—

"क्या मेरी, जिज्ञासा को, विवशता बनाना चाहते हो ?"

"नहीं, पारिश्रमिक वसूलना चाहता हूं ।"

"मैंने कोई पारिश्रमिक लिया है तुम्हें पार उतारने का ?"

"पर पार भी तो नहीं लगाया, कब से, अधर में ही अटका रखा है ?"

"जब तुम्हारा स्थान ही बीच धारा में है । तुम्हारा मन तो कालिन्दी के बीच काले टापू पर ही रमता है, न ? उसमें लाल गमकते फूलों को देख कर ?"

"पर किनारा तो तुम ही दिखलाओगी न ? एक बेचारा, बीच से ही अटका रहे···?"

"किनारा तो टापू के इस पार आ ही गया ?"

"उस पार भी तो एक किनारा है, यात्री को उसके लक्ष्य पर पहुँचाना चाहिये न ?"

"मैं पानी का रास्ता पार करती हूं, खुश्की का नहीं ।"

"उधर से ही ले चलो न, यही तो चाहता हूं मैं भी···कुछ देर और सही ।"

"पर उस पार का तय नहीं हमारा ।"

"तय तो लक्ष्य का है इस पार का भी नहीं !"

"फिर···?"

"फिर क्या, उस पार, पहुंचवाने का वायदा करो ।"

"······बाबा प्रतीक्षा करते होंगे···?"

"···कब से ?"

"काफी देर हो गई ।"

"और हम एक पीढ़ी से प्रतीक्षा कर रहे हैं ? हमारा कुछ नहीं ?"

"तुम्हें आनन्द आता है इसमें···।"

"और बाबा को···।"

"बाबा बेचैन हो जाते हैं···।"

"एक न एक दिन तो बिछड़ना ही होगा बाबा से···।"

"वह दिन नहीं आया अभी ।"

"वह दिन आ गया है···क्या तुम्हें आभास नहीं कि तुम पूर्णता को प्राप्त हो रही हो ज्ञात यौवने !"

"बाबा उस दिन मेरा हाथ किसी के हाथ में दे देंगे ।"

"बाबा ने यदि सारे जीवन ऐसा न किया तो क्या अधखिली ही रह जायेगी। कलियाँ ।

"कुमारियों की नियति है यह ।"

"क्या स्वयं वरा नहीं होती नारी ?"

"उसका एक आयोजन होता है ।"

"आयोजन में विलम्ब क्यों···?"

"मैं नहीं कर सकती बाबा के जीते जी···।"

"बाबा तो कर चुके इसे···।"

"कब ?"

"आज सुवह, जब उन्होंने मेरा हाथ तुम्हारे हाथ में देकर पार लगाने के लिये कहा था ?"

"तुम्हारा हाथ मेरे हाथ में दिया था, मेरा तुम्हारे में नहीं ?"

"तो क्या हुआ, पाणी पीड़न महोत्सव तो सम्पन्न हुआ ?"

"जिसके लिये यह हुआ वह तो हो गया, आपको पार पहुंचा दिया मैंने ?"

"न पार हुआ न, लक्ष्य प्राप्त हुआ, मैं तो अधर में हूं, बीच मंझधार में, यहाँ से तो न जाने कहाँ वह जाऊं और डूब जाऊँ ! अगर तुमने अपने बाबा की आज्ञा न मान, मनमानी की तो तुम भी किनारा न पा सकोगी, बीच में ही डूबोगी कहीं ?"

"फिर शुरू हो गये ? लो मैं चली···।"

"नहीं तुमने ही तो···।"

"मैंने कुछ प्रश्न किया था ?"

"और मैंने···?"

"तुमने सत्य कहने का···।"

"तो सुनना नहीं क्या ?"

"सुनाओ···।"

"पर···।"

"देखो जितना परिश्रमिक तुम चाहते हो, उतना देना मेरी सामर्थ्य के बाहर है ।"

"अच्छा तुम यूहीं सुनलो, पर अपना ऋण तो न छोडो मुझ पर ।"

"कौन सा ऋण ?"

"प्राण बचाने का···।"

"कैसे उतारोगे यह ऋण···?"

"तुम पर प्राण छिडक कर···।"

"यह तो उल्टी गले पड़ गया···माफ कीजिये···मैंने किसी पारिश्रमिक के लोभ से नहीं किया वह···।"

"फिर कौन से जन्म में उतारेंगे हम यह ऋण ?"

"भगवान जानते हैं यह उन्हीं से पूछो, यहाँ वावा ने भेजा था तुम्हारी नैया का खिवैया बनाकर मुझे, मैं यहाँ डुवा नही सकती तुम्हें···बचाना तो मेरा धर्म है ···बावा न कहते तो क्या मैं यहाँ तक आ पाती ?"

"वावा की तो जाने तुम कितनी वार ठुकरा देती हो बड़े प्यार से···क्या कुछ और नहीं था चलते समय तुम्हारे मन में······मुझे वना रही हो या खुद को··· सुनो योजनगन्धा ! मेरे पिता, महर्षि शक्ति ने, बतलाया था कि किस तरह मेरा और तुम्हारा जन्म हुआ। उन्होंने मुझे हर विद्या, हर शास्त्र में पारंगत किया किन्तु मेरा चंचल मन सदैव भटकता रहा; व्याकुल बना रहा।

एक दिन बहुत परेशान था मैं। मुझे सोचते सोचते नींद आ गई। करुणामयी दिवंगत माँ मेरे सपनों में आकर बड़े दुलार से मुझे कहने लगी—

"पराशर एक संस्कार हमेशा भटकाता रहेगा, उसका भुगतान कर दे तू।"

"मैंने पूछा। माँ ! क्या ?"

"बेटे अद्रिका की बेटी को वह प्यार सौंप दे जो तेरे संस्कारों में पल रहा है। उपरिचर की बेटी के संस्कारों में जो घृणा की आंधी उमड रही है उसने उसके चित्त को विरक्ति की बंजड भूमि बना दिया है। तू उसे अपने प्रेमधन से परितृप्त कर दे। संस्कारों से मुक्त हो जायेगा तू भी और उसमें ममता की खेती लहरा उठेगी···नहीं तो अपनी माँ की तरह, अपने वावा की तरह न जाने वह किस दस्यु जीवन को व्यतीत करने पर विवश हो।

आज वह समय आया है योजनगन्धा ! मत्स्य पुरुषों की गन्ध दूर हो गई है ···अभिषिक्त जलसे तेरा संस्कार किया है मैंने, क्योंकि मुझे बचाने के लिये दैवीयगुण करुणा का उद्भव हुआ था तुझमें। आज तेरा मन भी शान्ति पा चुका है तेरा। शंका समाधान से; हृदय की गांठ खुल चुकी है उसमें अनुराग का संचार हो रहा है;···बाबा की अनुमति का संकेत भी हो चुका है···याद है चलते चलते क्या कहा था दाशराज ने··· बहुत प्रसन्न है वह मुझसे···कोई कलंक न आ पायेगा तुझ पर···तेरा कौमार्य अक्षुण्ण रहेगा···विश्व तेरी वन्दना करेगा···परमात्मा स्वयं तेरे गर्भ से अवतरित होंगे···तू अमर हो जायेगी···सम्पूर्ण भारत तेरे इंगित पर नाचेगा सत्यवती। सत्य और अहिंसा से गूंजेगा यह देश···सत्य और अहिंसा का उद्घोष करेगी तेरी सन्तान। कोई उसे अवैध नहीं कहेगा, पराशर अपना नाम देगा उसे, पराशनन्दन कहेंगे लोग । मैं अपने

वंश की गरिमा से गौरवान्वित करूंगा उसे। अपना प्यार तो दूंगा ही, अपनी विद्या, शक्ति और तेजस्विता को उसमें भरकर ही मुक्ति का वरण करूंगा मैं···।

आओ अव विलम्ब ठीक नहीं··· यह शुभ घड़ी है इसे चूक गई तो सम्पूर्ण जीवन शापित होकर रह जायेगा।"

अनजाने आकर्षण से खिचती चली गई योजनगन्धा एकाएक खून की लाली झलकने लगी ब्रह्मचारी के बदन में। लगा अद्भुत तेज जागरित हो गया, हो एक विचित्र ओज उद्भासित होने लगा उनमें। उनका मुखमंडल अनुराग के रंग से अनुरंजित होने लगा। उनके अंग अंग में विशेष दीप्ती झलकने लगी। सारा शरीर विशेष पराक्रम से प्रदीप्त हो उठा···मत्स्यगन्धा सिमटती चली गई उनकी विशाल वाहुओं में और पलकें बन्द होने लगी। विशेष आनन्द में विभोर वह कोई प्रतिवाद नही कर सकी उसकी चंचल वाणी मौन हो चुकी थी···उसका हृदय अनन्त आनन्द के सागर में डूबने लगा था हल्की आवाज में एक वात निकली उसकी वाणी से···

"ऋषिवर ! दिन का यह प्रकाश कहीं पाप···?"

"नहीं सत्यवती चिन्ता न कर, निष्कलंक है तू निष्पाप ही रहेगी···।"— वाहों में जोर से कस कर अपने वक्ष से लगा, उसकी कण्ठ से लगा, गर्दन पर गर्म सांसे छोड़ते हुये, धीरे से बोले यौवन से उन्मत ऋषि—

"प्रकाश पाप नहीं होता दीप-शिखे।···फिर भी यदि तुम भय मानती हो तो लो मैं कुहरे से आच्छादित किये देता हूं इस द्वीप के वातावरण को—किन्तु याद रखना, अव तुम्हारी सन्तान का वर्ण सांवला हो जायेगा···सूर्य की धूप सा अंगार नहीं। ···चलो गर्भाधान से पूर्व ही कृष्ण नाम रख दें उसका और इस द्वीप को तो कृष्ण द्वीप कहते ही हैं···सांवरा सलौना ही इस देश का पूज्य वर्ण हो जायेगा···आज से धूप से चमकते गौरे रंग में वासना और सांवले सलौने रंग में अनुराग का भाव प्रकट हुआ करेगा।"···पता नहीं उन्होंने मुट्ठी भर कर चारों ओर क्या फेंका कि द्वीपपर अचानक गहरा कुहर उभर आया, आसमान में वादल से घिर आये···गहन अन्धकार छा गया ···रात सिमटती सी लगी द्वीप पर···और अचानक आसमान ने धरती पर झुककर रस की बून्दें टपकाना शुरू कर दिया। धरती मानो आंखे वन्द कर अपूर्व रस में डूबती जा रही थी···सौंधी सोंधी गन्ध ने वातावरण महकाकर रख दिया, योजनों तक मिट्टी की गन्ध के साथ ही सुमनों की गन्ध ने मिलकर हवा में दौड़ लगा दी।···कुछ ही देर में ताल तलैया भर गये और आसमान वरसकर साफ हो गया। सहसा निर्मल आकाश में सूर्य का तेजस्वी गोला नवजात शिशु की तरह धरती के स्तन से गिरिशृंगों पर अपनी किरणों के नन्हे हाथ फैला दूध सी वर्फीली चट्टानों को टटोलने लगा ?

———

बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद भी, मत्स्यगन्धा के न लौट पाने पर भी, मल्लाह बहुत चिन्तित हो उठा। वह यमुना की धारा में, बार बार, दृष्टि गडाकर, दूर दूर तक खोजता रहा किन्तु नाव कहीं दिखाई न पड़ी। उसने मन को समझाया— हो सकता है ऋषि पुत्र ने नाव को दूसरे किनारे पर ले चलने का आग्रह किया हो, और द्वीप के सघन वन वृक्षों की ओट में ओझल, वह मस्तानी फूलों की मोहक खुशबू में खो गई हो, कितनी बार समझाया'''पर कुछ सुने तब न ? चलो अब तो ऋषि का बेटा है साथ'''डर किस बात का'''?"

पर एकाएक वह चौंक उठा। यमुना के काले टापू पर धुँए के काले बादल मंडरा रहे थे। वह भय से सिहर उठा। तुरन्त अपनी कुटिया से किनारे की ओर दौड़ पड़ा और दौड़ता दौड़ता घुटनों तक जल में जा घुसा। द्वीप किसी विशाल कुहरे में घुसा हुआ दिखलाई पड़ा उसे। वह विस्मित था, आसपास तो कुहरे का कोई चिन्ह नहीं, वहाँ यह क्या हो रहा है। पुत्री के साथ ऋषि पुत्र की चिन्ता थी उसे। उसने अपनी वृत्ति के अनुसार, जान पर खेलकर भी, रहस्य पर से पर्दा उठाने का संकल्प किया। कुछ क्षण सोचा, दूसरे घाट की ओर दौड़ा, वहाँ एक नाव और बँधी थी। जल्दी जल्दी उसकी रस्सी खोलने लगा। वह ऐसा कर ही रहा था कि किसी के द्वारा स्वयं को, चिल्लाकर, आवाज लगाते हुए सुना, गर्दन ऊपर की तो देखा महर्षि शक्ति और अद्रिका उसी की ओर दौड़े आ रहे थे, वह कुछ आश्वस्त हुआ, उनका इन्तजार करने लगा, और नाव को खींचकर रस्सी को वहीं बाँध दिया।

उतावली में कदम रखते हुये, दौडकर आते, अद्रिका और शक्ति के मुख पर चिन्ता के लक्षण देखकर, दाशराज दोहरी चिन्ता में पड़ गये। इससे पूर्व की अभिवादन प्रणाम या चरण स्पर्श की औपचारिकता पूर्ण होती, शक्ति पहिले ही चिल्ला पड़े——

'दाशराज ! यहाँ से भाग जाओ अपनी जान बचाओ, कहीं जाकर तुरन्त भूमिगत हो जाओ'''तुम्हारे प्रति उपरिचर का प्राचीन वैमनस्य नष्ट नहीं हुआ है जो उसके युवापुत्र मत्स्य ने, वैर विरोध के रूप में, सम्भाल लिया है, वह विशाल वाहिनी लेकर, तुम्हें समूल नष्ट करने के लिये, इधर ही बढ़ा चला आ रहा है। प्रतीप के पुत्र शान्तनु की चिरतृषित कामवासना को शान्त करने के लिये, अपनी ही जुड़वा बहिन, उपरिचर की अयाचित सन्तान, मत्स्यगन्धा का सौदा किया है उस दुष्ट ने। मत्स्यगन्धा को प्राप्त करने के लिये वृद्ध काम पिपासु शान्तनु ने निषादों को समूल नष्ट कर देने की क्रूर अनुमति भी दे दी है। उपरिचर, आज भी, अद्रिका को भुला नहीं सका, इसका यहाँ रहना भी खतरे से खाली नहीं रहा।'''तुम पर आरोप लगाया गया है प्रशासकों के बीच, कि तुमने, अद्रिका को फुसलाकर, उसी बहाने

मत्स्यगन्धा को अपने टोले में रख रखा है और उसके यौवन और प्रभाव की ओट में असंख्य बार, चेदिदेश के व्यवसायी निर्यातक यात्रियों को, लूट का शिकार बनाया है व्यवसायियों के रक्षक, चेदिनरेश की कन्या की प्राणरक्षा के कारण तुम पर आक्रमण करने में असमर्थ रहते हैं किन्तु तुम दस्यु कार्य की क्रिया में सफल हो जाते हो…।"

"आपको तो पता है…मैं क्या करता हूं ?"

"मुझे पता होने से क्या अन्तर पड़ता है…?जो प्रशासकों के बीच प्रसिद्ध है, वह भ्रान्ति है या सत्य, उसी का महत्व होता है।…आज वे अद्रिका और मत्स्यगन्धा को मुक्त कराने के लिये, निषादों को खोज खोज कर नष्ट करते हुये तुम्हें वन्दी बनाकर उपरिचर के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिये, महाराज शान्तनु से सन्धि कर चुका है। वह वड़े वड़े रेगिस्तानों की धूल फाँकता हुआ, अरावली की पहाड़ियों को चीरता हुआ, नदियों के विशाल फाँट को लांघता हुआ वड़े मैदानों को पैरों तले रौंदता हुआ, शान्तनु जैसे सशक्त शासकों का आश्रय लेकर बढ़ा हुआ आ गया है -"

ऋषि की बात से नाम मात्र को भी, विचलित न हुआ बूढ़ा मल्लाह उल्टे उसकी आँखे अंगारे सी दहकने लगी; क्रोध से नथुने फड़फड़ाने लगे, मुँह तमतमा उठा और दान्त किटकिटाने लगे। तीव्र आवेश से उसका सारा शरीर काँपने लगा। वह गुर्राया—

"ऋषिवर ! आप गुह की सन्तान को कायरता का पाठ पढ़ा रहे हैं ?"

"नहीं बुद्धिमत्ता पूर्ण-मंत्रणा दे रहा हूं।"

'ऋषिराज ! कायर व्यक्ति, अपने जीवन में, न जाने कितनी वार, मृत्यु से पहिले ही मर और जी लेते हैं पर वीर तो एक ही वार मरता है। बुद्धिमान गीदड़ सीने पर वार नहीं झेलते दुम दवाकर भाग निकलते हैं। यह श्रेय सिंह को ही प्राप्त होता है, वही अपने सीने पर यह वार झेलता है।

"आवेश में मृत्यु का वरण मूर्खता है गुहराज ! मौत से तभी लड़ना चाहिये जव उससे बचना कठिन हो जाय। उससे पूर्व उपाय ही श्रेयस्कर होता है। राजनीति लोमड़ी की चाल पर भी चलती है और गुरीले युद्धों के साथ चूहों की चालाकी भी सिखलाती है…अभी समय नहीं निषाद !…विजय के लिये दो कदम पीछे हटकर ही सिंह सी छल्लाँग लगानी पड़ेगी।"

"वीर तो मरकर भी अमर हो जाता है ?"

"किन्तु जीवन रक्षा का उपाय रहते, मृत्यु की कामना न करनी चाहिये।…तर्क का समय नहीं तात ! तुम सिंह पशुओं की बात छोडो, बुद्धिमान व्यक्तियों का अनुसरण करो। मानव धैर्य रख कर बुद्धि से सिंह को भी इंगित पर नचा लेता है। बुद्धि मनुष्य का प्रबलतम शस्त्र है और धैर्य धर्म का लक्षण। धर्म बुद्धि से मानव ने सृष्टि में मानवीयता की विजय का तूर्य बजाया है। बुद्धि कहती है…समय की प्रतीक्षा करो, नीति कहती है धर्म की रक्षा के लिये शरीर जीवित रखो'।"

"अद्रिका और मत्स्यगंधा को छोड़कर भाग जाऊं यह कौन सा धर्म सिखला रहे हैं आप ? आश्रितों को अनाथ कर देना कौन सी नीति है प्रभु ! मैं इन्हें ऐसे छोड़कर नहीं जा सकता ।"

"अद्रिका मेरे साथ देवलोक जा रही है, देवराज की आज्ञा से । सुरपति ने इसे क्षमा कर देने का निर्णय ले लिया है, मुझे अद्रिका की संस्तुति करनी है अतः मैं स्वेच्छा से इसके साथ जा रहा हूं । तुम्हें भी इसकी प्रगति का रोड़ा न बनना चाहिये । इसमें अद्रिका का ही नहीं तुम्हारा और मेरा हित भी छिपा है । हम देवताओं से व्यर्थ ही क्यों वैर मोल लें ? हम उन्हें अप्रसन्न नहीं कर सकते, हम उनके ऋणी हैं, उनके प्रति कृतज्ञ भी होना चाहिये हमें । उन्होंने विपत्तियों में सदैव मनुपुत्रों की सहायता की है; धर्म की स्थापना, साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिये समय पड़ते ही धरती पर दौड़े आये वे······।"

"किन्तु उधर देखिये महर्षि !"——दाश ने काले द्वीप की ओर हाथ उठाकर संकेत किया——"मत्स्यगन्धा और पराशर साथ साथ फँस गये हैं वहाँ, उस धुंधियाले कुहरे में । बहुत देर हो गई, अब तक नहीं लौटे···मैं उन्हें खोज······।"

"समय मत खोओ दाशराज ! हमारे पास इतना समय कहाँ ? तुम उनकी चिन्ता न करो । शक्ति का पुत्र अपनी रक्षा के लिये स्वयं समर्थ है । तुम्हारी बेटी का अन्य कोई बाल भी बांका न कर सकेगा । पराशर के पास शास्त्र और तपस्या का ही नहीं, विज्ञान का भी बल है ।···कुहरे की क्या चिन्ता करते हो ? यह तो उसकी किसी माया का ही अंग है । हो सकता है अपना रक्षा कवच ही तैयार किया हो ।

तुम भी इस झोंपड़ी को बिल्कुल नष्ट कर दो···कोई चिन्ह शेष न रह जाये तुम्हारी स्थिति का यहाँ । मत्स्य अपने गुप्तचरों के संकेत पर, यहाँ आयेगा और तुम्हें खोज खोज कर थक जावेगा । यहाँ उसे न अद्रिका मिलेगी न मत्स्यगंधा अपना सा मुंह लेकर लौट जायेगा । शान्तनु की कामवासना उद्दीप्त होगी और उपरिचर उसके कोप का भाजन बनेगा ।

अभी तुम अपने आदमियों से यही प्रचारित करा दो कि द्वीप पर मत्स्यगन्धा नहीं, कोई ऋषि, अपनी पत्नी के साथ, रहते हैं; मत्स्यगन्धा स्वतः बच जायेगी ।

समय आने पर तुम प्रकट होकर, स्वयं मत्स्यगन्धा को शान्तनु के सामने प्रस्तुत कर देना, वह विलासी प्रसन्न हो जायेगा और तुम उसके कृपा पात्र हो जाओगे ।"

"मैं किसी का, कृपापात्र नहीं बनना चाहता, महर्षि शक्ति !" मल्लाह को दांत किटकिटाते देख मुनि गम्भीरता से मुस्कराये—

"सम्पूर्ण जाति को बचाने के लिये; इससे भी बड़े बलिदान करने होते हैं दाशराज ! नेता बनना सरल है, नेतृत्व का निर्वाह करना कठिन ।···क्रोध के आवेश में तुम्हें अपना जीवन लुटा देने का अधिकार है, किन्तु मत्स्यगंधा के साथ, अपने

आश्रितों या सहायकों का नहीं। निर्दोष, निर्बल, नर नारियों और वृद्ध-बालकों की जीवन-रक्षा के प्रश्न को बड़ा बनाकर, अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना चाहिये तुम्हें।

जो कुछ हो रहा है वह भविष्य की राजनीति का एक अंग है। मुझ पर न सही, अद्रिका पर तो विश्वास कर सकते हो? अद्रिका नहीं चाहती उसकी सन्तान से तुम्हारा सामना हो······।"

दाश ने अद्रिका की ओर निहारा, अद्रिका ने पलकें झुका कर संकेतात्मक मौन स्वीकृति दी। ऋषि ने अपनी बात पूरी की—

"समय आने पर सब पता चल जायेगा, तब तक नियन्ता के हाथ की कठपुतली बने रहने में ही भलाई है अन्यथा जीवन के सूत्र बिखरते ही सब खेल खत्म हो जायेगा। हम सब तो भावी के हाथ के खिलौने हैं पगले।···चलो अद्रिका!"— वे अद्रिका की ओर मुड़े और उसका हाथ पकड़ कर दौड़ने का उपक्रम करने लगे—

अद्रिका ने, एक बार पीछे मुड़कर देखा, दृष्टि में, पलकें झुका, आश्वस्त किया गुहको। पलकों में, पिछली स्मृतियाँ, घनीभूत होकर, आँसू की बून्दें बन बिखर गईं। बिछोह की, अज्ञात पीड़ा से, दो मन बोझिल हो गये। दुःख को कृतज्ञता के भाव ने सहारा दिया और पीड़ा तरल होकर अन्तर का सन्देश ले कपोलों पर ढुलक पड़ी। अनुभूति के स्पर्श से पुलका उठे दोनों, अनिश्चित बिछोह ने, कंपकंपा दिये दो शरीर···।

ऋषि ने अपनी झोली से कन्टुक सा कुछ निकाला और कुटिया पर फैंक दिया चिल्लाये—

"लो यह मोह भंग करो दाश।"

यमुना का सारा किनारा दहल उठा, पानी बल्लियों ऊपर उछला और धम्म से गिरा। कुटिया ज्वालाओं को पुंज बनकर धुंए में विलीन हो गई, नाम चिन्ह भी शेष न रहा, किनारे पर छोटी सी झील बनकर रह गई।

शक्ति, मल्लाह से विपरीत दिशा में अद्रिका को लेकर दौड़ पड़े। मल्लाह कुछ क्षणों तक सतृष्ण दृष्टि से खड़ा उन्हें देखता रहा फिर एकाएक आदेश का स्मरण कर दूसरी दिशा में दौड़ पड़ा।

× × × ×

कुछ दूर दौड़ने पर हाँफते हाँफते दोनों उस स्थान पर पहुंचे, जहाँ सघन वन कुंजों की ओट में, पहिले से ही छिपाये हुये, दो तीव्रगामी सुन्दर और स्वस्थ अश्व, सारे साज सामान के साथ कसे खड़े थे। उनमें से एक घोड़ा सफेद और दूसरा भूरा काला था। ऋषि ने अद्रिका को सहारा देकर सफेद घोड़े पर चढ़ा दिया और स्वयं दूसरे घोड़े पर चढ़कर लगाम खींच एड लगाई। घोड़ा, दोनों अगले पैर उठाकर, ऊपर उछला और बड़े जोर से हिनहिनाया, और साथ ही हवा में उछाल लेकर दौड़

पड़ा। अद्रिका के अश्व ने उसका अनुसरण किया और दोनों हवा से बातें करने लगे।

घंटो तक, फैले हुये जंगलों में, हवा को चीरते हुये, वे सरपट दौड़ते रहे। घोड़ों का वदन, अपने सवारों के साथ ही, पसीने से लथपथ हो गया। अप्सरा का कोमल शरीर, दर्द से कसमसा रहा था, उसने, कई बार, ऋषि से, रुककर विश्राम करने की अभ्यर्थना की किन्तु उसकी एक न सुनी गई। अचानक उसका कोई वस्त्र किसी पेड़ की शाखा से उलझ एक बड़े जोर का झटका लगा और धड़ाम से नीचे गिरी वह घोड़े से लुढ़क कर। घोड़े की तीखी हिनहिनाहट के साथ ही दर्द भरी चीख निकली उसके कण्ठ से, सुनकर दयार्द्र ऋषि ने, पीछे घूमकर देखा और तुरन्त् घोड़े को मोड़ पीछे की ओर लौटने पर विवश हो गये। अश्व से नीचे उतर, उन्होने अद्रिका को संभाल और अपनी बाँहों में उठाकर एक वृक्ष की सघन छाया में ले आये। शरीर पर भयंकर खरोंच के साथ ही, उसके पैर में मोच भी आ गई थी शायद। वह दर्द से कराह रही थी। शक्ति ने उसके पैर को झटक, मोच को खोलने का प्रयत्न किया तो वह दर्द से दोहरी हो, मुनि के कन्धे पर, सिर रख कराह कर उनके वदन से चिपक गई। अद्‌भुत सरसराहट सी हुई शरीरों में। ऋषि ने दर्द से द्रवित अप्सरा को बाँहों में भर सहलाते हुये किसी प्रकार आश्वस्त करना चाहा था, क्षण भर में बावरी जवानी बुढ़ापे पर सवार होने लगी किन्तु तपस्वी मुनि ने तुरन्त संयम की डोर खींच, मन को काबू कर लिया और अद्रिका को धीरे से अलग कर, घास पर लिटा लिया----

"मैं; जल लाता हूं तुम्हारे लिये, शायद तुम्हें प्यास लगी है ? जल से कुछ शान्ति अवश्य मिलेगी।"

वह घोड़े पर बंधे जलपात्र को लेने के लिये लपके। कुछ भुला कर रह गई अप्सरा। मन ही मन में बड़बड़ा भी रही थी शायद---

"इस ज्ञानी ध्यानी को, कब पता चलेगा कि कोई कोई प्यास ऐसी भी होती है, जो जन्मान्तरों तक भी नहीं बुझ पाती···?"

वह मन मसोस कर, पड़ गई शक्ति ने जलपात्र ला दोनों हाथों से भली प्रकार पकड़कर, अस्वस्थ अद्रिका के मुँह से लगा दिया, उसने दोनों हाथों से पात्र को पकड़ने का अभिनय करते हुये से, ऋषि के हाथों पर, अपनी हथेलियाँ रख, दवा दिया। पसीने से पसीज रही थी उसके करतल की उंगलियाँ, तो भी न जाने किस अजानी आग में तपती हुई सी लगी, ऋषि को, हथेलियाँ। वे चिन्तित हो गये।

"तुम्हें ज्वर तो नहीं हो गया अद्रिके ?"

"हूं ऽऽ···नहीं तो···स्वस्थ हूं मैं तो···बस जरा सी चोट···।" तन्द्रा का अभिनय कर रही थी शायद, अलसाई पलकों से देखते हुये जभाई लेकर, कुछ कुछ कराहट के साथ बोली वह। पता नहीं ऋषि समझ पाये या नहीं, सीधे स्वभाव पूछा—

"नहीं···लगता है तुम्हारी तबियत ठीक नहीं···यदि तुम कहो तो यहाँ विश्राम कर लें आज ?

अद्रिका को मन मांगा वरदान मिल गया था, लगा जैसे मनोरथ सिद्ध हो गया हो।

जाने कैसा अनजाना बन्धन होता है प्रीति का, जो आयु के बन्धन तोड कर भी तो बांधे रखता है प्राणियों को।

प्रकट में पूछा उसने—

"बहुत जल्दी तो नहीं···?"

"जल्दी तो है, किन्तु तुम्हें सकुशल ही तो सौंपना है देवेन्द्र को .?"

"क्यों ?"

"तुम्हारे वदन की म्लानता क्या उन्हें तुष्ट कर देगी, उल्टा वितृष्ण कर देगी मन को···।"

"तुम मेरे लिये इतने चिंतित क्यूँ हो ?"

"मेरे कारण ही तुम्हें अपने स्थान से गिरना पड़ा है। जब तक तुम अपने गौरव को पुनः प्राप्त न कर लोगी, मुझे चैन कैसे मिल सकेगा भला ?"

"तुम कितने महान हो शक्ति।"

"महानता की क्या बात है इसमें ?"

"कितना कष्ट उठा रहे हो मेरे लिये, अपने मान की भी चिन्ता नहीं कर रहे ?"

"जाने क्यूँ इतनी जल्दी तरला जाती है, स्त्रियों की आँखें पल भर में उसकी भीगी पलकों को निहार कर ऋषि ने सोचा और गम्भीरता के स्वर में उत्तर दिया—

"मान अपमान हमारे लिये नहीं हैं अद्रिके ! मन के द्वन्द्व हैं ये तो। हम लोग किसी भी प्रकार द्वन्द्वातीत होने का अभ्यास करते हैं।

"फिर भी इस अकिंचन के लिये इतना दुःख मानते हो ?"

"दुःख नहीं कृतज्ञता है प्रतिदान हैं, करणीय कर्म है, कर्म का भुगतान है।"

"कृतज्ञता काहे की ? मैं तो चाहकर भी कोई सुख न पहुँचा सकी आपको ? उल्टे कठिन परिस्थितियों में ही डालती रही सदा···।"

"अद्रिके ! तुम समझती हो, शक्ति तुम्हें कभी समझ न पाया ? मैं जानता हूं, अच्छी तरह जानता हूं, तुमने, अपनी आत्मा के कोर से, मुझे, असीम प्यार दिया है, जिसने मुझे अन्दर तक छुआ है। प्यार का कोई बदला नहीं चुकाया जा सकता कभी, तीन काल में भी। प्रेम का प्रतिदान, मात्र प्रेम ही है अद्रिके···दुनिया का कोई भी ऐश्वर्य नहीं···।"

रोमांचित हो उठी अप्सरा, आनन्दाभिभूत हो उसकी पलकें झपकने लगी जाने किस अतिरेक में, बरबस रोकी हुई, प्रीति के जल की दो बून्दें सहसा पलकों की कोर से खिसक कर कपोलों पर ढलक, अमृतमय मोतियों की तरह थिरकने लगी। पीयूष

स्रोत की तरह वहता, मुनि की वाणी का वह प्रवाह, मन्द न पड़ जाय, इस भय से, किसी प्रकार शब्द सहेज कर उसने कहा—

'फिर...?"

"तन का मिलना ही सब कुछ नहीं होता देवप्रिये ! मन से मन भी मिला करते हैं, अनुराग के पराग से भावनाओं की गन्ध उड़ा करती है ।

"भावनाओं से भूख तो नहीं मिटती भाव-भुवन !"

भूख तो शरीरों से भी नही मिटती भुवन मोहिनी ! पेट भर जाते हैं पर नियत तो नही भरती; स्वाद की चाह तो तीव्र होकर ललकती है; और भूख और अधिक होकर भड़कती हैं । हम सोचते हैं कि हम तृष्णा को किसी तरह शान्त कर देंगें उल्टा होता है, एक दिन वही हमें शान्त कर देती है ।

"किन्तु, तो भी; अहार के विना, क्या शरीर चल सकते हैं ?"

'देवताओं के सम्पर्क से इतना भी नही जान पायी अदिका, या क्षुद्र मानवों के सम्पर्क ने तुम्हारी यह दुर्दशा कर दी है ? देवता अन्नों से नही गन्धों से तृप्त होते हैं शरीर तो कुछ तत्वों का मिश्रण मात्र है । शरीर के किसी विशेष तत्व के अभाव की पूर्ति पदार्थों के अहार से की जाती है । पदार्थों में भी वे तत्व, एक विशेष प्रक्रिया द्वारा एकत्रित हो जाते हैं । यदि प्रकृति से, उन तत्वों को, सीधे ग्रहण करने की कला हम सीख लें तो न पदार्थों की आवश्यकता है न शरीर खपाने की ।—उसी कला का अभ्यास, हम योग वृत्ति द्वारा किया करते हैं ।—

"वासना तो फिर भी रह जाती है, देवों को उसका दास होते हुये देखा है । मैंने ?"

"उस वासना का भी क्षय करने की साधना हम किया करते हैं ।'

"उसके क्षय के बाद शेप क्या रहता है ?"

"आनन्द ।"

"उसकी अनुभूति कैसी होती है ?"

"आत्मा से ।"

"आत्मा से......? वह भी कुछ करती है क्या ?"

"वह स्वयं आन्नद स्वरुप हो जाती है ।"

"किस प्रकार ?"

"जब कोई द्वन्द्व नही रहता, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय.........'

"बड़ी गूढ बात है ! क्या सम्भव है ऐसा ......? चंचल चित्त इसे गृहण नही कर पाता ?"

"चित्त कि सीमा तोडनी पड़ेगी ।"

"कैसे ?"

"आत्मा के परिमिलन से ।"

"यह सम्मिलन प्रत्यक्ष में देखा नहीं जाता।"

"ठीक है, पर प्रत्यक्ष प्रमाण खोजे जा सकते हैं"

"कैसे ?"

प्रत्यक्ष के लिये स्थूल को आधार बनाना पडता है "

"स्थूल तो फिर शरीर हो गया ? या पदार्थ··· हाँ वह पदार्थ भी एक शरीर ही होता है ?'

„प्रत्यक्ष शरीर में भी अप्रत्यक्ष आत्मा के खेल चलते हैं सरले! स्वप्न में सुषुप्ति में यहां तक जाग्रत में भी, स्थूल सन्तानों के रूप में, हम प्रत्यक्ष होकर भी सूक्ष्म रूप से मिलने का प्रयत्न करते हैं ······ ।"

"हम ?···क्या मैं और तुम भी···?"

"तुम और मैं अलग ही कब हैं ?"

"आप वहाँ खड़े हैं और मैं यहाँ ?"

"फिर शरीरों की बात कर रही हो; खुद से पूछो कितनी बार मिले हैं हम ? ···हाँ स्थायी मिलन में एक तत्व बाधक है···?"

"कौन सा···?"

"वही, जो तुम कुछ क्षण पूर्व कह चुकी हो—वासना। वही व्यवधान बनकर खड़ी हो जाती है और मिलने नहीं देती।···हम उसी का क्षय करने की साधना करते हैं सुवृत्ते ! ऋषियों के, इस दिव्य दर्शन को, देवताओं ने स्वीकार किया है और इसी आधार पर उन्होंने, ऋषियों को, अपने से अधिक, महत्व देकर, ऊंचा स्थान दिया है···।

"···पर यह बड़ा सूक्ष्म दर्शन है, सामान्य जन इतना ज्ञान कहाँ से संचित करें, कर भी ले तो यह कठिन अभ्यास का बल कैसे संजोये, इतना कसकर कोई कहाँ तक स्वयं को रखे, प्रवृत्तियाँ तो पिंड नहीं छोड़ती न ?"

"ठीक कहती हो।···एक दूसरा मार्ग भी है।"

"कौन सा···?"

"अभी न पूछो तो ठीक रहेगा।"

"क्यों ?"

"शीघ्र ही वह मेरे तुम्हारे द्वारा प्रकट होगा।"

"कैसे ?"

"मेरे तुम्हारे अंशों के मिलने से जो अंशावतार प्रकट होगा वह विश्लेपण करेगा उस तत्व का। मैं उसे प्रकट कर उसके महत्व को कम नहीं करना चाहता मानव की प्रत्यक्ष साधना का फल क्रिया में स्वयं अवतरित होगा, उसे शब्दों में यूँ उतरना सम्भव नहीं है।"

"मैं और तुम, अब कहाँ मिल सकेंगे, अब तुम मुझे देवराज को सौंप ही दोगे ?"—वह मकडी की तरह अब भी मन का जाला बुने जा रही थी । ऋषि ने विस्मित कर दिया उसे वाणी के जल से उस पर मोती सजाकर—

"वह मिल चुके हैं साध्वी !"

"मिल चुके हैं···? कब···? कहाँ···? क्या कर रहे हो ?···सच कहो न ?"

"सच कह रहा हूं ।"

"मैं समझी नहीं ?"

"यह इतना सूक्ष्म सत्य है कि वासना के रहते समझ में आ ही नहीं सकता !"

"नहीं आ सकता तो न आने दीजिये···चलो मुझे, एक सन्तोष तो हुआ ।"

"क्या ?"

"कि आप मुझे···।"

मन ही मन मुस्कराये ऋषि—"कितनी ग्रन्थियाँ बांध बांध कर रखती है अपने मन के गह्वर में मधुमयी नारी···।" उन्होंने मानो गांठ को खुलवाने का उपक्रम करते हुये कहा—

"क्या कहा तुमने, मैं सुना नहीं ? जाने फिर क्यों हिचक गई यौवना फिर भी पूरी न कर सकी, बोली—

"कि आप मुझे प्प ।···प्प···।"

"लजाओ नहीं, स्पष्ट कह दो 'प्रेम' ।

'हाँ···हाँ···।"

क्षण भर में मुग्धा, क्षण भर में ज्ञात यौवना और क्षण भर में सब कुछ जानने वाली प्रौढा और क्षण भर में अनजान जिज्ञासु, पता नहीं कैसी वय सन्धि आ गई थी अप्सरा में । जैसे क्षण क्षण में रंग विरंगे प्रकाशों में इठलाती अनेक दीप्तियाँ उद्भासित करती थी उसके चेहरे को–वह जाने किस बेसुधी में थी आँखे बन्द कर अजीब ढंग से फुसफुसाई—

"हाँ मुझे निश्चय हो गया, तुम मुझे प्यार करते हो···।"

"क्या यह आत्म तुष्टि, यह सन्तोष प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कि बिना शरीरों के भी काम चल जाता है ?"

"भ्रम हुआ तो···।"

"कहीं कचाई है तुममें ?"

"क्या तुम भी···।"

"हाँ मैं भी···।"

"फिर इतने दूर क्यों···?" देवलोक के प्रथम मिलन की स्वप्न द्रष्टा अद्रिका जाग उठी, फिर उसमें । वह विकल हो उठी···मुनि के शब्दों ने तोड़ा मधुर स्वप्न का इन्द्रजाल—

"मैं सारी वसुधा से प्यार करता हूं…उसके कण कण से स्नेह है मुझे… तुम भी तो एक कण ही हो उसका…जिसमें मेरा मायाधर लीलानर्त्तन कर रहा है… इतने सारे कणों को, प्रत्यक्ष तन से मिल पाना, क्या सम्भव है अद्रिके?…सूक्ष्म मिलन तो प्रत्येक क्षण हौता रहता है…विशेष रास होता है योग समाधि में, जहाँ अपनी ही विभूतियों के रूप में ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण विभूतियों को नचाता हूं मैं, विशेष संगीत के नाद पर। स्वयं ब्रह्म होकर आनन्द की क्रीड़ा का आयोजन करता हूं ।"

"मैं तो लुट गई ?"

"क्यूं ।"

"मैं तो खडी, देखती ही रह गयी ।"

"क्यूं !…मिल तो रहा हूं मैं तुम से भी… ।"

"पर…… ।"

"इस "पर" में ही वासना का जाल पड़ा है अप्सरे … तोड दो उसे ……। मिटा दो मूल से…।"

"किन्तु इसका मिटाना क्या इतना सरल है? सर्वत्र साम्राज्य है इसका…।"

"……क्या करें यही तो तड़पा रही है तुम्हें। अशान्त कर रही है, रातदिन दैन्य भर रही है तुममें …तुम्हें ही क्या सारे संसार को उलझा रखा है इसने…यही तो है जो दुनिया के दुःख दर्द, अत्याचार अनाचार, अन्याय, शोषण, उत्पीडन, संघर्ष युद्ध, और महायुद्धों को जन्म देरही है ऋषि भूमि को भी प्रभावित कर दिया है इसने। भारतवर्ष में भी अपना खेल खेल रही है यह। चन्द्रवंशियो की घुट्टी में घुल गयी है यह। आद्रिके ! सारे समाज की व्यवस्था डांवाडोल हो गई है। मानव औरों को तो क्या, स्वंय को ही भूल, खो गया है कहीं ? इसकी सांसों में …स्वार्थ की प्रचण्ड निश्वासों से जल रहा है वह। जब तक एक महायुद्ध से सब कुछ विनाश को प्राप्त नहीं हो जायेगा; एक नई व्यवस्था का जन्म नहीं हो सकेगा। अद्रिके ! बोलो…एक ब्राह्मण एक अद्रिका के प्रणय निवेदन का विचार करें, कि सम्पूर्ण जलती हुई वसुधा की सांसों को गिने… …? महायुद्ध की प्रचण्ड दहकती हुई ज्वाला में जलता हुआ, विश्व का सौंन्दर्य देख रहा हूं; उसकी शान्ति को धुआं वनकर उड़ती हुई देख रहा हूं मैं इस भयंकर असन्तोष में कौंन सी सत्साधना सम्भव हो सकेगी ……? " (वातावरण गम्भीर हो गया था, लौट आई अद्रिका यथार्थ में……)

"युद्ध की क्या आवश्यक्ता है ? इस देश का अन्य शिक्षित समुदाय क्या कर रहा है ?… क्या कर रहें हैं समस्त प्रबुद्ध बुद्धिजीवी, तपस्वी, सन्त, कलाकार, साहित्यकार, और मनीषी…… ?"

"वे तुम्हारे जैसी अद्रिकाओं द्वारा ठगे गये हैं अथवा सत्ता की छलनाओं से चकाचौंध हो चुके हैं या तो वे वेतन भोगी होकर शासकों की चाटुकारिता में, धर्म को नीलाम कर रहे हैं अथवा सत्ता की लोलुपता में स्वयं ही विध्वंस की ज्वाला की

जन्म दे रहे हैं।···देवेन्द्र, इस देश में, रुचि रखते हैं किन्तु उन्हें इस देश में ऐसा व्यक्ति नहीं मिल रहा जो ज्ञान विज्ञान की शक्ति के साथ ही संयमी और निर्लिप्त भी हो। वह मुझ पर कोई दायित्व लादना चाहते थे, किन्तु मैं किसी भी व्यामोह से विलग रहने के लिये प्रयत्नशील हूं, तो भी, पता नहीं ईश को क्या स्वीकार है ?··· अद्रिका ! तुम्हें देवराज अपनी किसी योजना का अंग बना चुके हैं अतः वह तुम पर प्रसन्न हो गये हैं।"

अद्रिका को ऋषि की बात से कोई तुष्टि न थी, पर अपने महत्व के स्मरण से उसका उत्साह कुछ बढ़ गया, अचानक वह खड़ी हो गई—

"चलिये मुनिवर ! मैं स्वस्थ हूं अब, अब विश्राम नहीं चाहिये मुझे···किन्तु एक शर्त्त है···?"

"क्या ?" चौंके शक्ति।"

"घबराइये नहीं; कोई गड़बड़ नहीं······बस इतनी कि धीरे धीरे चलें, बातें करते हुये।" मौन रहने में जाने क्यूँ थकान बढ़ती है······आपकी बातों का रस···। हाँ, यह बतलाइये क्या देवलोक तक यूँहीं चलना है—अश्वों पर ?"

"नहीं, हमें देवद्वार तक जाना है, उसके बाद देवराज मुझे आवश्यक निर्देश दे तुम्हें साथ ले जायेंगे।"

कुछ क्षण को उदास हुई अद्रिका किन्तु शक्ति के सङ्ग ने कुछ शक्ति दे दी थी उसे और वह स्वयं को संयमित करने में समर्थ हो गई।

अश्व चले किन्तु विचित्रता यह थी कि अबकी बार अप्सरा आगे और मुनि पीछे थे। कुछ दूर चलने के के बाद गर्दन पीछे मोड़ शक्ति की ओर देखा और मौन तोड़ अद्रिका ने···

"शक्ति !"

"हूं ?"

"एक बात पूछूँ।

"पूछो।'

"पुरुष अप्सराओं के विषय में क्या सोचते हैं ?"

"मुंडे मुंडे मतिर्भिन्नाः—अलग अलग विचार हैं। कोई कामिनी, कोई विलासिनी और कोई मनोरंजन का साधन; कोई कलाकार, कोई नर्त्तकी और कोई साधकों का मन मोहकर भृष्ट करने वाली मोहिनी मरीचिका और कुछ इन्द्र की क्रीतदासी विकल कामदेव की सहचरी सहायिका सखी···।"

"कोई ममता मयी नारी भी समझता है कि नहीं ?"

"मैं···?"

'तुम भी नहीं समझते ?".

'तुमने मेरी बेटी के विषय में जो प्रस्ताव निषाद के सम्मुख रखा था, क्या

पर्याप्त प्रमाण नहीं है इसका ? तुमने मत्स्यगन्धा सी सुकुमार कन्या को, एक विलासीं बृद्ध को सौंपने का विचार किस आधार पर संजोया ?"

"एक सुखी भविष्य की कामना से···।"

"कौन से सुखी भविष्य की···?"

"एक विशाल साम्राज्य का ऐश्वर्य उसके सामने नत हो जायेगा।"

"लगता है स्त्रियों के विषय में आपका चिन्तन नगण्य और ज्ञान शून्य है ?"

"कारण ?"

"क्या आप उन्हें ऐश्वर्य की क्रीतदासी ही मानते हैं ? किसे प्रिय नहीं ?"

"ऐश्वर्य भी···?"

"आपको भी······।"

"मुझे उसका अनुभव नहीं, मैंने कभी वह भोगा नहीं ।"

"मैंने भोगा है···।"

"···अनुभव भी किया होगा ?"

"क्या उपरिचर काम ऐश्वर्यशाली है ।"

"महाराजा शान्तनु के सामते तो निश्चय ही···।"

"इन्द्रलोक का ऐश्वर्य भी···?"

"नहीं···।"

"अद्रिका को उपलब्ध था या नहीं ?"

"था ।"

"फिर क्यूँ उसे लात मार कर, वह एक फक्कड़ के चरणों पर आ गिरी ?"

अद्रिका के आर्द्र स्वर में उसके मर्म को पहिचान शक्ति गम्भीर होकर बोले—

"सभी फक्कड़ शक्ति नहीं होते और न ही सब नारियाँ अद्रिका ?"

'मैं सभी की नहीं, अद्रिका की बेटी की बात कर रही हूं । आपने अपने बेटे-पराशर की क्यों न सोची ?

"पराशर, बीतरागी बाप की विरक्त सन्तान और याया वर है।"

"स्वयं को छल रहे हो मुनि श्रेष्ठ, या मुझे ? क्या शक्ति के हृदय में कभी कोई प्रेम का अंकुर नहीं फूटा ?"

अद्रिका ने, अपना अश्व शक्ति के अश्व के सामने अड़ा, मार्ग अवरुद्ध कर, उसके निकट हो, आँखों में आँखे डाल दी; एक बारगी हिल गये ऋषि, घोड़ा हिनहिना कर ठहर गया। शक्ति ने उसी भावावेश में उसकी आँखों में गहराते हुये झांककर कहा—

"मैं तुम्हें क्या दे सका हूं आज तक ?" अनजानी कसक में लिपटे थे शब्द, कण्ठ गद्‌गदा उठा।"

"किन्तु वह दे सकता है। जो शक्ति न दे सका, वह पराशर दे सकता है।"—दृढ़ निश्चय के साथ बोली वह।

"कैसे दे सकता है पराशर ?…शब्दों पर स्वर का बल देते हुये पूछा – उसी दृढ़ता से तर्क प्रस्तुत किया—

"शक्ति शिवानी के बन्धन में बन्धा एक पत्नी व्रत गृहस्थ था। पर पराशर तो उस मर्यादा से मुक्त एक सद्य सुकुमार ही है न ?

"शिवानी को ही क्या मिल गया मुझसे ?" स्वर की आर्द्रता में कड़ुवाहट सी तैरने लगी शक्ति के—समाधान से सान्त्वना को जोड़ा अद्रिका का ने…

"जो एक स्त्री, सदैव, पुरुष से चाहती है; मातृत्व का सुख। क्या पराशर सा पुत्र रत्न, उसकी पूर्ण उपलब्धि नहीं ?"

"यह तो उसी से पूछना था ?"

"मैं स्वयं से पूछ चुकी हूं, एक नारी से पूछ चुकी हूं जो अप्सरा में बैठी बिलबिला रही है।"

"नहीं तुमने उस नारी से पूछा है अद्रिके। जिसे ऐश्वर्य सुलभ था; उससे नहीं पूछा जो अभावों में पली, अभावों में जियी, खपी और अभावों में मरी; अन्न के एक एक दाने की पूर्ति के लिये जिसने नित्य नये नये उपवासों का सहारा लिया। आभूषणों की ललक में, पाटलों के कुसुम चुनने के लिये, कंटीली डार और उलझती झाड़ियों में, न जाने कितनी बार अपने कमल से कोमल हाथों को, नुचवा नुचवा कर, लाल लाल खून की बून्दों से पीड़ा और कराहट की नुमायश लगाती रही वह। शिविका के अभाव में कंटकाकीर्ण पथरीला मार्ग, उसके मुलायम पैरों के छाले फोड़ फोड़कर सूखे ओठों की प्यास और कंठ की कसक में हिचकियों की गुमक बनकर सदा ही रुलाता रहा उसे। मखमली गद्दों और रेशमी आच्छादनों के अभाव में तपती हुई कठोर भूमि पर शयन करने वाली कंचन सी उसकी देह, वल्कलों को धारण करते, झुलसे हुये कांस और सिवार का रूप रंग लेकर झुरिया उठी।

ऐश्वर्य शालियों के लिये वन का कठिन स्थान एक दिन का रमणीय आमोद स्थल हो सकता है ऐश्वर्य युक्त अप्सरा ! किन्तु नित्य हिंसक पशुओं और क्रूर दस्युओं आतंकित, भय ग्रस्त, संत्रस्त-नारी के, पीपल के पत्ते से, कांपते हृदय की कल्पना, असम्भव है अद्रिका !"

"क्या पति के सान्निध्य में प्रसन्न नहीं थी शिवानी ?"

"यह शिवानी की महानता है शक्ति की नहीं। शक्ति को क्या अधिकार था, कि जिसे वह सामान्य नागरिकों की सुख सुविधा भी प्रदान करने में असमर्थ हो, उसे, केवल अपने सुख या वंश बेल की रक्षा के निमित्त, अंगारों की राह पर लेकर चल पड़े।"

"आपका, अंगारों की राह पर चलना, मानवता के कल्याण के लिये है; न कि अपने लिये ? मानव संस्कृति की रक्षा के लिये है, न कि पाशविक वृत्तियों की स्वार्थपूर्ण तुष्टि के लिये ? असुरों से धर्म की रक्षा, विश्व के शाश्वत सुख और परम शान्ति के लिये है आपका प्रेरणामय बलिदान उसमें सहयोगी होकर पुण्य और यश

की बराबर गरिमा नहीं पा गई क्या सहज ही शिवानी, विश्व की मंगलमय प्रगति के पथ में ? ब्राह्मण का जन्म एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये होता है मुनि श्रेष्ठ !"

"और ऐश्वर्यशालियों का जन्म, सुख भोग के लिये, दूसरों को अभावग्रस्त कर आनन्द मनाने के लिये ही होता है ··कैसी सुन्दर व्याख्या है ? कितनी कमनीय विडम्बना है ? —तुम्हें पता है किस स्थिति को पहुंच जाता है अन्तत; वह ? कोरी महानता थोपकर उससे सहज ही में कुछ ठग लिया जाता है उसका और अर्थ की विषमता में सारा मान एक धोखा बनकर रह जाता है अद्रिके ! बस एक छलावा, अभावों से जलते और पीड़ा से कसकते हृदय पर आत्मतोष का जल छिड़कता रहता है बेचारा···अपनी शुचिता और संयम की साधना में छुआछूत का दोषी बनकर, असवर्णों का कोपभाजन होना है सो अलग, उसकी सारी उपलब्धियों को, राजनीति के द्वारा भरपूर दुलत्तियां लगाई जाती हैं अद्रिका !······।" वितृष्णा से मुस्कराये ऋषिवर !

"आप दुःखी हैं मुनिवर, सन्तुष्ट नहीं अपने पथ से ?"

"मेरा मार्ग उज्ज्वल है, पूर्वजों का दिखलाया हुआ पवित्र पथ है कल्याण का मंगलमय वाहक और धर्म की ध्रुव दिशा है।"

"फिर ?"

"आज की स्थिति से सन्तुष्ट नहीं मैं, वर्त्तमान व्यवस्था से कष्ट है मुझे···।"

"क्यों ?"

"समाज के अनीतिमय संघर्ष और वैषम्य के कारण सत्ता कुछ ऐसे लोगों के हाथ में आ गई है कि जिनका संस्कृति और आधार भूत धर्म से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।"

"वैषम्य तो बहुत दिनों से आ रहा है, मुनि श्रेष्ठ ! आज अनीति युक्त कैसे हो गया ?"

सत्तावान, स्वार्थ लोलुपों की कुचेष्टाओं के कारण ! आज सारा संसार अनीति का निकेतन, कष्टों का तप्त कटाह बनकर रह गया है। मानव मानव का शत्रु हो कर रह गया है। शोषण और उत्पीड़न के कर्म ने उसे दानवी संस्कृति का अप्रत्यक्ष अनुकरण कर्त्ता बनाकर, रख दिया है । प्रत्यक्ष में चाहे वह नरभक्षी न दिखलाई पड़ता हो, किन्तु अभावों से संत्रस्त कर, तिलतिल जलाकर उत्पीड़ित मानव को मार डालने में, वह दानवों से दो कदम आगे बढ़ गया है ।

पहले वैषम्य में साम्य था। सम्पूर्ण समाज एक इकाई था । समन्वय की भावना उसकी मूलाधार थी । आनन्द उसका लक्ष्य था। सुख दुःख हानि लाभ जय-पराज्य, ऊँच नीच और जीवन-मरण के द्वन्द्व भी आनन्द की सामूहिक शाश्वत भावना में पर्यवसित हो जाते थे। आदमी सब कुछ हंसते हंसते सह जाता था। कष्टों

का वरण स्वतः कर लेता था। आज ऐश्वर्य और सुख भी उसके लिये, अपमान युक्त कष्ट बनकर रह गये हैं वह विवश कथा दोहराता हुआ अपराधों की व्यथा को वहन करता रहता।

पहले श्रम का महत्व था, गुण का आदर, विद्या का वर्चस्व और धर्म का सम्मान था आज मात्र अर्थ का महत्व है—"सर्वे गुणा काञ्चन माश्रयन्ति" सारे गुण स्वर्ण में है। अर्थवान सहज ही गुणी कहलाने लगता है। निर्धन गुणी भी अकुलीन का तिरस्कार भोगने को विवश है। सत्ता सम्पन्न व्यक्तियों ने, अपने सिंहासन बचाने के लिये, न्याय अन्याय का विचार छोड़, दुर्दम्य डाकुओं और अधर्मी तस्करों का भी पक्ष गृहण करना प्रारम्भ कर दिया है। पहिले अनुदान, गुणियों, विद्वानों, अन्वेषकों, कलावानों, आश्रमिकों, तपस्वियों और धार्मिकों को दिया जाता था, आज वह मद्यप मांसाहारी दुःशील अकर्मण्य बुद्धिहीन विलासियों, मदालयों, निशालयों, मोदालयों और पर्यटन स्थल तथा क्रीडास्थलों पर व्यय होता है। ममतामयी नारी को ओज प्रेरणा की शक्ति नहीं, विलास की मूर्ति बनाकर रख दिया है वैभवशालियों ने, उसे नग्न सौन्दर्य की नग्न चित प्रदर्शनी बनने पर विवश कर दिया है विलासी धनाधीशों ने। पहिले प्रत्येक वर्ण अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुये, दूसरे का सम्मान करता था और राष्ट्र धर्म के भाव से ग्रहण करता था निज के कर्म को, किन्तु आज व्यक्ति स्वयं पर केन्द्रित होकर व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की विषभरी झोली से घृणा की ऐसी धूल उड़ाता है भेदभाव की दीवारें खडी हो जाती हैं, जाति गत वैमनस्य के विषवृक्ष उगते हैं, राष्ट्र की एकता ही विखंडित नही हुई समष्टि धर्म का सर्वनाश हुआ जा रहा है। पहिले व्यक्ति समाज के लिए वलि हो जाता था आज वह अपने लिये समाज की कोई परवाह नहीं करता, बड़ी आसानी से मानव मूल्यों की बलि दे देता है।

पहिले शिक्षक सत्ता को नियंत्रित करने की शक्ति रखता था, आज सत्ता की दृष्टि में, उसका वेतन भोगी, क्रीतदास से अधिक, कोई महत्व नहीं। पहिले पूंजी का नियोजन सत्कार्यों के लिये होता था, आज वह व्यक्तिगत विलास का साधन बनकर रह गयी है। पहिले शिल्पकार समाज के सुन्दर सृजन को अपना अहो भाग्य समझता था, सम्पूर्ण समाज को अपने कन्धों पर ढोने के गौरव गौरवान्वित होता था। आज वह शेष समाज को अपना शत्रु समझ, उसे भस्मसात करने के स्वप्न देखता है और स्वयं ही समाज के कन्धों पर चढ़ बैठने के लिये प्रयत्नशील है। पहले विज्ञानी अपने विशिष्ट ज्ञान से, अन्तरिक्ष की अप्रत्यक्ष शक्तियों का साक्षात्कार कर समाज के लिये सुख, शान्ति और शक्ति का संचय करने की बात सोचता था, आज वह सम्पूर्ण मानव जगत के लिये विनाशकारी आग्नेय-अस्त्रों के निर्माण की दिशा बनाकर प्रलय का आह्वान कर रहा है और यह सब सत्तावान स्वार्थ लोलुपों की क्रूर अभिलाषाओं को मूर्त्त रूप देने के लिये किया जा रहा है।"

"भारत पर देवों की कृपा है, ऋषि प्रणीत धर्म ग्रन्थों की शिक्षा है, ब्राह्मणों

की त्यागपूर्ण निष्पक्ष बुद्धि है, अपूर्व अजेय संस्कृति है।…शीघ्र ही ये वादल छँट जायेंगे आप इतने चिन्तित क्यों हैं ऋषिवर !"

"पुरुषार्थ के अभाव में।…प्रयत्न तो करना ही होगा अद्रिके ! देवता, प्रत्यक्ष होकर कभी भी किसी की सहायता नहीं करते वे, वह अप्रत्यक्ष रूप से ही बुद्धि देकर, पुरुषार्थी और संयमी मनुष्य की सहायता किया करते हैं। ऋषि प्रणीत धर्म ग्रन्थों की रक्षा में वेतन भोगी बाह्मण पूर्ण असमर्थ हैं। वे, वह शिक्षा देंगे जो सत्ता चाहेगी, पूर्वाग्रह ग्रसित व्याख्या करेंगे वे और स्वामियों को प्रसन्न कर धन वटोरेंगे। धर्म का मार्ग कैसे प्रशस्त कर सकेंगे वे ? यहाँ ऐसे ब्राह्मणों की आवश्यकता है जो स्वयं पुरुषार्थी बन, जीवन और मृत्यु के प्रश्न को अलग रख, क्रान्ति का सूत्रपात कर सकें। धर्म पुरोहित, किसी भय से, जब शासकों की हाँ में हाँ मिलाने लगते हैं, तो धर्म का नाश ही कर बैठते हैं, रक्षा नहीं।

भारत विभिन्न संस्कृतियों का आगार है उसने अपनी उदार भावना से सबको कण्ठ लगाया क्योंकि सर्वात्मवाद और समन्वय की भावना उसके मूल में रही है और अनन्त काल की साधना के बाद, गवेषकों, व्याख्याकारों, मनस्वियों और विद्वानों ने, सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के रूप में, भारतीय ऋषि संस्कृति को सर्वोत्कृष्ट और सर्वमान्य ठहराया था किन्तु आज वह वनवासिनी हो, सरस्वती की धारा की तरह, न जाने कहाँ विलुप्त होने का प्रयत्न कर रही है ? आज आसुरी संस्कृति विदेशी संस्कृति के रूप में, सब पर हावी हुई जा रही है।

देश और संस्कृति को बचाने के लिये, क्रान्ति की प्रदीप्त ज्वाला को लेकर आगे बढ़ने के लिये और सम्पूर्ण समाज में धर्म का दिव्य आलोक प्रकाशित करने के लिये, मुझे अपने पुत्र के सहयोग की आवश्यकता है अद्रिके ? मैंने उसे जन-जीवन से दूर-दुनिया की माया से दूर-विशेष यत्न से संवारा है, वह तुम्हें या तुम्हारी बेटी को कैसे सौंप दूँ मैं ?

"एक बात कहूं ऋषिवर ? सुन सकोगे ?"

"क्यों नहीं ? तुम मेरी इतनी सुन रही हो, मैं तुम्हारी इतनी सी भी न सुनूँगा क्या ?"

"कुछ और नहीं, वही कहूंगी, जो तुम कह चुके हो ?"

"कुछ कहो तो ?" जिज्ञासा प्रकट की उन्होंने।"

"प्रेम……।" हँस पड़े ऋषि—

"सावन के अन्धे को हरा ही हरा सूझता है।"

"यह बात नहीं ऋषिवर ! क्रान्ति की ज्वाला का विकल्प बता रही हूं क्योंकि ज्वाला जला देती है। आप अपने पुत्र के हाथ में उसे नहीं, प्रेम का दीपक दो और दीप से दीप जलाते चलो।"

"चलो यह भी सोच लेंगे, समय आने दो, पुत्र नहीं तो पौत्र के हाथ में दे देंगे वह दीपक।"

"पर पुत्र को, पौत्र पैदा करने के लिये, भी, कुछ करना ही होगा ?"

"पर उसे तो वही करेगा न ? मैं तो नहीं, देखें आगे क्या होता है । हम तो नियंता के हाथों में खेल ही रहे हैं । जो विधाता को स्वीकार है, होना तो वही है। ······तुम भी परमपिता परमात्मा से प्रार्थना कर देख लो···मुझे बलपूर्वक घसीटने से क्या हाथ लगेगा···?···सुनो···अब जरा आगे की भी सुध लो···चलो, घोड़ों को खड़े खड़ें बहुत देर हो गई है···एड लगाओ घोड़े को···।"

अद्रिका ने, पलक झपकाकर, एक अपांग दिया और मुस्करा पडी। भोले शक्ति देखते रहे—और इस अवस्था में भी···?"—फुसफुसा कर रह गये । वह बोली--

"सुना है, तुम्हारा जरा नजदीक का नाता है, ईश्वर से···?"

"तुम क्या मानती हो ?"

"मानती हूं तभी तो आपसे कह रही हूं, जरा मेरे लिये आप ही सिफारिश कर दें, दो जहाँ के मालिक से, कि जरा जल्दी करके एक एड़ वह भी लगा दें पराशर के मन के घोड़े पर···।"

"हाँ, क्यों नहीं ? शुभस्य शीघ्रम्···मत्स्यगन्धा तो वहाँ है ही···।"

दोनों खिलखिला कर हँस पड़े और घोड़ों को एड लगा दी । घोड़े सरपट दौड़ने लगे और कुछ देर में ही हवा में तैरते से दीखने लगे । लगा जैसे बादलों की टहनियों में, झूला डालकर, दोनों आनन्द की पेंग बढ़ा रहे हों ।

चलते रहे, घोड़े चलते रहे । पर एक सीमा तो हर क्रिया की होती है, चलने की भी, घोड़ों और घुड़सवारों की । आखिर पसीने से लथपथ घोड़े फिर थकने लगे । ······घुड़सवारों ने वृक्ष की सघन छाँव के साथ ही किसी जलाशय की टोह लेने का उपक्रम किया और उचित स्थान पाकर नीचे उतर आये । घोड़ों पर से सांज सामान उतार वृक्ष की जड़ों के पास रखा और लम्बी रस्सी उनके पैरों से बांध घास चुगने के लिये खुला छोड दिया—

"बहुत थक गई हो अद्रिका ! हाथ मुँह धोकर थोडा स्वस्थ हो लो, फिर थोड़ा बहुत कुछ खा पीलेंगें ।"

"मैं तो अवश्य थक गई हूं और कुछ खाये पीये बिना मेरा काम भी नहीं चलेगा पर तुम्हें तो वह दिव्य कला आती ही होगी ? जिसके बारे में मुझे बतला रहे थे । तुम्हें क्या आवश्यकता है कुछ खाने पीने की ? सीधे प्रकृति से तत्वों को ग्रहण कर लो। शरीर धर्म तो हम जैसों के लिये ही होता है न ?"

विनोद का उत्तर विनोद से दिया ऋषि ने—

"ठीक है ! हम ऐसा ही करेंगे, पर प्रसाद रूप में थोड़ा सा तो ग्रहण करना ही पड़ेगा ?"

"ना, बाबा, ना ! मैं कोई प्रसाद वरसाद नहीं बाटती ।"

"चलो फिर भी शिष्टाचार मात्र कुछ तो साथ देंगे ही।"

"रहने दीजिये, मेरा साथ निभाना टेढ़ी खीर है, ऐसा करो मैं तुम्हें ऐसे ही शिष्टाचार का प्रमाण पत्र लिख दूँगी।"

"झूठ और निःशुल्क ?"

"यह निशुल्क ही सही: अब तुम इसे झूठ कहो या सच्चा वस्तुतः आचार का सम्बन्ध तो है ही शरीर से।"

"चलो कुछ तुम्हारा मन रखने के लिये ही सही ?"

"मन रखते रखते तो प्रौढ़ावस्था को पहुँच गये हैं आप ?"

"इतना तो कभी शिवानी भी नहीं झगड़ी मुझसे ?"

'यह ही तो गलती की उसने। झगड़ती तो दुनियादारी के आदमी न हो जाते ? अब तक ?"

"स्त्री पुरुष के बीच झगड़ा आवश्यक समझती हो तुम ?"

"यह तो भोजन की चटपटी चटनी है, विरसता या एकरसता समाप्त करने के लिये।"

"जीवन में एकरसता या समरसता बड़ी कठिनाई से आ पाती है ?"

"ऐ भगत जी ! बस-बस···भाषण चालू न कर देना···वरना मुझे पिंड छुटाना मुश्किल हो जायेगा।"

जलाशय में, रगड़ रगड़ कर हाथ पाँव धो रही थी वह सहसा आवेश में जो पलट कर उठी, तो चिकनी मिट्टी पर पैर रपट गया और धड़ाम से पानी में गिरी। सारे कपड़े भीग गये। कहीं गहरे गिरकर डूब न जाये, लपक कर, ऋषि ने गपका। उसका एक एक अंग भीग चुका था, पानी की ठंडक और ऋषि के स्नेहिल स्पर्श से पुलक उठी। रोमांचिता के उद्दीप्त वक्ष पर एक बार पूर्व यौवन का ज्वार तड़प उठा। भीगे हुये, झीने वस्त्र से झाँकती हुई, स्वर्णाभा के बीच, साँवले से चौड़े दो चकत्तों पर तने, कृष्ण मांस-चिन्ह देख, मुनि ने शर्मा कर पलकें झपका लीं, पर इसी असावधानी में उनका पैर भी फिसल गया और संभलते संभलते भी स्वयं बचने के प्रयत्न में अद्रिका को लिये ही जल में जा पड़े। पानी में आग लग गई, या काठ में जीवन पड गया अथवा बादलों में बिजुरी कड़क उठी; पता नहीं क्या हुआ; क्षण भर को अपनी चेतना खो बैठते वह किन्तु संयम ने समय पर साथ दिया उनका। अद्रिका का भी अभ्यास कुछ बढ़ ही गया था। वह भी संयम की डोर थाम संभल गई। सचमुच सत्सङ्ग पारस के स्पर्श की तरह लौह को भी स्वर्ण कर देता है।

दोनों बाहर आ गये और अलग जाकर वस्त्र बदल दिये। भीगे वस्त्रों को उतार, पेड़ की डाल से बाँध कर, सुखा दिया उन्होंने, और हँसते हुये एक दूसरे के लिये अहार परोसने लगे। भोजन के स्वाद से पूर्व जिह्वा ने अपनी दूसरी क्रिया चालू रखी—

"चलो अच्छा हुआ; इस बहाने स्नान हो गया; अन्यथा तुम तो पानी के स्पर्श से भी घबरा रही थीं ?"

"मैं या तुम ?···मेरे लिये यह तो सङ्ग दोष ही रहा होगा मुनिवर !

"सङ्ग दोष ?"
"नहीं, सङ्ग लाभ···।"
"किसका किसको ?"
"दोनों का दोनों को।"

"कैसे ?"

"कुछ आप चले, कुछ हम गिरे और दोनों फिसल गये।"

"पहिले तो तुम ही गिरी थी···?"

"पहिले मैं ही सही, वाद में तुम भी तो गिर ही पड़े न मुझ पर ?"

"वदनाम कर दोगी यूँ तो···तुम हमें ?"

'क्या नाम न होगा, तो भी ?"
"ऐसे नाम से मैं बाज आया···।"

"भरी सभा में अद्रिका के वस्त्र उतरवा कर, आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन करने वाला बाहरी सौन्दर्य की एक झलक से ही घबरा गया ?"

"अद्रिका। नारी स्वयं में एक विशिष्ट शक्ति है आकर्षण की।"

"अभी क्या ? आगे आगे देखिये होता है क्या ? अभी तो देवराज का शिविर बहुत दूर होगा, वहाँ तक कई पटकियाँ लग सकती हैं मुनिवर को ? आखीर पूरा चित्त करके ही प्रस्तुत करना है न वहाँ तो ?"

"मुझे भी तुम्हें विजयिनी के रूप में ही प्रस्तुत करना है न वहाँ तो ? जो लूट कर न लूट सका, उसने लुटकर ही लूट लिया। प्रबल प्रेम के प्रवाह में तो प्रभु को भी डुबकियाँ लगानी पड़ती हैं अद्रिके !"

"तुम वास्तव में महान हो शक्ति···।"

"बस, बस, नवनीत लेपन नहीं···सूखे फल हैं इन्हीं का सेवन करो···स्वास्थ्य के लिये अधिक उपयोगी रहते हैं।"

दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े और भोजन पर टूट पड़ी अद्रिका, ऋषि ने पूरा सहयोग किया इस क्रिया में। कुछ देर कपड़े सूख जाने की प्रतीक्षा में, अलग अलग, जमीन पर ही, लेट गये और वृक्ष के पत्तों की सघन राशि में अज्ञात की खोज़ करने लगे। फिर भी अद्रिका ने ही मौन तोड़ा—

"एक बात पूछूँ ऋषिवर ?"
"हां क्यूँ नहीं सारी पूछ लो, कुछ शेष न रह जाय !"

"नहीं, यह अन्तिम प्रश्न होगा शक्ति !"

"ऐसा न कह, अद्रिका !"—शायद ऋषि का मन अनहोनी की आकांक्षा से द्रवित हो गया था—तू चाहे जितना पूछ, तेरे जैसा जिज्ञासु मिले तो मैं जीवन भर भी बोलने से थक नहीं सकता।"

"हाँ क्यूँ नहीं, तभी तो कहते हैं कि कथावाचकों को आकर्षक श्रोता मिल जाये तो कथा कहने का आनन्द भी दुगुना हो जाता है।"

हँस पड़ी अद्रिका, खिसिया गये ऋषि।

"अब खिल्ली भी उड़ा रही हो भोले जन की···।"

"ये भोले बड़े तीक्ष्ण भाले भी होते हैं अन्दर तक पार हो जाते हैं।"

'अब कुछ पूछती हो, या मेरी नींद हराम करने का ठेका ही ले चुकी हो ?"

"कुछ अच्छा ही कररही हूं, तुम्हें तामसिकता से बचा रही हूं, नींद तो तमोगुण का चिन्ह है न ?"

"भाग्यवान ! नारी का चापल्य छोड़ सहज हो जाओ अब तो।"

"तुम पुरुष की गम्भीरता नहीं छोड़ते, मैं स्त्री की चपलता छोड़ दूँ, भला क्यूँ ?"

"अच्छा तो मत छोड़ो, मैं मौन हो जाता हूं।"

"हाँ झूठे आश्वासनों के गुरु जो ठहरे ?"

"क्यूँ ?"

"मौन हो जाओगे तो उत्तर कहाँ से दोगे भला ?"

"जब कुछ पूछती नहीं तुम !"

"पहिले मौनता का संकल्प पूरा कर लो।"

"संकल्पों को तो धराशायी करने पर तुली हो तुम।"

"पकड़ों कान, फिर तो।"

"किसके ?"

"अपने"

"क्यूँ ?"

"जल में स्पर्श किया था, मेरा शरीर; यूँ।"

"वह तो किसी की जीवन रक्षा का प्रश्न था···।"

"एक तरह ही मरते हैं क्या सब, कुछ हृदय के आघातों से भी तो मरते हैं।"

"उनके इलाज भी कई तरह से···किये जाते हैं।"

"किस किस तरह ?"

"कोई शरीर से, कोई मन, और कोई आत्मा से।"

'बुद्धि लौट पड़ी है शायद ?"

"तुम्हीं समझ लो।"

"प्रश्न करूँ ?"

"करो।"

"मैं ही करूँ सब कुछ या तुम भी करोगे कुछ ?"

"अच्छा मैं समझ गया तुम्हें कुछ नहीं पूछना है। तुम चलने की तैयारी करो, देखो कपड़े सूख गये हैं।"

"हम सारे ही सूखे जा रहे हैं रे शुष्क हृदय !" धीरे से फुसफुसाई वह और वह सचमुच ही कपड़े सहेजने लगे। थोड़ी ही देर में सारा सामान पुनः घोड़ो पर आ गया और तैयारी होते ही घोड़ें की पीठ पर जा चढ़े वह। अद्रिका देखती रह गई और सोचने लगी—"अजीब होती है इन ऋषियों की प्रकृति क्षणमें तोला क्षणमें रत्ती, क्षणमें दीपक क्षण में बत्ती, क्षण में बादल सूखी पत्ती। इनके भाव को पाना सहज नहीं, एक बार को तो ईश्वर भी चकरा जाता होगा?"—विवश होकर सामान सहेजना पड़ा उसे और बुझे मन से अश्व पर चढ़ ही गई वह भी। घोड़े अपनी राह चल पड़े, पर धीरे धीरे। दोनों वहुत देर तक कुछ नहीं बोले, क्या रूठने का अभिनय चल रहा था ? अन्दर वाला ही जाने। अब की बार मुनि ने मौन तोड़ा—

"तुम शान्तनु के विषय में कुछ पूछ रही थी ?"—

"तुम्हारी स्मृतियों से चिपट गया है वह खूसट।"

'तुमने मत्स्यगन्धा के सन्दर्भ में बात की थी।

"मेरी बेटी है वह···।"

"नहीं शान्तनु···।"

"मैं पूछती हूं क्यों बाँधना चाहते हो उस खूसट से मेरी बेटी को ?"

बुरी तरह झलाई हुई थी अप्सरा, सहम गये मुनिवर। देखकर चकित थे उसके तमतमाये मुख को। गुस्से में तमतमाये मुख में भी अपने लिये स्नेह की किसी चमक को पकड़ लिया ऋषि ने और मुस्करा पड़े—

"नाराज होने की बात नहीं है यह ?

"तो खुशी से नाच उठने की बात है क्या ?"

"यह बहुत बड़ी योजना का अंग है तुम्हारी बेटी उसमें महान चरित्र नायिका एवं कार्य साधिका के रूप में अवतरित होगी वह वास्तव में अपना सत्यवती नाम सार्थक करेगी। सत्य की पुनर्स्थापना होगी उसके द्वारा। आसुरी संस्कृति का विनाश होगा उस दैवी शक्ति के अंश से—।"

"कहाँ है वह आसुरी संस्कृति, उसका शान्तनु से क्या सम्बन्ध ?"

"सुनोगी ?"

'हुम् ?"

"शताब्दियाँ बीत चुकी है—

यूँ तो आज भी मानव मन स्वयं देवासुर संग्राम का रणक्षेत्र है पर बाह्य जगत में भी विभिन्न संस्कृतियाँ देव और असुर जातियों के रूप में सदैव संघर्ष रत रहीं और मनु की प्रिय सन्तान, अध्यात्मिक अभ्युदय और भौतिक उत्थान के झूले में झूलती हुई, दोनों के हाथ का खिलौना बनती रही। देव तथा असुर दोनों ही संस्कृतियाँ, प्रायः प्रवृतिमार्गी थी जबकि आर्ष संस्कृति निवृति मार्गी है और निश्रेयस की कामना

करती हुई, नियम और संयम की साधना के साथ, वेदान्त ज्ञान द्वारा, ब्रह्मानन्द प्राप्ति और आत्म साक्षात्कार के सुख का लाभ उठाती हैं और निष्काम कर्मयोग तथा कर्म भोग के सिद्धान्त पर भौतिक जीवन को आगे बढ़ाती है। शेष संस्कृतियाँ अविकसित, अर्द्ध विकसित, पाशविक चेतना के कारण भौतिक धरातल के सभ्य स्तर को छूने में भी असमर्थ रही हैं तो भी उक्त संस्कृतियों के संसर्ग का लाभ उठाकर क्रमशः, अनुकरण, अन्धानुकरण, विश्वास, अन्धविश्वास का आश्रय लेकर, विभिन्न आयामों को छूने का प्रयत्न करती रहीं है—

···शताब्दियाँ बीत गईं।

हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद के पौत्र, विरोचन पुत्र, वलि का देवराज इन्द्र के साथ प्राचीन संघर्ष का रूप एक बार फिर उभर कर सामने आया। भयंकर संग्राम के बाद देवता विजयी हुए और असुर पराजित।

अंगिरा सुत देवगुरु बृहस्पति, अत्यधिक प्रसन्न थे क्योंकि उस दिन उन्होंने, असुरों के गुरु भृगुसुत-शुक्राचार्य को नीचा दिखा कर अपने प्रति कृत अपमान का वदला चुका लिया था।

"कौन से अपमान का ?"

"जो शुक्राचार्य ने, चन्द्रमा को साधन वनाकर किया था।"

"चन्द्रमा को साधन वनाकर ? क्या कह रहे हैं श्रीमान ? चन्द्रदेव तो स्वयं देवता हैं ?"

"चन्द्रमा देवता तो अवश्य हैं, किन्तु विलासिता में समस्त देवगण से अग्रगामी हैं।"

"कारण ?"

"उनका सौन्दर्य—सुन्दर-गौरवर्ण, मृदुल-स्पर्श, मधुर स्वभाव, कान्तिमय कमनीयता, उज्ज्वल किरणों सा चमचमाता चारुतर हास विलास, सुधामय वाणी का मधुर वार्त्तालाप, कामिनियों को बेकल कर देने वाली चंचल चितवन, कामाग्नि को उद्दीप्त करने वाली क्रमिक काम कलाएँ, मन को प्रमुदित करने वाली रूपहली चाँदनी सी स्निग्धता, अन्तरङ्ग को शान्ति देकर तन को तृप्त करने वाली शीतलमंद गुहार··· ···क्या क्या वतलाऊँ···काम विलासिनी रमणियों का केन्द्र बिन्दु समझो उसे···?"

"वस वस···और प्रसंशा नहीं; क्या शुक्र की तरह आप भी अनुमोदक हो गये उनके ?···हो गये हों तो मुझे संकेत दीजिये, मैं भी अपने शस्त्र सँभालू···?"

"मैं अपने विरक्त स्वभाव के कारण उसका अनुमोदक तो नहीं, पर दूसरे गुणों के कारण उसका प्रशंसक तो हूं ही···"

"कौन से गुण हैं वे हम भी तो सुनें ?"

"वह रसज्ञ है, कला समृद्ध है, औषधियों का पोषक है, ब्राह्मणों से स्नेह रखता है, सूर्य के तप्त तेज को शीतल सुखद प्रकाश में बदल डालने वाला वैज्ञानिक

प्रक्रिया जानता है, एक बार ही समुद्र की विशाल जलराशि को ज्वार का रूप देकर उछाल देने की आकर्षक शक्ति और अपूर्व क्षमता है चन्द्र में।···"

"बस बस···कहीं विराम भी लगा दिया कीजिये भाषा में। शुक्र भी आपकी तरह इन्हीं गुणों पै रीझे होंगे और आचार्य पद से विकास देना चाहते होंगे उन्हें ?"

"शुक्र ने गुणों को नहीं, चन्द्र की विलासिता को प्रोत्साहित किया था।"

"विलास ही सही, आखीर आपको इससे इतनी चिढ़ क्यूँ हूं···कहीं रोगी तो नहीं हैं आप···?"

पुरुष के अहं पर चोंट की अद्रिका ने। एक क्षण विचलित हुये ऋषि, पर दूसरे ही क्षण, गहरे जल में फेंके गये कंकड़ की तरह गुड़प गये सम्पूर्ण भाव को उनकी चेतना मुस्कराहट में मुखरित हुई और व्यंग्य विनोद का आवरण ओढ़कर वाणी के झिलमिल शब्दों में फूटी—

"हम रोगी हैं या निरोग ? यह हम क्या बतायें, शिवानी से पूछा होता···।"

"पूछा था, बोली थी, कोई चूल जरूर ढीला था···शायद मस्तिष्क का···।"

"तब ही तो तुम्हारे साथ फिर रहा हूं···?"

"पर लाभ क्या···?"

"क्यूँ क्या लाभ चाहती हैं आप ?" विचित्र ढंग से देखा ऋषि ने अद्रिका को, शायद कठोर दृष्टि से घबरा गई थी बेचारी, बात को पलट दिया···।"

"नहीं···मैं पूछती हूं विलास से आपको चिढ है क्या?···आखीर पराशर जैसी सन्तान···।"

"सीमा का अतिक्रमण विनोद की शिष्टता समाप्त कर देता है अद्रिके !"

"ठीक है···पर मेरा मतलब है हास विलास···" उसने हँसी में उडाना।"

"बिछलो नहीं, सत्य से पराङ्मुख होने की आवश्यकता चाहा नहीं। पराशर मेरा पुत्र···मैं···मुझे विलास से कोई चिढ़ नहीं···मैं तों चिद्विलास का चितेरा हूं···पर आसुरी विलास का पुजारी नही। चन्द्रमा पर आसुरी प्रभाव, उसके उज्ज्वल चरित्र में विलास का कलंक बनकर उभरा।"

"देवता में आसुरी प्रभाव कब से आ गया ?"

"अमृत मंथन के समय से···।"

"अमृत मंथन के समय से ? क्या कहते हैं आप ? अमृत वितरण के समय तो उन्होंने विरोध किया था असुरों का ?"

"हाँ वही विरोध तो उसके लिये घातक हो गया, मोहिनी रूप विष्णु ने अमृतपायी असुर को दुविधा में डाल द्विमना कर दिया तो उन्हें देवत्व तो प्रदान करना ही पड़ा। उस असुर के संसर्ग की छाया सर्वाधिक चन्द्रमा पर ही पड़ती है और विलासिता को जन्म देकर अनाचार या बलात्कार की ओर प्रवृत्त कर देती है।"

"कोई उदाहरण दीखता नहीं ऐसा ?"

"उदाहरण तो ऐसा है कि उनके सङ्ग दोष से देवराज के चरित्र का भी स्खलन हो गया, गौतम नारी अहिल्या के शारीरिक सौन्दर्य को देखकर।"

"देवराज समर्थ हैं, शक्तिशाली हैं, उनकी आज्ञा पालन की चन्द्र देव ने, उनका क्या दोष ?"

"लगता है उनकी कमनीयता ने मोह लिया है तुम्हें भी ? तभी उनकी आलोचना सुहा नहीं रही है तुम्हें ?"

"जल गये न ?"

"जो तुम्हें मल्लाह के आलिंगन में देखकर न जला, वह देवताओं के अंक में देखकर क्यों जलेगा ?"

'मल्लाह के प्रति कृतज्ञ हूं मैं।"

"और उपरिचर के प्रति···?"

"जले पर नमक छिड़क कर रहे हैं आप ?"

'नहीं एक बलात्कारी पर तुम्हारा ममत्व दूसरे की याद दिला रहा है।"

"मेरा किसी बलात्कारी पर कोई ममत्व नहीं, कला की आराधिका कलाकार के प्रति अपनी सम्मान भावना बनाये रखना चाहती है बस···।

"अद्रिके जो कलाकार आदर्श से गिरने लगता है वह अपना सम्मान स्वयं खोने लगता है।"

"आखिर उन पर इतने कुपित क्यूँ हैं आप ? उन्होंने ऐसा किया क्या है ?"

"सुनोगी, तो कैंची की तरह चलने वाली यह जीभ तर्क की कतरने तैयारी करना तुरन्त बन्द कर देगी ?"

"हम पर भी कुपित हो गये सौम्य !"—अट्टहास कर उठी अप्सरा—"पता नहीं क्यूँ तुम्हें छेड़ने में मुझे विशेष आनंन्द सा आता है, एक अजीब सा सन्तोष होता है तुम्हारे उद्दीप्त मुख मंडल को देखकर, फिर बात से बात निकलती है तो तुम्हारी विद्वत्ता···।"

"बस···बस, मक्खनबाजी बन्द···।" दोनों अट्टहास कर मिलकर एकलय बन गये।

"अच्छा बतलाओ तो, चन्द्रदेव शुक्राचार्य के चक्कर में कैसे आ गये और देवगुरु का क्या अनर्थ हुआ उनके द्वारा ? वे तो देवगुरु के परमप्रिय मित्र ही नही पुराने यजमान भी हैं ?"

"मित्र जब मित्र से चोट खाता है तो अधिक कष्ट होता है। ऐसे ही विश्वास-घात का कष्ट झेला बुद्धिमान बृहस्पति ने और महायोगी शुक्राचार्य ने भृगु पुत्र कवि की सन्तान होकर भी उसका सहयोग किया ?"

"कैसे ?"

"एक बार बृहस्पति की रूपसी पत्नी तारा अपनी सखी चन्द्र पत्नी से मिलने गई किन्तु चन्द्रदेव की कमनीयता से मुग्ध हो वहीं रह गयी। उन्होंने, बजाय उसे समझाने के, उससे स्वयं भी रतिविहार शुरू कर घर में रख लिया। पति ने अपनी पत्नी को मांगा किन्तु विलासी ने अधर्म का आश्रय ले लौटाने से साफ मना कर दिया।"

"देवराज ने तो कुछ न्याय किया होगा ?"

"देवराज को तो कामी, परदार भोगी' छलिया और जाने क्या क्या कहकर उल्टा झिड़क दिया ।"

"क्यों क्या पुरुषार्थ थक गया था देवेन्द्र का ?"

"नही ! गुनाह के साथी को सब कुछ वर्दाश्त करना पड़ता है गुनाह के साथी का।"

"पर समस्या का हल तो कुछ निकलना ही चाहिये था न ?"

"ब्रह्मा जी के प्रयत्न से यह आन्तरिक कलह शान्त हो सकी । चन्द्रमा ने तारा को लौटा दिया । पर तब तक गर्भवती हो चुकी थी वह ।"

"च्च् च्च् च्च ! फिर क्या हुआ ?'

"बुध का जन्म, और बुध की मांग के लिये फिर संघर्ष ।"

"क्यों ? बच्चा तो माँ के साथ ही रहता ?"

"पर चन्द्रमा ने तो तारा को क्षेत्र मात्र कहकर, अपने मूल की मांग की ।"

"बृहस्पति अपना क्षेत्रज नहीं देना चाहते थे, चन्द्रमा अपने वीर्यज की मांग कर रहे थे ।"

"और स्त्री की राय जानने की किसी ने आवश्यकता न समझी ?"

"समझी ! और इसी आधार पर निर्णय दिया ब्रह्मा ने···।"

"क्या ?"

"जब तारा ने निस्संकोच उसे चन्द्रदेव का ही पुत्र कहा तो वह चन्द्रदेव को सौंप दिया गया···।"

"बड़ी कठोर निकली उसकी ममता···।"

"तुम ही देख लो, स्त्रियों की बात है । सोचती होगी बच्चे के साथ मुझे भी गुरु से बचने की अनुमति मिल जायेगी ?"

"देखिये मुनिवर ! आप अपनी हँसी हँसते हैं दूसरे की हँसी रोते हैं आँख दिखाई अप्सरा ने ।"

"अब क्या करे, बेचारे देवगुरु को खून का घूँट पीकर रह जाना पड़ा ? शुक्राचार्य व्यंग्यपूर्ण मुस्कान लेकर खिल गये ।"

"क्यूँ इस बन्दर बाँट में यह बिल्ली कहाँ से आ टपकी ?"

"भृगुपुत्र ने तंत्र मंत्र से बड़ी सहायता की थी श्री इन्दु की ?"

"ऐसे ही टोने टोटके करते आये हैं ये ऋषि लोग ? व्यंग्य का बदला ले लिया अप्सरा ने ।"

"बदला ले रही हो यूँ समस्त ऋषियों के विषय में टिप्पणी देकर ?"

"चढ़ गई न त्यौरी ?······अच्छा चलिये आगे की कहिये, आगे क्या हुआ ? युवा होकर बेटे ने भी तो कुछ गुल खिलाये होंगे ?"

"जवान होकर बुध ने सुद्युम्ना इला को घर लाकर उससे पुरुरवा को पैदा किया···पर पुरुरवा की जो गति उर्वशी ने की वह भी सबको पता ही है ।"

"क्या ?"

"जो वृकोदरा स्त्रियाँ सदैव से करती आई है पुरुष को तड़पाकर ?"

"आगये न अपनी पर ?"

"तुम पीछे रह गई थी क्या ?"

"आने दो मौका अच्छा ! आगे चलो जरा···।"

"अव इन्द्र और सुरगुरु प्रसन्न थे और चन्द्र तथा बुध सन्तप्त।"

"दोनों के वैमनस्य का असुरों ने पूरा पूरा लाभ उठाया होगा ?"

"असुर ही नहीं शुक्राचार्य भी अपनी कूटनीति पर मन ही मन प्रसन्न थे।"

"तव तो दैत्यों की पराजय पर देवगुरु की प्रसन्नता ठीकही थी। आखीर शिष्यों की पराज्य गुरु की नीनि की पराजय है न ?"

"पर शुक्राचार्य ही कव शान्त रह सकते थे ?"

"क्यू, अव रह क्या गया था पराजित के पास करने को ?"

"वह चन्द्रधर शंकर की शरण में आये और उनसे मंत्र लेकर भयंकर कृच्छ साधना में लीन हो गये।"

"यह तो अच्छा किया, ब्राह्मण को साधना ही करनी चाहिये। पर वेचारे असुरों का क्या हुआ गुरु के अभाव में ?"

"होता क्या ? वही हुआ जो हुआ करता है।···प्रति पक्षी तभी तक न्याय की दुहाई देकर अन्याय के विरोध में आन्दोलन चलाया करते हैं जव तक उनके हाथ सत्ता नही लगती। सत्ता हाथ लगते ही सत्तावान न्याय को भूल दमन चक्र चला देते हैं।"

"क्या देवों ने भी ऐसा किया ?"

"क्यू नहीं ? उन्होंने खोज खोज कर मारना शुरू किया असहाय असुरों को, निर्दोष वाल वृद्ध और स्त्रियों को भी न छोड़ा···।

"स्त्रियों का क्या ? स्त्री तो पहला शिकार होती है किसी भी संघर्ष का, किसी भी वर्ग का ?

"स्त्रियों को इतना दुर्वल न समझो अद्रिके ! असुरों ने उसके वाद एक स्त्री की ही शरण ली थी।"

"किस की ?"

"शुक्र माता की।

"क्या देवों ने शुक्रमाता की बात मान ली थी ?"

"न मानने पर शुक्रमाता ने उन्हें विनष्ट करने का उपक्रम रचा किन्तु अकरणीय को भी कर देने में समर्थ विष्णु ने अपने चक्र से उसका निपटारा ही कर दिया।"

"अव तो निष्कंटक हो गया होगा देवों का शासन ?"

"पर भृगु का कोप तो विष्णु के लिये असह्य था।"

"फिर ?"

"फिर क्या, बड़े युक्तिवान हैं चक्रपाणी; तुरन्त चरण पकड़ लिये ऋषिवर के।"

"क्षमा कर दिया होगा क्षमावान ने।"

"कह नहीं सकते ? पर भार्गवो का विष्णु से विरोध तो वना ही रहा और यह हैहयवंशियों से प्रवल संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ।"

"हैहयवंशी, ये कौन वला है ?"

"विष्णु पुत्र–एक वीर की सन्तान–कार्त्तवीर्य के वंशज जो बढ़िया घुड़सवार और अच्छे घोड़ों के स्वामी होते हैं। वे घोड़ों पर चढ़ कर, नर्मदा के मुहाने चक्कर लगाते हैं और व्यापारियों से वलपूर्वक कर वसूल कर धन इकट्ठा करते हैं।"

"वड़ा धन हो गया होगा उनके पास ?"

"धन उन्होंने भार्गवों को सन्तुष्ट करने में लगा दिया।"

"सन्तुष्ट हुये भार्गव ?"

"धन से सन्तुष्ट हुआ है कोई आज तक ? धन की प्यास तो प्रवल होकर बढ़ती है। उन्होंने अधिकतम धन के संचय में अपने कर्त्तव्य कर्म और ब्राह्मण के स्वभाव को भुला दिया।"

"पर धन तो राष्ट्र रक्षा के लिये ही संचित किया होगा न ? आक्रमण के समय वड़ा काम देता है यह।"

"पर, धन लेकर भी वे मन से हैहयवंशियों को प्रभु न मान सके।"

"फिर ?"

"समय पड़ने पर उन्होंने हैहयवंशियों को धन देने से इंकार कर दिया।"

"तव।"

"वलपूर्वक छीना उन्होंने।"

"वड़ा अनर्थ किया दुष्टों ने।"

"परिणाम भी अनर्थकारी ही हुआ; संघर्ष फिर छिड़ गया। भार्गवों ने उन्हें समूल नष्ट करने का संकल्प ले लिया। भगवान परशुराम ने उनका विनाश ही नहीं किया, शस्त्र शिक्षा का भी निषेध कर दिया उनके लिये।"

"तो क्या हुआ ?"

"शस्त्र के अनभ्यास से क्षत्रिय दुर्बल होगा और आक्रमणकारियों को वल मिलेगा।"

"क्यूँ उनका दमनकर्त्ता आक्रमणकारियों का भी दमन करेगा ही।"

"उन्होंने रघुवंशी राम के आग्रह से परशु और प्रत्यञ्चा दोनों ही ढीली कर रख दी है।"

"तो रघुवंशी सम्भाल लेंगे उस कमान को ?"

"वहुत दिन सम्भाला उन्होंने, पर काल चक्र तो रुक नहीं सकता न, किसीं से ? काल एक दिन सव के पौरुष को चाट जाता है।"

"आप किस रोग की औषधि है फिर…"

"हम आप जैसो की औषधि हो रहे हैं आजकल।"

"लाभ तो कुछ हो नहीं रहा, रोग लगातार बढता जा रहा है।"

"रोग पुराना हो गया हैं और मानसिक भी है और मानस रोग को ठीक करने के लिये रोगी के सहयोग की आवश्यकता है।"

'रोगी तो कब से प्रस्तुत है चिकित्सा कराने के लिये ।"

"तो मन का पथ्य करना पड़ेगा ?"

"कुपथ्य क्या लेता है हमारा मन ?"

"इसीसे पूछो, यह भी कोई कहने की बात है ?"—लजागई अप्सरा भी, अपने जाल में खुद फंस गई थी। बात को पल्टा दिया उसने।

"बात को कहीं की कहीं ले जाते हैं आप ?…शुक्राचार्य की कृच्छ साधना से कहाँ आ पहुंचे, वही कहिये न ? क्या हुआ उनकी तपस्या का ?"

"हाँ क्या जोर पड़ता है तुम पै.? करे जाओ प्रश्न पर प्रश्न। बिना दक्षिणा का निशुल्क कथा वाचक मिल गया है न ?"

"यहाँ दक्षिणा को किसने मना किया है जी ऽऽऽ। लेने वाला न ले तो देने का क्या दोष ?" जबरदस्ती तो दी नहीं जाती यह ?"

"हमें वेतन भोगी समझा है क्या तुमने ?"

"वेतन न सही कुछ और भोग लीजिये ?"

"हमारी सामर्थ्य कहाँ इतनी ?"

"तो व्यर्थ का आरोप भी न लगाइये, सीधे सीधे अपनी गाड़ी खिसकाइये आगे।"

"गाड़ी नहीं श्रीमती ! घोड़े कहिये, देखिये सूर्य कहाँ है दिन छिप गया है।"

"संध्या से जी घबराता है क्या ? कैसे पुरुष हो तुम ?"

"तुम्हारे सान्निध्य में ?"

"बड़ा कच्चा दिल है श्रीमान का ?"

"तुम्हारे सम्पर्क से…।"

"मुझसे सम्पर्क ही कहाँ हुआ है अभी ?

"यही प्रमाण पत्र मेरे लिये ठीक है। इसी को मान लेने में भलाई है मेरी।"

"छोड़िये,……सारी रात चलेंगे क्या… ?"

"उचित स्थान मिल जाय, तो डाल देंगे पडाव।"

"तो जल्दी करो न ? डाल दो कहीं एकान्त देखकर।"

"मिले तो कोई स्थान, वह देखो—शायद कोई भग्न देवालय है, चलो वहीं सही…"

घोड़े की रास मोड़ दी उन्होंने, जल का भी प्रवन्ध था कोई बावड़ी थी वहीं साथ में, देवालय से संलग्न ऊपर नीचे के कक्ष देखकर सन्तुष्ट हुए ऋषि। घोड़े बांध कर सामान उतारा ! और छत पर लेजाकर सुरक्षित रख लिया। अद्रिका को बैठा स्वयं नैत्यिक कर्म से निवटने के लिये नीचे आगये। कुछ देर बाद अग्नि प्रज्जवलित कर निर्विघ्न ईश्वराधन में लग गये। तव तक अद्रिका करवट वदल कर विश्राम करने लगी। शायद शरीर वहुत थक गया था वह, वार बार अंगडाइयाँ तोड़ रही थी। नैत्यिक कर्म से निवट कर शक्ति ने देखा अद्रिका तो, विना कुछ खाये पीये ही सो चुकी थी, उसे जगाना उन्होंने ठीक न समझा और स्वयं भी दूसरे किनारे पर जाकर लेट गये। थोड़ी देर में ही उन्हे भी नींद आ गई। कोई सुधि न रही। प्रातः आँख खूली तो देखा अद्रिका बैठी मुस्करा रही थी। जागते ही छींटा कसा उसने—

"रात कहाँ छिप गये थे, डरपोक।"

"तुम्हारे सपनो में।"

"झूठ।"

"यह सीखा ही नहीं।"

"आपको क्या पता कि आप मेरे सपनों में थे ?"

"पता मुझे ही नही सारी दुनिया को लग जाता है, जव नींदमें भी बडवडाता है कोई।"

"क्या वडवड़ाई थी मैं।"

"कहने की नहीं···है।"

"कहने की नहीं या कहना नहीं चाहते ?"

"दिन में नहीं।"

"रात में ही कौन सा यश कमा लिया आपने ?"

"मेरा मतलव है नींद में तो कुछभी वडवडाता रहता है आदमी, पर जागने पर तो होश की बातें ही करता है।"

"इसका मतलव है अव आपका नशा उतर गया।"

"चढा ही कव था।"

"मेरा मतलव है नींद का नशा।

"नींद तो ले उड़ी कोई···।" शरमा गई अद्रिका। बात बदली उसने—

"नीद तो शिवानी ले उड़ी होगी,···पर यह बतलाइये, सामान कौन ले उड़ा; क्या घोड़ों पर ही छोड़ आये थे रात ?"

"नहीं तो, ऊपर ही लाया था मैं तो।"

"फिर कहाँ गया ? जरा एक बार घोड़ों पर ही देख लो।"

चिन्तित होकर लपके शक्ति, घोड़ों की ओर, और आश्चर्य मिश्रित चिन्ता से चिल्लाये—

"पर घोड़े ही कहाँ हैं यहाँ ?

"लगता है नींद का लाभ उठाकर, हाथ साफ कर दिया किसी ने···।"

"चलो तुम तो सुरक्षित हो, ईश्वर का धन्यवाद है।"

"मुझे भी बड़ा धन समझा है क्या ?"

"यह तो देवराज ही बतलायेंगे···।"

"तुम्हारी अकल क्या घोड़ों के साथ चली गई ? तुम भी तो कुछ फूट जाओ तुम्हारी दृष्टि में भी कुछ हैं हम या नहीं ?"

"हो···।"

"क्या ?"

"अमूल्य !"

"दो अर्थ हैं इसके···।"

"दृष्टिकोण का भेद है, तुम अपनी रुचि के अनुकूल ग्रहण कर लो।" ठठाकर हँस पड़े दोनों ? किरणें दमकने लगी, कलियाँ चिटक उठी और फूल खिलने लगे। जाने कैसी भीनी सुगन्ध थी, मन महक उठे, चिन्ता उड़ गई निर्मल हो गये मन जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

"परमात्मा की इच्छा को पूर्ण करो महर्षि शक्ति !"

"क्या इच्छा है उसकी ?"

"यही कि एक कुटिया बनाकर यहीं रहे, सदा२ के लिये अरण्यवासी होकर।"

"यह परमात्मा की नहीं तुम्हारी इच्छा है, उसने दो टाँगे दी हैं समझे···।"

"और मुझे ?"

"तुम्हें भी···।"

"पर मेरी और तुम्हारी में बहुत फर्क है···देखना।···"

क्षण भर में निर्वस्त्र कर दिया उसने धूप सी आभा को। सूरज चुंधिया गया। पलकें झुका ली शक्ति ने। उसने घुमाकर बात पूरी की—"···बहुत···दुर्बल हैं।"

"तो यहाँ तो हम रह नहीं सकते ?"

"क्यूँ ?"

"आज तो सामान ही गया है···।"

"···और कल कोई वनवासिनी ले उडेगी तुम्हें ?"

"वनवासिनी तो तभी ले उड़ेगी न जब तुम से बच पाऊंगा मैं ?"

"क्यूँ मैं क्या कर रही हूं।"

"तुम तो कच्चा ही पी जाने को तैय्यार हो रही हो।"

"क्यूँ कोई राक्षसी समझ लिया है क्या ?

"क्या अप्सरा पीने से पीछे रह जाती है···।

"तुम तो अपनी बात कर रहे थे न ?"

"तुम्हारी चिन्ता ही तो खाये जा रही है मुझे···।'

"क्या ? कि कोई वनवासी न ले उड़े मुझे, और तुम हाथ मलते ही रह जाओ, इतनी तपस्या के बाद भी···च्च् च्च् च्च् मारा गया ब्रह्मचारी।"

"तुम्हें हँसी सूझ रही है, देवराज, पता नही क्या सोचेगें ? बड़ी बेसब्री से प्रतीक्षा है उन्हें···पता नहीं क्या इच्छा है ईश्वर की···?"

बौखलाये ऋषि का आनन्द लिया अप्सरा ने—

"अब तो बात बहुत दिन को गई। आखीर रास्ता बीहड है। जंगल बढ़ गया है जाने कब साफ होगा। रास्ता भी खोजना होगा और दाना पानी भी।"

"अरे वह दायित्व तो हमारा है, अगर तुम कुछ साथ दो ?"

"हम तो खड़े हैं, पीछे कदम न हटेगा हमारा।"

"पहिले मुँह धोलो।"

"तुम भी नहालो ना बावड़ी में।"

"अच्छा अच्छा मैं अभी आया।"

"जल्दी आओ एक दम तैयार मिलूँगी मैं···।" ठठाकर हँस पड़ी अप्सरा ऋषि के भोलेपन पर।

नित्यकर्म से निवट कर मुनि ने अद्रिका से···से निद्वन्द्व होकर नहा धोने के लिये कहा और स्वयं कुछ फल लेने के लिये जंगल में घुस गये। लौटे तो अद्रिका तैयार मिली उन्हें। जाने क्यूँ उस विपन्नता में भी वह उल्लास से भरी थी एक विशेष सा ओज कपोलों की लाली बनकर इठला रहा था। आँखों में हर्ष का आलोक जगमगा रहा था।

फलाहार कर, दोनों अजनबी, अजानी राहों पर, बढ़ चले। दूर पर एक साधारण सी पगडंडी दिखाई दी उन्हें और ईश्वर का भरोसा कर दोनों उस पर चढ़ गये। कुछ दूर पहुँचने पर अद्रिका बोली––

"कैसे कटेगा यूँ रास्ता ?'

"पैरों से।"

"फिर मुँह क्यों सी लिया ?"

"क्या बोलें ?"

"बात पूरी कीजिये, शुक्राचार्य की कृच्छ साधना का क्या हुआ ?"

"शुक्राचार्य ने बड़ी भारी वैज्ञानिक खोज की। संजीवनी विद्या के द्वार। मृतकों को पुनर्जीवित करने की कला ज्ञात कर ली और असुरों से युद्ध का उद्घोष करने के लिये कहा—।

"फिर ?"

"असुर जमकर लड़े, उनकी संख्या वढ़ती ही जाती थी, घटने का सवाल ही न रहा।"

"युद्ध का निर्णय कैसे हुआ फिर ?"

"वहुमत ने अमरत्व की सिद्धि को चाट लिया, शक्ति वढ़ गई असुरों की जीत गये वे।"

"सत्तावानों का दमन चक्र चला होगा ?"

"एक विशेष घटना हुई इस बार।"

"क्या ?"

"असुरों पर देवसंस्कृति की छाप पड़ती दिखाई दी। सव जगह न्याय और धर्म की व्यवस्था की गई। विद्या और कला का सम्मान किया गया। तपस्वियों की पूजा की जाने लगी। प्रजा सन्तुष्ट हो गई। असुरों ने वड़े यज्ञ किये और आधीन देवताओं को भी यथोचित सम्मान दिया इतना ही नहीं पुलोम ने अपनी सुन्दर कन्या देवराज को दे सन्धि का हाथ बढ़ाया। इन्द्र ने अपनी जयन्ती नाम की कन्या शुक्राचार्य को दे उन्हें भी सन्तुष्ट किया।"

"तव तो आनन्दित हो गया होगा सम्पूर्ण समाज ?"

"अद्रिके ! जव व्यक्ति को सत्ता की चाट पड़ जाती है तो लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी ललक नहीं टूटती। कामना से मुक्ति पाने के लिये तो ऋषियों को भी अन्तर्द्वन्द्व में जीना पड़ता है।"

"ऋषियों की वात छोडिये भगवन ! उनमें तो न काम होता है न कामना। जहाँ जीवन ही नहीं, क्या खाकर वहाँ कामना जन्म लेगी। पोषक तत्व ही शरीर में गर्मी भरते हैं महाराज ! घासपात पर जीने वाले जीवन के रस का आस्वाद क्या करेंगे वेचारे ? जो शरीर को स्वयं ही गलाकर समाप्त कर रहे हों उनसे क्या आशा ? आखीर शक्तिशाली तत्व ही तो उत्तेजना का आनन्द भर पाते हैं न, भुक्खड़ महोदय !"

"कह चुकी या और कुछ शेष है ?

"विरक्तों की छोड़ देवताओं की सुनाइये, क्यों व्यर्थ में अपना अन्तर्द्वन्द्व प्रकट कर रहे हो ?"

"मैं ?"

"तुम उलझी ही रहती हो अपनी उधेड़वुन में ?"

"मैं ?"

"और क्या मैं ?"

"मैं के गले पर छुरी होती 'मैं मैं आज' महोदय।"

"तर्क की छुरी, चलाने वाले के कंठ में ही चलती है पहिले, निषाद प्रिया !"

"देवताओं का स्मरण हर वाधा को दूर कर देता है, कृपया आप भी उन्हीं का ध्यान कीजिये। आगे बोलिये क्या हुआ देवताओं का—

"होता क्या ? वही हुआ जो भोगियों के हृदय में हुआ करता है ?"

"क्या ?"

"तड़पन ।"

"क्या किया उन्होंने अपनी तड़प बुझाने के लिये ?"

"धोखा ?"

"आप मेरे साथ, समस्त देव जाति से चिढ़ उठे हैं शायद ?"

"तुम धोखेवाज हो क्या ?"

"नहीं, देवता भी तो नहीं हैं ।"

"कहानी तुम सुना रही हो या मैं ?"

"तुम ।"

'फिर क्यों टपक रही हो वीच में ?"

"तुम्हारे लिये ? क्यों टपका रहे हो राल तुम ? जरा संयम दिखाओ और आगे वढ़ते दिखाई दो ।" आँखे तरेरी ऋषि ने और उसने घवराहट का अभिनय किया फिर भी हँसी फूट ही पड़ी उसके ओठों पै--"अरे वावा ! मेरा कहना है कहानी को आगे वढ़ाओ--क्या धोखा किया था देवताओं ने किसी से ?"

"भगवान विष्णु ने वामन रूप धारण कर तीन पग धरती का दान मांगा, तपस्या का नाम लेकर ।"

"आसुर भी दानी हो गये थे क्या ?"

"इन्द्र के इन्द्रासन का प्रामाणिक अधिकार प्राप्त करने के लिये यह किया वलि ने ।"

"पूरा किया अपना संकल्प उसने या नहीं ?"

"निश्चय ही किन्तु देवताओं ने इसका लाभ उठा कर छल किया उससे । उसका सम्पूर्ण राज्य छीन लिया और विधि के जाल में फँसा कर उल्टा दंडित कर दिया ।"

"शुक्राचार्य की कूटनीति कहाँ चली गई थी ?"

"असुरों ने धर्म पालन के अहंकार में गुरु की आज्ञा की अवहेलना की और विनाश को प्राप्त हुये । इन्द्र का अधिकार हो गया सम्पूर्ण सत्ता पर !"

"भागना पड़ा होगा असुरों को ?"

"स्वर्ग की कामना करने वालों को पाताल का अधिकार मिला, किन्तु एक लाभ फिर भी हुआ उन्हें--विष्णु को वहाँ उनकी रक्षा का वचन देना पडा और इस प्रकार देवासुर संस्कृति के समन्वय का एक युग प्रारम्भ हो गया ।"

"यह तो एक अहिंसात्मक क्रान्ति हो गई ? समझो !"

"पर शुक्राचार्य इसके विरुद्ध थे, वे असुरों से उपराम हो, पुनः तपस्या में लीन हो गये ।"

"तब ?"

"तव क्या देवताओं ने वही किया जो नीति कहती है—रिपु और ऋण की समाप्ति।"

"पर युद्ध के संघर्ष की बात तो समाप्त हो गई थी अब ? रक्षा का वचन देकर दमन कैसे किया जा सकता था ?"

युक्ति से काम लिया उन्होंने ।"

"कौन सी युक्ति से ?"

"जिस देश या जाति को समाप्त करना चाहो, उसकी शाखाओं पर नहीं मूल पर प्रहार करो, भाषा और संस्कृति को नष्ट कर दो, नास्तिकता का पाठ पढ़ाकर धर्म और ईश्वर के प्रति अनास्था उत्पन्न कर संकल्पों का वल तोड़ दो ताकि जव डूबने लगे तो तिनके का सहारा भी न दीख पड़े; उसकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था भंग कर दो, उसके गुरुजनों से उसको विमुख कर दो ताकि कोई भी दिशा उसे न मिल सके, उसके नेताओं के प्रति जन जन में अविश्वास जगा दो ताकि संगठन की प्रेरक शक्ति टूट जाये, अहिंसा का पाठ पढ़ाकर उसके पौरुष को निस्तेज कर दो ताकि क्रान्ति का बिगुल बजा सकने में असमर्थ क्रीतदासों की कमी न रह पाये; सहज अवस्था के नाम पर निरुद्योगी, अकर्मण्य और दरदर का भिखारी वनाने के लिये उदासीनता और विरक्ति का भिक्षापात्र उसके हाथ में थमा दो···।

"कर दिया न, भाषण शुरु···।" उसकी तरेर पर हँसी आगई ऋषि को—

"ओहो, मैं तो भूल जाता हूं कि मैं तो इतने बड़े शरीर में बैठी एक पाँच वर्ष की वच्ची को नानी की कहानी सुना रहा हूं···।"

झेंप गई अद्रिका, और खिसियानी हँसी हँसते हुये कहा—

"क्षमा कीजिये, मैं ही भूल गई थी शायद, कि किसी पुराण पाठी पौंगा पंडित से मेरा पाला पड़ गया है···आप कहे जाइये अपनी, हम कहानी खुद निकाल लेंगे।"

झेंप गये ऋषि और खिसियाना सा स्वर उभरा—

"काक चेष्टा से ?"

"नहीं हंसवृत्ति से ?"

"क्या चुनोगी ?"

"मोती।"

"कहानी में मोती होते हैं क्या ? कहानी के मानस में जो सूक्ति या दर्शन होता है उसी का महत्व होता है रस विलासिनी।"

"रस में डूवे विना भी मोती मिले हैं क्या किसी को ?"

"किन्तु जो रस में ही तैरता रहा, वह उस गहराई को छू सका है क्या कभी जहाँ मोती मिलते हैं ?"

"पर मोतियों का ढेर किनारे पर ही क्यूं लगा रहे हो, हमें डूवने का मौका दीजिये न ?"

"डूबने और डूब मरते में बड़ा अन्तर है, वह मौका देने के लिये, श्रम नहीं कर रहा हूं मैं···।"

'फिर क्या कीजियेगा हमारा···?" पता नहीं हृदय का कौन सा तार झनझना उठा, स्वर आर्द्र हो गया अद्रिका का, पलकें गीली हो गईं अचानक, मुख मलिन हो गया। ऋषि ने पीड़ा का अनुभव किया किन्तु प्रसन्नता के भाव को बिखरने नहीं दिया—

"मोतियों में सजाकर देवराज के सम्मुख प्रस्तुत करूंगा तुम्हें।"

बिलख उठी वह जैसे उसकी आत्मा क्रन्दन कर रही हो—

"शक्ति! नोच लेंगे सारे मोती मेरे, वे लोग और फिर विलास के सर में धकेल देंगे इस विलासिनी को देवराज···।"

"इसीलिये मोती चुगने का अभ्यास करा रहा हूं, तुम्हें मैं।"

"मोती वहाँ कहाँ? मोती मानस में होते हैं ऋषिवर। वह तो तुम लौटा ही लाओगे न?···जाने कितनी देर का सम्पर्क है हमारा···विलासिता में जीना है मुझे, विलासिता मेरी नियति हो गई है।"

'एक क्षण को मौन हो गये ऋषि और उन्होंने बोझिल वातावरण को बदलने का प्रयत्न किया—

"क्या मात्र रास्ता काटने के लिये मुझसे श्रम करा रही हो? मन बहलाने के लिये सुन रही हो मेरी बात? मन की व्यथा को भूल जाने के लिये ज्ञान से उलझ जाने का अभिनय कर रही हो?···।"

"अभिनय मेरी विवशता है ऋषिवर! मुस्कानें बेचती हूं, लय और ताल पर थिरकती हूं, फिर भी पीड़ा की एक बून्द छलकने नहीं देती किसी के सामने।"

उस पर कोई असर न था, पीड़ा का दौरा पड़ा था उसे जैसे···ऋषि को सम्भालना कठिन हो गया···वे फुसफुसाये—

"किन्तु मेरे सामने···?"

"सब कुछ खोल कर रख दिया है तुम्हारे सामने, तुमसे क्या छिप सका है—?" यकायक आँसू पौंछ हँसने का उपक्रम किया उसने—"पर तुम तो पूरे घाघ हो न, स्वयं भी छिपते ही रहे हो सब कुछ लूट कर बिचारी एक अप्सरा का···?"

"अच्छा घोड़ों पर लदे सामान की···।"

"घोड़ों पर लदे सामान की नहीं, दिल और दिल में बसे संसार की बात कर रही हूं मैं···हाय राम! कैसे अनाड़ी से पाला पड़ा······अपनी तो चाहता है जाने कैसी गहरी गहरी समझाना और मेरी जरा सी भी नहीं समझता···मित्र निखट्टू! जरा इस टट्टू को आगे बढाओ······।

"टट्टू?···टट्टू दीखते हैं कहीं तुम्हें यहाँ? कबसे पैदल चल रहे हैं हम?"

"मैं कहानी के टट्टू को कह रही हूं तुम कौन सा बढ़ाने की फिराक में हो?"

"कोई सा नहीं भाग्यवान! जरा तुम्हें पटरी पर लाने का प्रयत्न कर रहा था।"

"अच्छा शुरू करो पट्टी वाज !···देवताओं ने क्या किया ?"

"वृहस्पति शुक्राचार्य का रूप धारण कर असुरों के पास पहुँचे और जैन धर्म के नाम पर अहिंसा का उपदेश कर उनसे शस्त्र रखवा लिये और संघर्ष की जीवनी शक्ति को छीन लिया। वलि की पराजय का दिग्दर्शन करा, अपने नेता के प्रति अनास्था का बीज बो दिया, अकर्मण्यता का पाठ पढ़ा निरुद्योगी कर दिया, जीवन में विरक्ति उत्पन्न कर श्रम की महत्ता समाप्त कर दी···।"

"शुक्राचार्य ने नहीं पहिचाना इस धोखे को ?"

"शुक्राचार्य ने लौटकर उनको सम्भालना भी चाहा किन्तु निष्क्रियता का सरल मार्ग पाकर कौन श्रम के कठिन मार्ग का अनुसरण करता है उन्होंने उनकी एक न सुनी।"

"तव तो सभी नष्ट हो गये होंगे ?"

"सृष्टा का विधान है ! सृष्टि में कोई भी जाति पूर्णतः विनष्ट नही हो सकती। पतनशील जोति में कष्टों की ज्वाला भड़कती और उसी में से पुनर्जागरण की ज्योति निकल आती है। ऐश्वर्य के मद से जो जाति विनाश के गर्भ में पहुंच जाती है, पीड़ाओं का वरण कर वह महान उद्धारको को जन्म देती है। नये नेता जनमते हैं और नई दिशा देते हैं और जातियाँ खोये हुये गौरव को प्राप्त करने के लिये संघर्ष रत हो जाती हैं।"

"क्या असुरों को फिर कोई आशा बन्धी इसके बाद ?"

"हाँ, असुरों ने वृषपर्वा नाम के योग्य नेता का वरण किया और उसने उन्हें संगठित कर, ऐश्वर्य के मद से चूर देव जाति से लोहा लेने की प्रेरणा दी। गुरुदेव शुक्राचार्य को अत्यन्त सम्मान के साथ सर्वोच्च पद प्रदान कर अपना सहायक बना लिया···निराश असुरों में आशा का संचार हो गया, खोई हुई शक्ति लौटने लगी।"

"शुक्राचार्य ने क्या क्षमा कर दिया था उन्हें ?"

"क्षमा तो गुरुओं के स्वभाव में होती ही है अद्रिके। उन्होंने उनकी पूर्ण सहायता कर कुशल मंत्रणा और उत्तम विद्या प्रदान की। असुरों ने सशस्त्र क्रान्ति का उद्घोष किया। प्राचीन युद्ध फिर भड़क उठा। उनका लुटा हुआ गौरव लौटने लगा। अकस्मात के विप्लवी प्रहार से ऐश्वर्य की नींद में सोये हुये देव घवरा उठे। फिर भी असुरों के पूर्ण शक्तिशाली होने से पूर्व उन्होंने तुरन्त संभल कर अपनी नीति का शिकार शुक्राचार्य को ही बनाने का उपक्रम किया।"

"कैसे ?"

"जैसे सत्तावान को सत्ता का, बल शालियों को बल का, और ऐश्वर्य शालियों को ऐश्वर्य का अभिमान होता है, विद्वान को भी अपनी विद्या का कम अभिमान नही होता इन्हें भी चाटुकारिता चाहने की चाट पड़ जाती है।"

"शुक्राचार्य भी क्या बचे होंगे इस प्रवृत्ति से ?"

"बुद्धि कुछ काम करने लगती है तुम्हारी, समझ गई' एक दम ।"

,'अजी सब आप जैसे बुद्धिमानों का प्रभाव है हम जैसे निर्बुद्ध तो आपका एक अणु भी ग्रहण करने योग्य नहीं ?"

"शुक्राचार्य समझ लिया क्या शक्ति को ?"

"चोर चोर मौसेरे भाई ।"

"क्षमा कीजिये मैं वह नहीं हूं ? जो चाटुकारों को अंक में बिठायें ।"

"मुझे ही क्या चाटुकार समझ लिया तुमने, अरे श्रीमान चाटुकार तो इतनी सफाई से मक्खन लगाते हैं कि फिसलने वाले को पता भी नहीं चलता ।"

' खैर, हम फिसलने वाले नहीं ?"

"जिन्हें चलना ही नहीं आता वे क्या फिसलें ? पहिले सवारी करना सीखो तब न गिरने की डींग हाँकना ?"

"जितना आप लोगों की क्रिया में होता है उतना तो हमारे अनुमान में होता है ।"

"तब ही तन के साथ मन भी कुंठित और कठोर हो जाते होंगे तुम्हारे ?"

"अपना अपना सोचने का ढंग है, जो स्वयं कुंठा बनकर रह जाये उसे अपने अतिरिक्त दूसरा दिखाई क्या देगा जगत में ' हमारे विषय में आपको कुछ भी सोचने का पूर्ण अधिकार है किन्तु शुक्राचार्य की कहानी हम सुना रहे हैं और वह ऐसे नहीं दीखते । हाँ वह बात जरूर थी जो मुझमें नहीं है ?"

"क्या ?"

' अब भी 'क्या' रह गई ?"

' बुद्धिहीन हूं न ? समझ नहीं पाती ।"

'तो क्षमा कीजिये ऊसर में बीज बोना मेरे लिये भी उपयुक्त नहीं, पहिले आप उर्वरा कीजिये अपनी भूमि को ।"

"पहिले बीज डालके तो देखिये आप ?"

"डाला तो था, पर 'क्या' का अंकुर फूट कर सामने आ गया ।"

"इस क्या के बिना तो कोई भी दर्शन, कोई भी सिद्धान्त आगे नहीं बढ़ता महाराज यह क्या तो ज्ञान की जननी है । जननी को पहिचानिये और आगे बढ़िये । धरती के सामने हल आता है तो सब से पहिले "क्या ?" की लकीर ही गहराती है, तब उसमें बीज के दाने पड़ते हैं । अच्छा है, आप अपनी कहानी कहते चलें, नाम का शक्ति नारी की शक्ति से टकराने की कोशिश न करे तो ही अच्छा, हमारा उपकार मानिये हम आपकी सुन रहे हैं, सो नहीं जाते सुनते सुनते उल्टा बीच बीच में आपको जगाते रहते हैं......

"क्या मैं सोता हुआ कहानी कह रहा हूं ?"

"आप ही नहीं वहुत से लोग नींद में वड़वड़ाते रहते हैं और वहुतों को नींद में चलने का रोग होता है। आँखे बन्द करके सोचने से अच्छा है खुलकर सामने आइये।"

आँखे वन्द हैं क्या मेरी ?"

"जब खुली आँखों से दीखना बन्द हो जाय, तो क्या कहा जायेगा ? देखना दृष्टि में ही होता है, आँख तो दो छोटे छोटे खूबसूरत आले हैं और पुतलियाँ उनमें रखे हुये बटन या सब कुछ मिलाकर दो सुन्दर कौडियाँ। ऋषिवर कुछ लोग सृष्टि में खुली आँखो से ही दिवा स्वप्न देखते रहते हैं। संयम की धुंध में फँस गये हो तुम बाहर आओ···वरना अभिमान के शीत से अकड जाओगे···?'

"उल्टा, बिल्कुल उल्टा,···एक दम उल्टा दर्शन है तुम्हारा ?···अगर कुछ दिन और मैं तुम्हारे साथ रह गया तो बस···शायद इसीलिये पूर्वजों ने तुमसे दूर रहने की सलाह दी है···।"

"दूसरे शब्दों में इसे ही पलायनवाद कहा गया है। बचकर भागने वाले को कायर कहा जाता है शायद !"

"तुम लगातार चोट कर रही हो ?"

"कभी चोट कहते हो कभी चाटुकारिकता ? सन्तुलन बिगड़ गया क्या ? क्या संयम छूट गया महाराज।

"हमारा तो इतनी जल्दी नहीं छूटता, तुम्हारी ही चेतना पर पाबी फिर गया है शायद ?"

"आप लड़ना चाहते हैं मुझसे क्या ?"

'जब बुद्धि से काम न चले···?"

"तो शरीर से काम लेना चाहिये।"

"बुद्धि के बिना शरीर नहीं चलते, मस्तिष्क तन का संचालक है विदुषी।"

"आये न ढंग पै, मान लिया हमें विदुषी ? हो गई उर्वरा ? चलिये अब डालिये बीज और कहानी को आगे बढाइये। शुक्राचार्य में कैसा अभिमान जगा और अपनी चाटुकारिता से कैसे ठगा किसी ने उन्हें ?"

'सुरगुरु बृहस्पति ने अपने विनयशील पुत्र कच को, शुक्राचार्य की सेवा में शिष्य बनाकर भेजा और एक तीर से दो शिकार करने की चाल चली। शुक्राचार्य को विश्वास में लेकर उनसे सञ्जीवनी विद्या का सूत्र हस्तगत करने तथा असुरों के मन को गुरु के प्रतिशंकालु बना देने की चाल चली उन्होंने। शुक्राचार्य ने सीधे सादे कच को अपनी सेवा में ले लिया।

असुराधिपति वृषपर्वा को यह गुरु शिष्य सम्बन्ध बहुत बुरा लगा—उसने शुक्राचार्य के सम्मुख विनत हो निवेदन किया—

"गुरुदेव ! देवताओं द्वारा भेजे किसी व्यक्ति को शरण देकर सम्भवतः आपने ठीक नहीं किया।"

शुक्राचार्य की भृकुटियों में वल पड़ गये, फिर भी स्वर को संयत कर अपना आवेश प्रकट किया—

"राजन ! आप मुझे राज्य व्यवस्था दे रहे हैं ? मैं विद्वान हूं, ब्राह्मण हूं, शिक्षक हूं, विद्या दान मेरा पुनीत कर्त्तव्य है। मैं जिन विद्याओं का स्वामी हूं वे किसी राज्य की चेरी नहीं।"

"आप हमारे लिये कार्य कर रहे हैं आचार्य श्रेष्ठ !"

"स्वेच्छा से ? किसी लोभ या भय से नहीं। किसी का चाकर तो नहीं मैं ?"

"हम आपका सम्मान करते हैं गुरुदेव।"

"मेरा नहीं, मेरी विद्या का। विद्या किसी के द्वारा क्रय नहीं की जा सकती, न उसका अपहरण किया जा सकता है और बलपूर्वक हस्तगत करना भी सम्भव नहीं। बड़े बड़े राजा उसके चाकर होते हैं।"

शुक्र की गर्वीली उक्ति से तिलमिलाये असुराधिपति, किन्तु, स्वार्थवश, क्रोध प्रकट करने में, असमर्थ थे। उन्होंने युक्ति दी—

"विद्या अधिकारी को दी जाती है, गुरुदेव।"

"अधिकारी देश, जाति या सम्प्रदाय की सीमाओं में बँधा नहीं होता जिज्ञासा और ग्राह्य शक्ति उसकी पात्रता के लिये पर्याप्त हैं। कच महर्षि अङ्गिरा का पौत्र है क्या यह काफी नहीं है। उसके परिचय के लिये।"

"वह असुरों के प्रतिपक्षी देवगुरु बृहस्पति का बेटा भी है आचार्य ?"

"यह परिचय छिपाया नहीं है उसने, इसलिये भी मैं उसे सत्यकाम समझ प्रसन्न हूं यह गुण भी उसकी पात्रता में सहायक है।"

वृषपर्वा ने अधिक बोलना ठीक न समझा पर उसकी आशंका तो दूर नहीं हुई थी। एक प्रस्ताव रखा उसने—

"जैसे हम आपके सजातीय और यजमान हैं क्या वह भी बन सकता है, दैत्यगुरु ? यदि कच असुर हो जाय तो प्रसन्नता से स्वीकारेंगे हम उसे।"

"यह संयोग पर निर्भर करता है असुर श्रेष्ठ। जोर नहीं देना चाहिये इसके लिये मैं अधिक क्या कहूं ?"

वृषपर्वा, वाद विवाद में न पड़, अपने स्थान पर चले गये और असुर गुप्तचरों को उनकी निगरानी के लिये लगा दिया।

आचार्य की एक किशोरी कन्या थी, नाम था देवयानी। वह उस सुन्दर मेधावी युवक को देखकर अनुरक्त हो गई। असुरों में सतीत्व परम्परा के स्थान पर स्वच्छन्द व्यवहार और मुक्त विहार को मान्यता थी। वह रागिनी सी झूमने लगती, कच की वाणी को सुनकर और विभोर हो नाच उठती संगीत मय नाद पर। उसके प्रेम की

सुगन्ध फूटने लगी और असुरों ने अनुमान लगाया, एक न एक दिन यह प्रेम का सम्बन्ध विवाह का बन्धन बन ही जायेगा । वे अकुलाहट से टोह लेने लगे कि कब दोनों का समागम हो, किन्तु सदाचारी कच ने उनकी आशाओं पर तुषारापात कर दिया । विलम्ब होता जान असुरों ने धीरज छोड़ दिया । उन्होंने उसे निपटा देने की सोची—

एक दिन यज्ञ के लिये समिधा बटोरते, कच के टुकड़े टुकड़े कर देने का प्रयत्न किया भी उन्होंने, पर वह देवयानी की चेष्टा से जीवित बच गया । असुरों ने जितनी बार भी उसे मारना चाहा, देवयानी की ममता से बन्धे दैत्यगुरु ने उसे उतनी ही बार बचा लिया ।

एक दिन, असुरों ने, अपने गुरु को मदान्ध कर, कच को समाप्त कर देने की, निकृष्ट योजना बनाई किन्तु देवयानी के संकेत पर असुरगुरु ने, उसे, अपने प्राणों पर झेल कर भी बचा लिया । कच ने भी अपने शौर्य से बाप और बेटी दोनों को प्रसन्न कर दिया और उसी दिन सञ्जीवनी विद्या का सूत्र भी उसके हाथ लग गया ।

"वृषपर्वा के छल से शुक्र अप्रसन्न हो चुके थे । उन्होंने स्वयं प्रायश्चित कर घोषणा की कि यदि कोई ब्राह्मण, ऋषि या सन्त अथवा शिक्षागुरु मद्य पियेगा तो महान पाप का पातक लगेगा उसे ऐसा घोषित कर वह स्थान ही छोड़ दिया ग्लानि से उन्होंने देवयानी को साथ ले देवलोक में बसने की इच्छा की । किन्तु उससे पूर्व कच और देवयानी को विवाह बन्धन में बांध देने की अभिलाषा प्रकट की—कच ने अत्यन्त शालीनता का परिचय दिया—

"आचार्य प्रवर ! देवयानी गुरुपुत्री है मेरी बहिन समान । चरित्रवान युवक बहिन से समागम कैसे कर लेगा ? मैं असमर्थ हूं । चाहें, तो आप मुझसे मेरी बरसों की साधना—विद्या प्रयोग के मेरे अधिकार को छीन लें, किन्तु इस प्रकार के कुकर्म के लिये प्रेरित न करें ।"

देवयानी का कोमल हृदय टूट गया। वह विलख पड़ी । पर शुक्र की दृष्टि में उस शिष्य का मान नृपति श्रेष्ठ वृषपर्वा से कहीं अधिक हो गया । कच ने सिद्ध कर दिया कि असुर भौतिक विज्ञान में चाहे कितने भी बड़े चढे क्यों न हों, किन्तु चरित्र बल में आर्यों का ही आदर्श सर्वोच्च है । कुपित शुक्राचार्य ने देव और दानवों के मध्य, काम्भोज देश में डेरा जमा लिया काश्यप क्षेत्र तो देवों के आधीन था और गंगा यमुना के किनारे कुरु पाँचाल क्षेत्र में चन्द्रवंशी बसे थे उनकी सीमा काम्भोज को छूती थी । नहुष के पुत्र ययाति ने प्रतिष्ठान पुर को अपनी राजधानी बनाया था ।

शुक्राचार्य के निर्गमन से वृषापर्वा आंतकित था । वह उन्हें मनाने के लिये वहीं पहुंचा और अत्यन्त चाटुकारिता से स्तुति की । शीघ्र प्रसन्न हो जाने वाले शुक्र ने देवयानी को निहारा । देवयानी ने व्यंग्य प्रहार करते हुये असुरराज से कहा—

"नृपश्रेष्ठ ! एक सम्राट को भिखारी ब्राह्मण के सम्मुख यूँ गिड़गिड़ाना क्या शोभा देता है ?"

"ब्राह्मण तो सबका स्वामी है देवयानी ! सारा जगत उसकी प्रजा है ।"

'यह आप नहीं आपका स्वार्थ बोल रहा है असुर श्रेष्ठ ! आपने अपनी बेटी से शायद अभी तक बात न की होगी ?'

"क्या अपराध हुआ बेटी ! मेरी शर्मिष्ठा से ?"

"पुत्री ने पिता को इतना भी नहीं बतलाया ? आवश्यकता भी क्या थी ? एक निर्धन ब्राह्मण बालिका के प्राणों का मूल्य ही क्या है उसकी दृष्टि में ?"

"पहेली न बुझा देवयानी ! खोलकर कह दे बिटिया ! मुझे बहुत भय सता रहा है ।"

शुक्राचार्य ने उसी शैली में उत्तर दिया उसे--

"भयभीत तो हम हैं राजन ! जो यहाँ भाग आये हैं, आपका साहस तो असीम है जो आप यहाँ निर्भय होकर चले आये ।"

"आपकी क्षमा का भरोसा है प्रभु !"

"राजनीतिक चाटुकारिता या नाटकीय वाकपटुता का प्रश्न नहीं है राजन, यथार्थ को जानना चाहिये । जिस राज्य का राजा अपने राज्य में घटित होने वाली दुर्दान्त घटनाओं से इतना बेखबर है कैसे चलेगा वह राज्य ?"

"मैं लज्जित हूं आचार्य !'

"इससे भी अधिक लज्जा की बात यह है वृषपर्वा ! कि प्रजा की रक्षा की सौगन्ध लेने वाले राजा की बेटी, अपने ही कुलगुरु की अबोध कन्या की निर्धनता का उपहास करे; भूखे, कंगाल भिखारी की बेटी कहकर उसके प्रति दासी से भी निकृष्ट व्यवहार करे और इतना ही नहीं अन्धे कुएँ में धक्का देकर उसकी हत्या करने का प्रयत्न भी करे……।" वृषपर्वा ने बेटी के प्रति क्रोध का प्रदर्शन करते हुये दाँत किटकिटाए । तो भी देवयानी अपनी बाल सखी के दुष्कृत्य की स्मृति से और अधिक कठोर हो गई ।

"भला हो उस चन्द्रवंशी ययाति का, हम कृतघ्न नहीं, उपकार का बदला उपकार से चुकाएँगे । यह शरीर ऋणी है उसका, भला असुरों की सेवा कैसे करेगा ? अब चन्द्रवंशी के बचाये प्राण उसे समर्पित हो ही जाने चाहियें । मैं पति रूप में वरण करूंगी उसका । उसने कुएँ से निकालते हुये मेरी कलाई थामी है, पाणी ग्रहण कहती हूं मैं इसे ! आशीर्वाद दो असुराधिपति । मेरे सुखी भविष्य के आनन्दमय क्षणों में विगत के स्मरण से, कष्टमय बाधा न पहुँचाओ । अपने स्थान को लौट जाओ ।"

वृषपर्वा ने रोकर आचार्य के चरण थाम लिये—

"मुझे क्षमा दें कुलगुरु ! मैं महान अपराधी हूं, मुझे जो चाहें दण्ड दें ।"

शुक्राचार्य ने अपने पैरों को खींचते हुये उसे उत्तर दिया—

"बेटी का सुख किसे प्रिय नहीं होता असुर श्रेष्ठ ! असुर लोग तो प्रायः भौतिक सुख में ही विश्वास करते हैं। जाओ तुम, अपनी पुत्री के सुख सृजन करो, यहाँ मुझे अपनी बेटी के सुख का आयोजन करने दो···जिसकी धी सुखी उसका संसार सुखी··· मेरे सुखी संसार को और न जलाओ।"

"मैं अपने अपराध का दण्ड भोगे बिना, अपने पाप का प्रायश्चित्त किये बिना, यहाँ से न हिल सकूँगा गुरुदेव।"

"प्रायश्चित तो आजकल देवता भी नहीं करते असुरपति ! तुम काहे को ऋषि मुनियों जैसी बातें कर रहे हो ?"

"अच्छी बात कहीं से भी मिले, ले लेनी चाहिये आचार्य। आपने कहा था कभी और यह तो मेरे हित साधन की बात है गुरुदेव ! अपनी ही नहीं अपने राष्ट्र और समाज के हित का विचार भी कर रहा हूं पूज्य। इसके लिये मैं बड़े सा बड़ा बलिदान देने को प्रस्तुत हूं। आप दण्ड का विधान करें।"

क्षमाशील शुक्राचार्य ने स्नेह कातर हो पुत्री की ओर दृष्टि उठाई --

देवयानी ने स्पष्ट शब्दों में कहा—

"देश, समाज, राष्ट्र या जाति से मेरा भी कोई संघर्ष नहीं महाराज ! मैं भी उसके लिये सर्वस्व समर्पित करने को प्रस्तुत हूं, इसीलिये गृह कलह को बचाकर पिता को इधर ले आई हूं अन्यथा असुर गुरु के भक्त, असुरों में भी कम न होंगे···?"

"सच कहती हो बेटी ! शुक्राचार्य तो स्वयं समर्थ गुरु हैं वह चाहें तो हजार वृषपर्वा बना सकते हैं किन्तु वृषपर्वा तो प्रयत्न करने पर भी शुक्र सा गुरु कहाँ पायेंगे भला ?"

"राजन ! कथनी और करनी का अन्तर स्पष्ट करने में बड़ा कष्ट होता है ?"

"आप दोनों आज्ञा करके देखें, मुझसे पालन में विलम्ब हो तो प्राण ले लीजिये।"

"आप शर्मिष्ठा से पूछिये पहिले, क्या पिता के वक्तव्य से सहमत हो सकेगी वह ?"

शक्तिशाली वृषपर्वा ने कातर दृष्टि से एक बार द्वार की ओर देखा और दूसरी बार चंडिका सी चिहुँकती देवयानी की ओर देखकर कंपकपा उठा। शीतल निश्वास छोड़ी उसने, शरीर ढीला पड़ गया, और चक्कर सा आने लगा उसे···। द्वार के बाहर शर्मिष्ठा बैठी थी, पिछले बैर का स्मरण कर जो लाज से बाहर ही ठिठक गई थी। किवाड़ों से लगे ही लगे सारी बातें सुन ली थीं उसने, किन्तु पिता के भरभराते गले और डगमगाते शरीर को देखकर वह बाहर न रुक सकी, चिल्लाकर दौड़ी——

"नहीं ऽ ऽ देवयानी ! इतनी कठोर न बन बहिना ! मेरे बापू को इतना न सता···मैं तेरे पैर पड़ती हूं······और न सता उन्हें, क्षमा कर दे······मुझे चाहे सो

दण्ड दे ले······मेरे वापू पर दया कर दे दयामयी ! मैं जब तक जीऊँगी तेरी दासी बनकर रहूंगी···।"

शर्मिष्ठा के दर्शन ने ज्वालामयी की क्रोधाग्नि में घृत का कार्य किया। उसका आर्त्त स्वर प्रतिहिंसा की ज्वाला में झुलसकर रह गया। द्रवित न हो सकी। कन्या के कोमल हृदय में जैसा ज्वालामुखी धधक रहा वैसी ही आँखों से चिंगारियां सी फूटने लगी। क्रोधोन्मत्त कालिका की तरह अट्टहास कर उठी वह—

'हाँ दासी ही कहा था तूने मुझे, और अब तुझे मेरी दासी बनकर रहना होगा, बोल है स्वीकार ?"

"यह दण्ड नहीं वरदान है मेरे लिये; मैं राष्ट्र के लिये समर्पित हूं अपनी जाति और पूज्य पिता के लिये यह शरीर काम आ रहा है इससे वढ़कर गौरव का विषय क्या होगा इस बेटी के लिये—?"

करुणाद्र शुक्र ने जाने कैसे रोक रखा था स्वयं को; अधिक न रोक सके वृषपर्वा को उठाकर छाती से लगा लिया। उनके छलछलाते नयनों से टपक कर, करुणा के जलविन्दु वृषपर्वा के वृषभ से कन्धों पर गिरने लगे। आवेश में वाणी फूट पड़ी गदगदाये कण्ठ से······।"

"वृषपर्वा ! तेरी बेटी ने मस्तक ऊँचा कर दिया अपने देश का, गौरवान्वितं कर दिया असुर जाति को, आज देवता भी असुरों के आचरण से श्लाघा करेंगे, स्वर्ग झुकेगा धरा के चरणों पर, पाताल पावन हो गया आज चरित्र के गंगा जल से।······शर्मिष्ठा चाहे दासी बनकर जाये देवयानी के साथ, किन्तु मेरा आशीर्वाद है, यह निश्चय ही वरदान सिद्ध होगा उसके जीवन में। मैंने क्षमा कर दिया तुझे······मैं देवयानी का विवाह करते ही तेरे पास लौट आऊंगा, छोड़ जा शर्मिष्ठा को यहीं। आज से एक नहीं दो दो बेटियों का दायित्व संभालेगा बूढ़ा शुक्र।"

पिता के कठोर हृदय से करुणा का स्रोत फूटते देख विस्मित थी देवयानी, कोई शव्द न फूटा उसके ओठो से, वाणी पर ताला लग गया।

वृषपर्वा ने, बलिदानी बेटी की ओर, एक क्षण, कातर दृष्टि से देखा किन्तु इससे पूर्व की आंसू पैर की जंजीर वन कर उन्हें वाँध लेते, वह अत्यन्त क्षिप्रता से आवास से वाहर हो गये···।

शहनाइयाँ वजी। ययाति की रानी देवयानी के सङ्ग, वृषपर्वा की बेटी असुर कन्या शर्मिष्ठा भी चन्द्र वंशियों के राजप्रसाद में जा पहुंची।

देवयानी से दो सन्तान हुई ययाति की किन्तु उस भोग लिप्सु ने चुपके चुपके तीन सन्तान शर्मिष्ठा से भी उत्पन्न कर दी।

सह न सकी देवयानी इस विश्वासघात को। दासी के साथ संभोग का कलंक लगा चन्द्रवंशी पर। ययाति की यौवनी शक्ति छीन ली शुक्र ने। नाड़ी छेद दी परदार भोगी की। तीव्र कामवासना से अकुला उठा कुछ करने में असमर्थ कामी। विलख

कर गिडगिडाया आचार्य के सम्मुख। बार बार क्षमा मांगी शुक्र से। आचार्य ने अण्डकोष ग्रन्थि के प्रत्यारोपण द्वारा यौवन लौटा देने की बात कही, यदि शर्मिष्ठा की सन्तान उसे अपना यौवन देने को प्रस्तुत हो जाय तो। कामी कापुरुष बालकों से यौवन मांगते भी न शरमाया। पुत्रों ने तिरस्कार से मना कर दिया। छोटा पुत्र पुरु किसी प्रकार तैयार हुआ और दुष्ट ने सचमुच ही उसका यौवन लेकर वृद्ध कर दिया उसे।

एक दिन ग्लानि से भर उठा कामी का मन। पुरु को सर्वस्व सौंप जंगल में भाग गया। अब किसी से आँख मिलाने काबिल न रहा था वह।"

कहानी सुनते २ रुक गये शक्ति बोलते बोलते थक गये थे शायद। ओठों पर पपड़ी जम गयी थी। थूक सूख गया था उन्होने इधर उधर पानी के लिये देखा, कही पानी न पा व्यथित होकर ओठों पर जीभ फेरी। अद्रिका ने उनकी विकलता को परख कर व्यंग्य कसा—

"विकल होकर अधरों पर जीभ घुमा रहे हो तपस्वी? काम विदग्ध ययाति के स्मरण ने कौन सी पिपासा जगा दी मन में, कहो तो अधरों को तर कर दूँ, यूँ बार बार जीभ फेरने से क्या होगा?"—मुनि ने आँखे तरेरी और सोचा—"वही ढाक का तीन पात।"

फिर प्रकट में बोले "मुझे अपनी पिपासा की चिन्ता नहीं आपकी उद्दीप्त तृषा से भय लगता है महिषी।"

"देखो तो सामने कैसे कैसे गोल गोल फल हैं ये वृक्ष की मनमोहिनी शाखा पर इन्हें ही नोचके अपनी प्यास बुझा लो नर क्षणभर में···।"—उसने पेड़ की ओर हाथ उठा कर संकेत किया, ऋषि ने दृष्टि उठाकर देखा, और वहाँ कुछ न पा झुंझला उठे—

"ममतामयी नारी का शरीर धारण करके भी इस तरह की हरकत कर रही हो, एक तृषित मानव के साथ? कहाँ हैं फल वहाँ, व्यर्थ का झूठ बोल रही हो?"

"झूठ नहीं सच कह रही हूं, एक बार हमारी ओर देखो, इधर उधर क्यूँ भटक रहे हो।"

सचमुच अद्रिका के पीछे एक वृक्ष की शाखा पर लाल पीले सरस फल लगे थे। देखकर मुनि की आत्मा प्रसन्न हो गई। उन्होंने उन्हें तोड़ कर ओठों को तर किया। अद्रिका ऋषि को व्यस्त देख गरजी--

"देख लिया स्वार्थी आदमी का स्वार्थी स्नेह? अपनी बुझाने में लगा है दूसरी का चाहे दम निकल जाये···।"

"दूसरी ने हमें मूर्ख क्यों बनाया इतनी देर?"

"जिसे ईश्वर ने बनाया, उसे कोई और क्या बनायेगा?"

"कहाँ थे वहाँ फल ?"

"वहाँ नहीं थे तो यहाँ तो थे......। शक्ति ने एक पल जाने कहाँ छू दिया दृष्टि से उसे अचानक विचित्र स्फुरण से उसका वक्ष झुरझुरा उठा, उसने खिसके हुये वस्त्र को सहेगा और ऋषि की प्रहार का दृष्टि से बचने का अभिनय किया और बात का रुख मोडते हुये बोली—

"अब तो तर हो गया गला, जरा आगे की बतलाइये न, ययाति के पुत्र पुरु का क्या हुआ ?"

"उसी पुरु की सन्तान पौरव कहलाई, जिसने अपना साम्राज्य श्री कण्ठ, पाँचाल और गंगा जमना के बीच तक फैला दिया ।"

मध्य जम्बू द्वीप वासी थे क्षत्रिय भारतीय आर्यों के लिये पूरे विदेशी से थे इनकी सभ्यता और संस्कृति के साथ भी आर्यों का काफी अन्तर है। चाँद और शुक्र तारे को सम्मिलित कर इन्होंने अपने ध्वज को चिन्हांकित किया था ।

चन्द्रवंशीय सभ्यता के ये लोग पूर्ण रूपेण देह विलासी और भौतिकतावादी हैं। एक बार इन्द्र के अभाव में संकट कालीन परिस्थिति में देवगुरु की प्रेरणा से ययाति के पिता नहुष को जब इन्द्र का कार्यवाहक पद दिया गया तो उस दुष्ट ने पद का दुरुपयोग कर इन्द्र की पत्नि शची से अनैतिक सम्बन्ध गढने की चेष्टा की और अपने अधिकार से भी हाथ धो बैठा। विषयरत वैभव विलासी इन पुरुषों के आचार देव और आर्य संस्कृति से सर्वथा भिन्न चीन्हे जाते हैं।

आर्यों के आचार विचार का पूर्ण आदर्श सूर्यवंशी राम के चरित्र में समाहित है। जिसकी तुलना में इनका कहीं भी ठहराव नहीं। नहुष, ययाति, इलिल, दुष्यन्त और शान्तनु किसी का भी चरित्र उनके जातिगत सांस्कारिक दोषों से नहीं बच सका है।

शक्ति की बात सुनते सुनते, अद्रिका, यकायक, क्रोधाविष्ट हो काँप उठी। और ऋषि की बाँह पकड़ कर खींच ली वह नागिन सी फुफकारी--

"ऐसे मगरमच्छों को तुम मेरी मत्स्यगन्धा सौंपना चाहते हो ? कौन सी शत्रुता निभा रहे हो शक्ति ?"

"अद्रिके ! मोहावेश में तुम देव जाति की मर्यादा के विपरीत आचरण कर रही हो। ऐसे कैसे देवराज को प्रसन्न कर सकोगी तुम ? यहां तुम्हें अपनी बेटी का परिचय है क्या देवलोक में भी तुम्हें यह ज्ञान हो सकता था ? देवलोक में समस्त सन्तानें राष्ट्र की होती है, राष्ट्र पर उनके भरण पोषण लालन पालन और शिक्षा दीक्षा का दायित्व होता है और राष्ट्र के लिये ही उनका उपयोग भी किया जाता है माता पिता के मोह को समाप्त करने के लिये प्रारम्भ से ही बच्चा उनके लिये अपरिचित बनाकर पाला जाता है माँ बाप को पालनीय बच्चों के समूह में अपने की कोई पहचान नहीं होती। सभी अपने लगते हैं।"

"किन्तु देवलोक ने तो मत्स्यगन्धा को नहीं पाला न ? फिर उससे लाभ उठाने का अधिकार वह कैसे पा सकता है ?"

"इसलिये तुम्हारी अभ्यर्थना भी की जा रही है अन्यथा पर राष्ट्रवासी ऋषि के मोहजाल में पड़ी नियम विरुद्धा अद्रिका को पुनः उवारने का प्रयत्न कभी न किया जाता ।"

"प्रेम पाप है, ऐसा तो देवलोक में नहीं जाना जाता ।"

"पर उसकी सीमा भी तो देवलोक के अन्दर ही है न ?"

"प्रेम का क्षेत्र इतना संकुचित नहीं है शायद ? देवराज ने स्वयं मुझे तुम्हारी सेवा में नियुक्त किया था ।"

"वह उनकी विशेष योजना का अंग था जिसे सफल बनाने में तुम अनुत्तीर्ण सिद्ध हुई ।"

"उस दुर्भाग्य के कारण भी आप हैं महाशय ।"

"उस दुर्भाग्य को सौभाग्य बनाने का प्रयत्न भी मेरे ही द्वारा किया जा रहा है ?" मुग्धे !

"वह भी मेरी वेटी का वलिदान करके······?"

"कुकार्यों के निमित्त वलिदान करता पाप नहीं पुण्य होता है ।"

"इसलिये वृषपर्वा की वेटी शर्मिष्ठा की कहानी को भूमिका बना रहे थे इतनी देर से तुम ? कौन सा सुकार्य सम्पन्न होगा मत्स्यगन्धा की बलि देकर ।"

"वही सुकार्य सिद्ध होगा, जो इन्द्र ने एक वार अपनी वेटी जयन्ती के वलिदान से सिद्ध दिया था वूढ़े असुर गुरु शुक्र को हँसते हँसते सौंप दी गई थी वह ।"

"अपने अकाट्य तर्क से मुझे छलने का प्रयत्न कर रहे हो लगातार । क्या हमें उस योजना को जानने का कोई अधिकार नही जिनके लिये हमारी सन्तति की वलि ली जा रही है ?"

"तुम अधिकार के बाहर की वात कर रही हो अव ? राजनेताओं का गुप्त अधिकार तुम्हें कैसे सोंप दिया जायेगा, तुम्हें तो राजनीति का क-ख-ग भी नहीं आता न ? राष्ट्र के संवर्द्धन में उपकरण मात्र हो । राज की गुप्त योजनाओं को स्पष्ट कराकर असफल कर देने का अधिकार तुम्हें कहाँ से सौंप दिया जायेगा ?"

"मुझे कुछ सन्तोष तो होना ही चाहिये न ?"

"तुम इतना समझ सकती हो केवल, कि संस्कृति के परिष्कार और मानवता की सेवा में विशाल योगदान तुम्हारे द्वारा निषपन्न हो रहा है ।"

"मैं सन्तुष्ट नहीं हूं ।"

"मानवों के सम्पर्क का परिणाम है यह, तुम वहुत अधिक क्या 'क्यूं', कैसे करने लगी हो ।"

"जिसका समाधान भी एक ऋषि से लिया जा रहा है। और उस मानवदेह ऋषि का कर्त्तव्य है कि जिज्ञासु की जिज्ञासा अवश्य शान्त करे, शंकाओं का समाधान करे।

"योजना का प्रारूप तो कभी भी तुम्हारे सामने स्पष्ट नहीं किया जा सकता; किन्तु जिज्ञासा शान्त करने के लिये इतना ही पर्याप्त है कि—असुरों के नित्य संसर्ग से जहाँ चन्द्रवंशी महाप्रबल हुये हैं आचार विचार में भी उनसे पर्याप्त प्रभावित हुये हैं। भारत भूमि पर उनके विशाल राज्य ने चिन्ता उत्पन्न कर दी है क्योंकि नियन्ता ब्राह्मण भूसुरों का नियंत्रण उन्हें स्वीकार्य नहीं। वे स्वयं सिंह विधायक बन बैठे हैं, वेदाध्यन एवं भारतीय सभ्यता के मानदण्डों को स्वीकार करके भी अपनी संस्कृति से मुक्त नहीं हो पाये हैं। मानवता रहित, विचार शून्य आचारहीन दुर्गुणों की वृद्धि को रोकने के लिये उन महान् शक्तियों को संगठित होना पड़ेगा जो सत्य धर्म की स्थापना करना चाहती हैं विश्व कल्याण की कामना जिनका मंत्र है।"

"आप यह कैसे कह सकते हैं कि आपके साथी ही सदाचारी या अनुकरणीय हैं और ब्राह्मणों को ही नियंत्रक होना चाहिये? मानवों में सभी का बराबर महत्व है कोई भी गुणी हो सकता है।"

"यूँ तो किसी भी क्षेत्र अथवा जाति में सभी लोग न दुष्ट कहे जा सकते हैं न धर्मशील, तो भी बहुसंख्यकों के आचार विचार से उनकी सांस्कृतिक पीठिका का अनुमान लगाया जा सकता है। शान्तनु के समय में चन्द्रवंशी अपने ज्ञान विज्ञान से इतने उन्नत हो गये हैं कि आर्य मतावलम्बियों से उनका पृथक करना भी असम्भव है अब तो उन्हें अपनाकर ही शुद्धिकरण करना होगा। वे प्रायः शूरवीरं बलवान और नीतिज्ञ हैं पर स्त्रियों के विषय में शिथिल है. अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन। शची ने नहुष को न अपनाया, देवयानी ने अपनाकर भी ययाति को ठुकराया और शकुन्तला ने सर्वदमन से पुत्र को उत्पन्न करके भी दुष्यन्त के कारण कितना कष्ट उठाया?—उनके लिये शरीर का महत्व है अध्यात्म का नहीं, वासना का महत्व है प्रेम का नहीं, बुद्धि का महत्व है हृदय का नहीं, स्वार्थ का महत्व है समर्पण का नहीं···।

"समर्पण का महत्व तो शक्ति के लिये भी कुछ नहीं दीखता।"

"कोई स्वार्थ भी नहीं साध रहा शक्ति, अद्रिका के साथ, जंगल जंगल भटक कर। शक्ति अद्रिका को जिस भूमि पर लेकर उड़ रहा है शरीर उससे बहुत पीछे छूट जाते हैं अप्सरा!

मानव, सभ्यता और संस्कृति की जिस प्रगति यात्रा पर निकल पड़ा है उसका रूख पीछे या पशुता की ओर नहीं मोडा जा सकता। मानव अपने अन्दर छिपी पशुता के भार से जब जब भी अधर्म के ढाल पर लुढ़कने लगता है आर्षजन उसके उद्धार का उपाय खोजते हैं। देवताओं की सहायता से प्रतिकार स्वरूप धर्म युद्ध का व्यूह रचते हैं।"

"पर इस व्यूह में फंसाने के लिये मैं ही मिली हूं तुम्हें ? कुछ तुम भी तो फंसाओ अपना ?"

"भारत भूमि पर एक विशेप नाटक खेला जाने वाला है जिसमें तुम्हारी आत्मजा विशेष भूमिका निभा रही है इस समय तो सूत्र देवेन्द्र के हाथ में हैं, आगे कौन इसका संचालन करेगा, कहा नहीं जा सकता ?"

"आगे की आगे वाला जाने महर्षि ! सारी बातें बतलाने की नहीं होती…।"

मेघ गर्जना सी करते हुये अट्टहास के साथ, इन शब्दों को सुनकर, महर्षि शक्ति चौंक पड़े--पीछे मुडकर देखा तो स्तम्भित रह मये। देवराज इन्द्र वहुत निकट थे। अभिवादन और स्वस्तिवाचन की प्रक्रिया के साथ अपना आश्चर्य प्रकट किया उन्होंने--

"देवराज आप…? क्या हम देववन की सीमा में आ चुके हैं ? बातो ही बातों में कुछ भी पता न चल सका, कव यहाँ आगये ?"

"नारी का संसर्ग इतना रोचक होता है मुनिवर ! कि कठिन से कठिन और अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य भी सहज हो जाते हैं, अद्भुत प्रेरणा जुड़ी है इस शक्ति में, कहिये अव भी दोष देंगे हमें ?"

"अब तो प्रसन्न हो गये होंगे सुरेश ! सम्मोहन का यही इन्द्रजाल तो किसी समय मुझ पर डालना चाहते थे न आप ? लीजिये आपकी अद्रिका के पीछे चला आ रहा हूं सहचर होकर।"

"महर्षियो से अप्रसन्न होकर हमें अपना कल्याण थोड़े ही गंवाना है महाराज ! हमें आप मायावी समझते हैं पर माया की गाँठ तो आप ही खोलते है……छोडिये हम आपके मन्तव्य से अवगत हैं। अद्रिका को स्वीकार कर उसे उचित गौरव देंगे। अब पुनीत कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त हों। स्मरण तो होगा महर्षि ! कि यहाँ से लौटकर पुत्र के पास नही, कहीं और जाना है……।"

ठठाकर हँसे दोनों। दन्तावली की चमक में मोतियों की आभा निखर उठी—

"ऋषियों की स्मृति इतनी क्षीण होने लगी, तो श्रुतियाँ ही लुप्त हो जायेंगी सुरेन्द्र ! फिर धर्म के लिये वनी आप लोगों की योजनाएँ कहाँ जायेंगी भला ? मुझे अच्छी तरह याद है। मैं शान्तनु पुत्र गांगेय देवव्रत को ही सम्भालता हूं चलकर।"

"और वह भी सम्भालिये महर्षि शक्ति ! देखिये आपका ही है न वह अश्व ?" देवराज ने इंगित किया, शक्ति मुस्कराये, अद्रिका चकित थी, ऋषि ने मीठा व्यंग्य कसा--

"तो कपिल मुनि के आश्रम में खोलने बाँधने का जो कर्म शुरू किया था उस परम्परा को अभी छोड़ा नहीं क्या ?

"यह तो कला है महर्षि, अपनी कला को हर कलाकार संजोकर रखता है"

"चलिये अव तो अद्रिका की कला का आनन्द लीजिये…मैं चला…।"

—कहकर घोड़े की पीठ पर छल्लांग लगा दी और हाथ में लगाम ले जमकर बैठ गये। क्षण भर अद्रिका की ओर दृष्टि डालकर देखा—उसकी आँखों में अद्भुत तरलता थी। प्राण प्राणों को खींचने लगे.........पर कुछ न कह पाये शक्ति। वाणी कंठ में भरभरा कर डूब गयी। शायद अनजाने में लगाम खिंच गई थी। घोड़ा अगले पैरों को ऊपर उठा हिनहिना उठा और सरपट दौड़ पड़ा। अद्रिका देखती रही मूर्त्ति सी बनी......जाने कहाँ खो गई थी......देवराज के टोकने पर ही बोध हुआ उसे......।

"आओ अद्रिका! नाटक का एक अंक समाप्त हुआ। बीती घटनाओं पर विस्मृति की यवनिका डाल दो।"

यंत्र चालित सी अद्रिका देवराज का अनुकरण करने लगी और दोनों देववन की गहनता में खो गये।

———

दुर्गम नदी नालों, भयंकर वन वीथिकाओं, ऊंचे नीचे टीलों, विशाल हरे भरे मैदानों और ऊबड़ खाबड़ मार्गों को पार करते हुये; शक्ति, जब, भगवान शंकर की लीटयाई लटों की तरह फैली, हिमालय की सुरम्य शिवालिक श्रेणियों में, शोभित, सप्त सरोवर के मनोहरी क्षेत्र में, पहुँचे, तो उनका मन आनन्द से आप्लावित हो गया। वे भाव विभोर होकर, प्रकृति के पर्वतीय सौन्दर्य को देखते रहे। निर्झरणियों की कल कल छल छल ध्वनि ने उनकी मन वीणा के तार तरंगायित कर दिये। प्रकृति के उन्मुक्त यौवन का श्रृंगार करने वाले, श्यामल पादप पुञ्जों में इठलाते सजे रंग बिरंगे कुसुमाभरण, उनके मन में भावनाओं के असंख्य नक्षत्र वनकर जगमगा उठे। स्वच्छ वन्य पुष्पों का निर्द्वन्द्व केलिविहार और कवि कुल सी कुल ध्वनि करते, विहगों का अविचल रास विलास उनके मन में आनन्द की हूक बनकर, कूक उठा। छोटे छोटे, लाल-भूरे-सफेद-मटियाले, गोल मटोल, चौड़े-चपटे नुकीले, शंकुआकार, बेलन से चकोर और तिकोने, छितराये असंख्य पत्थरों में, झाँकती, घुसती, तैरती, धंसती, घुली मिली सूर्य की चम चम करती चंचल किरणों को अठखेलियाँ करते देख उन्हें यूँ लगा जैसे अजाने, कितनी अबूझ पहेलियों को सुलझा रही हो वे। उन्हें सूर्यवंशियों के मंगलमय पौरुष का स्मरण हो आया। "यही" है वह भारत माँ का हिममंडित हिमालय का पावन पाद प्रदेश, जहाँ पर्वत श्रृखंलाओं को काट काट कर, सुरम्य, सौरभपूर्ण घाटियों का निर्माण करने वाली मन्दाकिनी का, सूर्यवंशी भगीरथ ने, पृथ्वी तल पर प्रथम स्वागत किया था और आनन्द से उन्मत्त भागीरथी बच्चों की भाँति खिलखिल करती, पाषाणों के परुष हृदय को सरस बनाती, रूप और गन्ध की मादकता से मचलती मचलती, स्वयं ही अपनी इच्छा से, एक से अनेक होने के स्वप्न संजोने लगी थी। क्षण भर को, बिखरते से असीम आनन्द को समेटने में असमर्थ, पुरुषार्थी साधक नरेन्द्र-भगीरथ, जाने किस मोदमय हर्ष से तरला उठे थे। आनन्दातिरेक से तरलायी उनकी आँखों का पवित्र जल प्रकृति पर प्रेममय ओस के विन्दुओं की तरह, अश्रुमुक्ताओं की वर्षा कर, सरसा उठा था। चन्द्रवंशी जह्नु ने अकेले ही आत्मसात करना चाहा तो भगीरथ के प्रवल पराक्रम, कुशाग्र बुद्धि और विनयी ज्ञान के सम्मुख उसे नत हो, जाह्नवी (जह्नु की वेटी) कहकर पुकारना पड़ा उसे। सूर्य और चन्द्रवंश की तुलनात्मक भावधारा में डूबते उतराते, जब वह राम के आदर्श चरित्र का, चिन्तन करने लगे तो कविता स्वयं खड़ी होकर उनके वृत्त के रूप में हृदय को छूने लगी।

सहसा उनकी भाव तन्द्रा भङ्ग हुई। जब उनके कानों में किसी मधुकरी की गूंज में डूबा किसी कोकिल की कूक सा, कोई स्वर आनन्दी पुकार बनकर कुहुक उठा——

"रुक जा ऽ ऽ ऽ देव्वु ऽ ऽ रुक जा बेटे ऽ ऽ ऽ मान जा। छोड़ दे वछिया को, जाने दे, जाने दे उसे, उसका स्वामी परेशान होगा···आ ऽ ऽ जा, आजा बेटे देवव्रत !

चाँद को घेरे काले बादलों सी चिकनी अलकें, उसके कन्धों पर, उमड़ती घटाओं में, रोशनी की विभा सी भरकर उलट पुलट हो रही थीं। रूपहले बादलों से ढके सान्ध्य गगन में, सूर्य मण्डल की सुनहरी अरुणाभा सा झाँकता हुआ, श्वेत परिधान से लिपटा उसका अङ्गार-गौंर शरीर, झरतीं हुई जलधारा के बीच जलती जगमगाती असंख्य दीपशिखाओं सा दमक रहा था। निष्कलंक चन्द्रमा की दीप्ति को पराजित कर देने वाला उसका सौम्य मुख्य मंडल, विशिष्ट शील की विभा से आलोकित हो, भुवन, मोहिनी कमनीयता का वरण कर, स्वयं-सिद्ध सौन्दर्य से मुखर हो रहां था।

स्तम्भित थे शक्ति। विस्मित से विचारने लगे--'ऐसी कुन्द इन्दु-सम-देहयष्टि से वियुक्त होकर, चन्द्रवंशी विलासी शान्तनु, जीवित कैसे रहा होगा ? आठ पुत्रों को जन्म देकर भी तारुण्य की प्रतिमूर्त्ति सीं इसकी देह, आज भी विद्युत की स्फूर्तिमान दीप्ति सी चपला रही है। पावनता को भी पावन करने वाला दिव्य सौन्दर्य, किसके मन की कलुष कालिमा को, धो देने में समर्थ नहीं ? फिर भी इसके पवित्र संसर्ग से, शान्तनु अपने मन की कालिमा को धोकर, दुर्गन्धित वासना को दूर न कर सका, क्यों ? क्यों, इस त्यागमयी ने, उसके विराट् ऐश्वर्य को लात मार कर, एकाकी तपस्विनी का साधनहीन जीवन व्यतीत करना पसन्द किया ?"

ऋषि मन में उपजे अनेकानेक प्रश्नों में उलझे दूर खड़े खड़े ही, अपलक, उस अनिन्द्य सौन्दर्य को, देखते ही रह गये। अनायास भय मिश्रित चीख, उस कुहुकुनी के मधुर स्वर में, तड़पकर उभरी--

"वचना भैया ऽ ऽ·········।"

इससे पहिले कि ऋषि वचते, देखते या सम्भलते, देवव्रत के हाथ से छूटी वछिया, छलांग, लगाकर, पेंग भरती सी, सपाट से उनके वदन को धक्का देकर निकल गई। ऋषि धड़ाम से चट्टान पर गिरे और ढाल पर लुढ़कने लगे। किशोर देवव्रत खिलखिला कर तालियां देने लगा। माँ ने वड़े जोर से डाँटा –

'लाजकर निर्लज्ज ! आगन्तुक अतिथि को चोट लग रही है और तू हँस रहा है ?"

वह क्षिप्रता से लुढ़कते शक्ति के पीछे दौड़ी और उसे सम्भाल लिया। ऋषि ने स्वयं भी संभल कर उठने का प्रयत्न किया, पर घुटने की चोट से कराह उठे-- वह घबराई--

"क्षमा करना भैया, बच्चा है? "

"बच्चा·········?"

"हाँ कुछ बड़ा हो गया है।"

"बड़ा हो गया……?"

"थोड़ा शरारती………।"

"शरारती………?"

"शरारती……?" दोनों ही हड़बड़ा रहे थे शायद, जानें क्या बोल रहे थे एक दूसरों को बात ही पूरी न करने दे रहे थे, फिर बीच में ही बोली वह--

"शिक्षा दीक्षा की कमी है।"

"शिक्षा……?"

यहाँ आकर ममतामयी का हृदय ठहर गया; किसी त्यक्त वैभव का स्मरण कर उद्दीप्त हो उठा था शायद? और आवेश में आँसू बनकर आँखों को गीला करने लगा था। पर तुरन्त ही उसने उन्हें संयमित कर लिया। आत्म गौरव की दीप्ति से उसका मुख तमतमा उठा। सहसा उसका स्वर परिवर्त्तित हो गया। क्षण भर में ही सम्पूर्ण पुरुष जाति के प्रति किसी नारी का आक्रोश मुखरित होउठा—

"आपको भी देखकर चलना चाहिये था?

अनायास के इस परिवर्तन पर चकित रह गये ऋषिवर। कुछ चोट की मार कुछ घुटने की पीड़ा, कुछ रूप की प्रतिमा का सम्मोहन अनजान नारी की बौखलाहट अचानक परिवर्तन और शब्दों का अनायास प्रताडन……समझ न पाये बेचारे, क्या, कहें? अस्फुट से शब्द निकले उनके मुख से—

"चलना चाहिये था……?"

"नहीं खड़ा होना चाहिये था।"

"खड़ा ही तो था?"

"आगे पीछे भी हटना चाहिये था?

"आगे पीछे?"

"जानवर है न…?"

"जानवर…?"

"अरे, लड़के को नहीं, उस बछिया को कह रही हूँ।"

उसकी बौखलाहट को पहिचान चुके थे अब तक बौखलाये शक्ति—और संभल गये।

"आप स्वयं ही कहे जा रही हैं या हमने भी पूछा आपसे कुछ?"

"पूछा…?" वह मन ही मन बड़बड़ाती सी प्रतीत हुई जैसे खुद से पूछ रही हो, "क्या वियोग ने सचमुच पगला दिया परित्यक्ता को?"

ऋषि शब्दों ने उसका मौन चिन्तन तोड़ा—

"आपने हमको तो दम ही न लेने दिया"

"मैंने? दम……?"

"घुटना तो सहला लिया होता मैंने ?

आश्वस्त हो चुकी थी वह भी अब तक, करुणा से आर्द्र हो गया उसका हृदय, घुटना सहलाते आगन्तुक को देखकर—"क्षमा कर दो भैया ! बच्चा है मेरा बेटा, थोड़ा नटखट है···उसी के कारण···(उसने देवव्रत की ओर देखकर डांट भरे स्वर में पुकारा)···यहां आ, देवव्रत ! क्षमा मांग अतिथि से······।"

दौड़ आया देवव्रत उसका पुत्र । इससे पहिले कि देवव्रत प्रणाम की औपचारिकता का निर्वाह करता, शक्ति ने उसे आलिंगन में भर मस्तक चूम, अपना वात्सल्य प्रकट किया और उसकी मां की ओर मुड़कर बोले—

"बस, भय्या भी कहती हो और कृत्रिम औपचारिकता भी निभाती हो ऐसे जैसे किसी अनजान अतिथि का सत्कार कर रही हो ?"

वह स्तम्भित थी. इस स्नेहिल व्यवहार को देख । नेह से सींची अमृतमयी वाणी ने उसके सूखे मरुस्थल से उर में आनन्द का स्रोत प्रवाहित कर दिया, करुणा की हिलोर ने दूसरे ही क्षण उसकी पलकों को मोतियों से सजाकर रख दिया । उसने आंचल से पोंछने का असफल उपक्रम किया तो मनोवेत्ता ऋषि ने अन्तर का तार पकड़ लिया—

"नहीं बहिन, ना, पुण्यमयी गंगा को यह सब शोभा नहीं देता ।"

वह चौंकी—

"आप मेरा नाम जानते हैं ?"

"नाम ही नहीं, तुम्हारी व्यथा को भी पहिचानता हूं बहिन !···समझ लो कि तुम्हारे कारण ही यहाँ तक आया हूं ।"

"मेरे कारण ?"

"देवव्रत के लिये······।"

"देवव्रत···?"

"इसकी शिक्षा दीक्षा के लिये ।"

"·······किसने भेजा है आपको······क्यों ?"

उसकी भृकुटियों में बल पड़ते देख, आवस्त किया उन्होंने ।

"घबराओ नही, शान्तनु ने नहीं, देवराज ने भेजा है मुझे ।"

"वह जानते हैं हमें ?"

"शैलपुत्री को देवता न जानेंगे तो कौन जानेगा गंगे !"

"शैलपुत्री···? मैं तो मल्लाहों के बीच पली हूं ।"

'पली कहीं भी हो, किन्तु पुत्री तो जन्म दात्री की कहलाओगी न ?"

"कौन है मेरी जननी ?"

"नृपति श्रेष्ठ श्री शैल की धर्मपत्नी शैलमाता···।"

आप पहेलियाँ बुझा रहे हैं, मल्लाहों में कैसे आ गई मैं ?"

पहेलियाँ नहीं बहिन ! सच कह रहा हूं ।...तुम छोटी सी थी तब...एक दिन मेरे पितामह, ब्रह्मा, ब्रह्मसर के पास, आसन जमाये बैठे थे। तुम महाभिष की ओर देख रही थी, पितामह का न तुम्हें कोई ध्यान रहा और न उन्हें तुम्हारा। उनके हाथ का दण्ड अनायास तुम्हारी ओर घूम गया और तुम गिर गई अपने स्थान से, लुढ़कती हुई निर्झरिणी के प्रवाह में बह चली। शैलमाला ने बहुत कोशिश की तुम्हें रोकने की, बचाने की किन्तु बचा न पाई, रोक न पाई...उसने श्रीशैल को पुकारा वह इतनी दूर खड़े रह गये थे कि चाहकर भी रोक न पाये तुम्हें, करुण हृदय सिसकता रहा, एक भयंकर ताप से गलता रहा उनका अन्तर्मन और हिमनद सा उनके आंसुओं का जल वून्द वून्द करके रिसता रहा।...किनारे किनारे दौड़ते वृक्षों की तरह दूत दौड़ रहे थे तुम्हें पकड़ने को, किन्तु उन्होंने देखा, नाव में बैठे शान्तनु के पिता चन्द्रवंशी प्रतीप ने तुम्हें निकाल लिया था। तुम उनकी जंघा पर बैठी बड़े प्यार से उनके प्रश्नों का उत्तर देती हुई कुछ खो रही थी उन्होंने तुमसे कहा—

'विधाता ने ही तुम्हें मेरे पास,......मैं तुम्हें अपने कुल की लक्ष्मी बनाऊंगा अपने पुत्र की वधु बनाऊंगा जब तुम बड़ी हो जाओगी......।"

दूत, राजा की गोद में तुम्हें देखकर शान्त रहे और समय की प्रतीक्षा करने लगे। प्रतीप किसी यात्रा पर थे उस समय तुम्हें मल्लाहों को सौंप कर आगे निकल गये। ब्रह्मदूतों ने भ्रम से राजा की नाव का पीछा किया किन्तु दूर जाने पर जब तुम्हें वहाँ न पाया तो चिन्तित होकर उल्टे दौड़े तब तक मल्लाह भी तुम्हें वहाँ से लेकर जा चुके थे। ब्रह्मदूतों ने शैलराज को समाचार दिया। मेरे पितामह ने भावी पर भरोसा रख, समय की प्रतीक्षा करने के लिये कहा और सान्त्वना दी—।"

"तब तो आपसे हमारी शत्रुता हुई ?" गंगा बोली ।

"शत्रुता नहीं मित्रता ?...इसमें तुम्हारा ही दोष था, यदि देखने में तुम्हारा दोष न होता, तो तुम्हारा स्खलन भी न होता ?"

'समर्थ को दोष कौन दे सकता है ? बड़ों के दोष देखने की क्षमता किसकी है? सह लिया होगा मेरे पिता ने किसी तरह यह भी अपनी दुर्बलता के कारण ?"

"ऐसा नहीं है गङ्गे ! शैलराज महान हैं, उच्च है उनका चरित्र, विशाल है व्यक्तित्व और उदात्त है उनका चित्त। मूल्यवान खनिजों से उनके विचार, पुष्प मंडित नन्दन कानन सा सहज सरल व्यवहार, हिमानी शैल श्रेणियों से शुद्ध सात्विक आचार और पत्थरों को फोड़कर फूटते हुये सरिताओं के उत्सव की तरह उनकी करुणा, कोमल भावनाएं उन्हें महान हीं नहीं महानतम बना देती हैं गंगा ! देवताओं का आनन्द निकेतन हो गया है उनका घर, स्थान और विशाल हृदय। वे गौरवशाली हैं, स्वयं समर्थ। पितामह की बात को उन्होंने अत्यन्त आदर से ग्रहण किया......।"

"फल क्या हुआ इसका ?"—निराशा भरा स्वर था गंगा का ।

"फल यह हुआ कि उनका प्रपौत्र आज स्वयं, तेरे बच्चे के लिये ही, तेरे द्वार

पर खड़ा है। तेरी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये, तेरे देवव्रत को वसुओं सा सम्मान दिलाने के लिये कृत संकल्प होकर···!"

"सच···।" खुशी से झूम उठी गंगा। आनन्द की उमंगों ने उसका बालपन लौटा दिया क्षण भर को। बोली, "चलो भैया! मेरी कुटिया पर चलो।······मुझे इससे आगे और क्या चाहिये कि मेरी सन्तान को योग्य संरक्षक मिल जाये। तुम मेरे बच्चे को सुधार दो······तुम्हारे गुण गाऊंगी मैं, सेवा करूंगी, अहार जुटाऊंगी तुम्हारे लिये···अपनी सन्तान के लिये मैं क्या नहीं कर सकती···।"

"कोई आवश्यकता नहीं वहिन! वह सब भी मैं करूंगा। अपने बाबा के कठोर आचरण को वरदान कर दूंगा···।"

अजनवी संरक्षक पाकर देवव्रत अचम्भित था, और कुछ कुछ प्रसन्न भी। शक्ति ने गोद में उठाया उसे और कुछ पग आगे बढ़े। वह छटपटाकर, चट से नीचे उतरकर बोला--

"नहीं ऽ ऽ हम अपने पैरों पर चलेंगे······।"

गंगा फूली न समाई पुत्र के इस व्यवहार पर, हंसती हुई बोली—

"कमाल हो गया भैया, तुम्हारे संस्पर्श ने ही इसमें अद्भुत चेतना डाल दी, लगता है शिक्षा की धारा अकस्मात प्रवाहित हो उठी···।"

"ऐसा क्या हो गया वहिन?"

"यह तो इतना बड़ा होकर भी आज प्रातः मेरी कमर तोड़ता चलता था, नीचे ही न उतरता था। आज उससे पहिली वार आत्मनिर्भरता या स्वावलम्वन की बात की है, आज अपने पैरों पर चलने को तैयार हो गया यह···।"

"मेरा आशीर्वाद है वेटी! अब यह अपने पैरों पर ही चलेगा, पूर्ण स्ववलम्वी, किसी के सहारे की तो क्या, किसी ऐश्वर्य की रंच मात्र भी अभिलाषा इसे न होगी, महान त्यागी होगा यह। दूसरों की वैसाखिया न लगाकर स्वयं दूसरों को सहारा देने वाला कठोर सम्वल हो जायेगा यही तो आर्य संस्कृति का पहिला पाठ भी है, जो इसने आज ही ग्रहण कर लिया। निश्चय ही योग्य पात्र है तेरा वच्चा।"

मन ही मन प्रसन्न हो गद्गद हो गई गंगा और भी तीव्रता से पग बढ़ाने लगी, स्नेहिल अतिथि को शीघ्रताशीघ्र जलपान कराने के लिये।

अतिथि ऋषि की मर्यादा के अनुकूल उसने उन्हें कुछ कन्द मूल फल देकर दूध और जल से स्वागत किया। शक्ति उसके व्यवहार से तुष्ट थे। चुप न रह सके, बोले—

"गंगे! तुम्हारा यह पुत्र देवव्रत तो शान्तनु के पास था यहां कैसे आ गया भला?"

"मैंने ही मांग लिया था इसके युवा होने तक।"

"क्यों?"

"मुझे भरोसा नहीं था ऋषिपुंग! कि राजप्रसाद इसे अपेक्षित ममता और

उचित शिक्षा दे सकेंगे। शिक्षित कर लौटा दूंगी……अपना वचन निभा दूंगी मैं।"

"अचम्भा तो यह है कि इतना ऐश्वर्य था वहाँ, वहीं रहकर शिक्षित कर सकती थीं अपनी सन्तान को तुम ? तुम भी शान्तनु को छोड़कर वनवासिनी हो गईं, क्यों ?

"उसकी विषय-लोलुप-विलासिता से मैं तङ्ग आ गई थी। मेरी दृष्टि में वहाँ किसी भी बच्चे का सच्चरित्र रह पाना असम्भव था।……वह राज्य कहाँ है। मुनि श्रेष्ठ ! वह तो गढ़ है विलासिता का। कुलीनता का तो प्रश्न ही छोड़ दो, वहाँ तो पारस्परिक सम्बन्धों की भी लाज नहीं। स्वामी सेविका दासी या मित्र, भगिनी, परदारा या भामिनी के भी रिश्तों का निर्वाह नहीं। अन्तःपुर में बन्दिनी युवतियाँ, कामोद्दीप्त दासियाँ, अपहृत कुंठित वासना युक्त नारियाँ, छोटे छोटे कुमारों पर अपनी गिद्ध दृष्टि लगाये रखती हैं, उन्हें दुर्व्यसनों में फँसा, अपने आधीन कर, राज्य की बागडोर को थाम लेने का कुचक्र रचती हैं। पुरुष परदार गामी लम्पट कामी भोग लोलुप और विलासी होकर, खोखले हो चुके है। वासना का आकर्षण मात्र है, शरीर में न दीप्ति है न शक्ति। प्रेम का नो क ख ग भी नहीं पढ़ा मूर्खो ने उन्मुक्त यौनाचार ने पूर्ण पशु बना दिया है उनको श्वानों की भांति पूंछ हिलाते हुये स्त्रियों की आज्ञाकारिता का निर्वाह करते है और रूप की गंध पर ही राल टपकाते फिरते हैं। प्रणय की एक बूंद भी नहीं, वहाँ केवल वासना है, वासना स्वार्थ की एकान्त साधना, विषयों की आत्यन्तिक कामना शरीर को नोचने की पाशविक वृत्ति और दूसरे के स्वत्व हरण की पैशाचिक भावना। आप ही बोलिये ऐसे वातावरण में देवव्रत बनता या ऋषि ? देवव्रत, देवव्रत भी न रह पाता शायद, दैत्यव्रत हो जाता निश्चय ही।"

"देवव्रत के अतिरिक्त सात अन्य पुत्रों को जन्म दिया था न तुमने…? क्या एक पक्षीय विलासिता कहोगी उसे……?"

"बहुत बड़ा तर्क नहीं दे रहे हैं आप……वही कह रहे हैं जो पुरुष समाज के निर्णायक भौंकते आये हैं, बराबर की बात भी क्यों करते हो, बलात्कारी समाज ने तो अपनी पिपासा का शिकार बना कर भी नारी में आठ गुणी आग की कल्पना की है… मैं पूछती हूं, कितनी स्वतन्त्रता है पुरुष प्रधान समाज में एक स्त्री को" क्रोध से बिफर कर चिल्ला पड़ी वह उसका मुंह तमतमा आया, कोई गहरा घाव छू दिया था शक्ति ने… उद्वेग क्षण भर में ही आँख का पानी बन गया। विचलित हो गये ऋषि, बोले—

"क्षमा करना बेटी, मेरा आशय…अन्यथा न समझो…मुझे मालूम नहीं किन परिस्थितियों में तुम वहाँ रहीं……किन्तु लोक प्रवाद को रोकना दूभर है…तुमने शान्तनु से अपनी सात सन्तानों को छीन कर गंगा में बहा दिया, संसार अत्यन्त कठोर मानता है इस कृत्य को……।"

"ऐसा अज्ञानी संसार सत्य से स्वयं दूर है और वह शान्तनु के ऐश्वर्य से प्रभावित होकर उसके इर्द गिर्द घूमता है उसकी हाँ में हाँ मिला कर दिन को रात और रात को दिन भी कह सकता है, किन्तु जो सत्य को पहिचानते हैं वह ऐसा नहीं कह सकते।

"सत्य क्या है ?"

"सत्य यह है कि मैंने चन्द्रवंश की विलासिनी प्रवृत्ति से आशंकित हो, विवाह से पूर्व ही, शान्तनु से वचन ले लिया था कि मैं अधर्म का मार्ग ग्रहण न करूंगी।"

"अधर्म......?"

"आर्य धर्म में पहिली सन्तान ही धर्म्य होती है शेष सब काम्य। सन्तान होने पर विलासिता को तिलाञ्जली दे आर्यजन सन्तान को स्वयं योग्य बनाने के लिये अपनी शक्ति भर संयमित ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हैं।

धर्म्य सन्तान धर्म के दायित्व की भावना से और काम्य सन्तान काम की कामना से युक्त होती है। धर्मव्रती दृढ़व्रती तेजस्वी और उज्ज्वल चरित्र होता है उसमें शक्ति भी प्रायः अधिक होती है उसे विकास देने में अधिक श्रम नहीं करना पड़ता; जबकि काम्य सन्तान काम की चेरी दुर्बल मन वाली और अस्थिर चित्त होने के कारण, सहज ही अधर्म की ओर प्रवर्तित होने वाली होती है उसके विकास के लिये अधिक श्रम करना होता है।"

"क्यों ?"

"यह तो पूर्वजों से पूछिये, ऋषि मुनियों से पूछिये, महाराज मनु से पूछिये, जिन्होंने सिद्धान्त बनाया।"

"फिर भी तुमने तो कुछ समझा ही होगा ?"

"मैं तो यही समझी हूं, कि उचित पालन पोषण के अभाव में, शिशु के विकास मनोवैज्ञानिक बाधा पड़ती है। माँ बाप की वासनात्मक वृत्ति के प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष संस्कार उस कोमल मानस में जड़ जमा लेते हैं और चरित्र निर्माण तथा गौरवमय भविष्य की बाधा बन जाते हैं।

"इसका मतलब तो यह हुआ कि एक से अधिक सन्तान की इच्छा ही न की जाय ?"

"अवांछित वंश वृद्धि से लाभ क्या ? सौ मूर्खों की अपेक्षा एक गुणी ही अधिक श्रेष्ठ होता है राजा सगर के साठ हज़ार पुत्रों से कहीं योग्य साबित हुआ था दूसरी का एक ही लाल।"

"किन्तु अपने ही द्वारा उत्पन्न सन्तान को मृत्यु के घाट उतारना कौन सा सुकर्म कहा जायेगा यह मैं नहीं समझ सका ?"

"मैंने कहा न, सत्य नहीं है वह। आप विश्वास करते हैं कि कोई माँ अपनी ममता का गला स्वयं काट सकती है ? समृद्ध शान्तनु के चमचे धन के लोभ से, शान्तनु का, मनचाहा इतिहास लिखें तो क्या करूं ? पूत तो कपूत सुने होंगे तुमने, माता भी कुमाता सुनी है क्या ?"

"फिर यह प्रवाद कैसे फैला ? क्या तुमने, शान्तनु की सन्तान, शान्तनु से वियुक्त की ?"

,'की ऽ ऽ किन्तु शान्तनु की नहीं, अपनी सन्तान शान्तनु से वियुक्त की मैंने। सन्तान केवल शरीर से नहीं, प्रेम से अपनी होतीं है। सन्तान उसकी होती है जो पोषण का दायित्व, अपने ऊपर ले। सन्तान उसकी होती है जो ममत्व की बलिवेदी पर वासना की आहुति देने के लिये समर्पित हो। सन्तान उसकी होती है जो उसे राष्ट्र का योग्यतम नागरिक बनाने के लिये सहयोगी भी हो अपनी वासना पूर्ति के लिये तो पशु भी सन्तान उत्पन्न करते हैं।"

"शान्तनु को सन्तान प्रिय नहीं थी क्या?"

"नहीं, उसे सन्तान प्रिय नहीं थी, उसे मेरा मृदुल-गौरा-शरीर प्रिय था अपनी उद्दीप्त वासना प्रिय थी। सन्तान की वियुक्ति का भय दिखाकर, मैंने उसे नियोजित जीवन व्यतीत करने के लिये विवश करना चाहा; किन्तु उसने मेरी एक न सुनी और ययाति की तरह मेरे शरीर में डूबता रहा।"

"तो क्या तुम ने सन्तान की हत्या नहीं की? कहाँ गई वे?"

"उन्हें अलग अलग वसुओं को सौंप दिया हमने और अपने शुद्धाचरणों से आज वे स्वयं वसु हो गये। देवता भी उनके चरित्र की श्लाघा करते हैं, उन्हें पूजते हैं। देवताओं ने अपना लिया उन्हें।"

न समझते हुये भी कुशाग्र बुद्धि, देवव्रत, जो अब तक अत्यन्त मनोयोग से, बैठा हुआ, इनकी बातें सुन रहा था, सहसा चंचल हो उठा, और बोला—

"हम भी बड़े भाइयों की तरह बनेंगे।"

दोनों हंस पड़े—

"हाँ, हाँ, जरूर बनना, पर वैसा बनने के लिये शिक्षा और आचरण की आवश्यकता है?"

"आचरण कैसे बनता है? हम पहिले वही बनायेंगे?"

"आचरण ब्रह्मचर्य से बनता है बटुक!"

"ब्रह्मचर्य क्या......?"

"बतलायेंगे समय आने दो, पहिले शिक्षा प्रारम्भ तो हो। पहिले अक्षर ज्ञान तो प्राप्त करो......।"

हाँ, सब कुछ करेंगे हम, आजन्म ब्रह्मचारी ही बनेंगे अब तो।"

गंगा ने चिढ़ाया उसे—

"अच्छा......बस कर......आजन्म बिलमचाली बनेंगे......बाप दादे भी बने हैं कभी बिलमचाली...?"

"हम बाप दादे नहीं बेटे पोते हैं दोनों में बहुत समय का अन्तर होता है अम्मा वे! गुड़ गुड़ करते हैं हम ठुमक ठुमकी?"

"बच्चे कुछ बनने के लिये बाप दादो की ओर ही देखते हैं लल्लू!"

"जो बाप दादे नहीं बने, हम नहीं बन सकते क्या...पुरुषार्थ से क्या सिद्ध न

होगा माता ! हमें न छेड़ो हम वही बन जायेंगे, फिर पछताना नहीं···देखो···?'

"मैं क्यूँ पछताऊँगी ?

"सच ?"

"हाँ सच; मैं कोई ऐसी वैसी नहीं, देवव्रत की मां हूं—गंगा ? समझा या नहीं? ?···मुझें क्या डराता है रे······अपने वापू को डराना···हाँ···?"

उनको क्या कहना······उनकी तो सारी कहानी खत्म कर चुकी हो तुम ? तुम हमारी बात क्यों नहीं करती, देखना देवव्रत को···एक दिन सारे संसार में माँ का नाम कर देगा···चन्द्रवंश की परम्परा को मोड़ के रख दूँगा मैं······ऐसी कि सूर्यवंशी भी दाँत तले उंगली दवाकर रह जायेंगे···देखना तुम···हाँ सच्ची···।"

उसकी वातांदर्प-युक्त सजग वाणी को सुनकर दोनों आनन्दित होकर हँस पड़े- "हाँ जरूर देखेंगे देवव्रत को अरे गांगेय ?"······एक ने प्यार से उसका चिवुक दवा कर ऐंठ दिया और दूसरी ने मस्तक पर चुम्बन जड़ दिया······वह हक्का वक्का सा देखता ही रह गया···।"

"यह क्या करते हो तुम लोग ?"

वालक की झंझलाहट भरी मुद्रा देख, ठठाकर हंस पड़े दोनों और वह रूठता वाहर जाने का उपक्रम करने लगा···माँ ने दौड़ उसे पकड़कर वाँहों में भर लिया और छाती से लगाकर आशीषों की वर्षा करने लगी। वह उसे लेकर चली गई । ऋषि नैत्यिक कार्यों की पूर्त्ति में जुट गये ।

गंगा के पार्श्व में ही, उसकी कुटिया से कुछ दूर, गंगा के किनारे पर शक्ति ने अपनी झोंपड़ी वनाना शुरू किया। कई दिन इसी कार्य में व्यस्त रहे, उन्होंने स्वयं वाँस काटे, गड्ढे खोदे लकड़ियाँ गाड़ी, फूँस वांधने के लिये रस्सियाँ वाँधी और फिर छप्पर उठा कर सुन्दर वितान तैयार कर दिया। देवव्रत असमंजस से एक एक क्रिया को देखता, सीखने की चेष्टा भी करता और दौड़ दौड़ कर ऋषि का हाथ वटाता था ऋषि के आनन्दमय स्नेहिल मृदुल व्यवहार ने उत्सुक हृदय वालक का मन मोह लिया। उसका उत्साह वढ़ गया था, वह मुग्ध हो प्रति क्षण उनके साथ लगा रहने लगा। गंगा प्रसन्न थी अव, न जाने अव उसकी शरारत कहां खो गई थी ? वह प्रत्येक आचरण में—भोजन. सन्ध्या, अर्चना, पूजा, ध्यान और क्रिया व्यवहार में. स्वभावतः उनका अनुकरण करने लगा था। उठने बैठने, चलने फिरने, खाने पीने, सन्ध्या वन्दन आदि की शैशवी अनुकृतियाँ ऋषि का मन मोह लेती थी। वह अत्यन्त स्नेह से उसे लेते और उसकी जिज्ञासा को शान्त करते उसके कुतुहल भरे प्रश्नों का उत्तर देते और उसकी कुशाग्रता पर मुग्ध हो मन ही मन प्रसन्न होते रहते। उसकी तोतली बातें, चपल चेष्टाएँ और अनुकरण की प्रवृत्ति दोनों के आमोद प्रमोद का साधन हो गई थी।

एक दिन, शान्त चित्त हो, गुरु ने शिष्य को पढ़ाने से पूर्व पूछा—

"सौम्य तुम्हारा नाम क्या है ?"

"देवव्रत !"

"क्यों ?"

"पता नहीं, माँ कहती है।"

"क्यों कहती है माँ तुम्हे, देवव्रत ?"

"आप बतलाइये ?"

"इसलिये कहती है वह, तुम्हें, देवव्रत, कि तुम्हें देवव्रत बनाना चाहती हैं, तुम में देववृत्तियाँ उत्पन्न करना चाहती है···।"

"क्यों ?"

"क्योंकि वह स्वयं देवी है, देव सन्तान है।···देवव्रत ! तुम गांगेय हो, गंगा के पुत्र ! गंगा बड़ी पवित्र है- आचरण शुद्ध। जो भी इसके सम्पर्क मे आता है, परम पवित्र होजाता है। तुम्हारे नाना ने यह नाम बड़ा विचार के रखा है।···गंगा का 'गकार' ही अत्यन्त पवित्र है। 'ग' वर्ण पञ्च देवात्मक है पंच प्राणों से युक्त और सभी शक्तियों से सम्पन्न निर्गुण, निरापद और निर्मल है इसे सूर्य के समान शोभायमान और कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप कहा गया है। उस पवित्र रूप को पहुंच गई है गंगा अध्यात्म की साधिका है वह, वह गंगा—'गाम् गता' होकर पृथ्वी पर चली आई है।"

"गंगा तो इस बहती नदिया का भी नाम है, गुरुदेव ?"

"बहता जल कभी अपवित्र नहीं होता वत्स ! गंगा की गतिशीलता प्रगति और पावनता की साधक है।"

गंगा को त्रिपथगा क्यों कहते हैं आचार्य।"

"गंगा की तीन धाराएँ हैं स्वर्गगा (मन्दाकिनी) भूगंगा (भागीरथी) पाताल गंगा (भोगवती)।"

"कहते हैं, यह गंगा तो विष्णु के नखों से निकल कर शंकर की जटाओं में खो गई थी ?"

"हाँ, पर रूपक है यह। सूर्य को विष्णु भी कहते हैं उनकी किरणें मानो उनके हाथ पैर ही हैं, जिनके नख छूकर देवापि (जल की देव शक्ति) की प्रेरणा से जल, अन्तरिक्ष में प्रवर्त्तित होकर, वरसने लगता है और 'गाम्' धरती को गमन करने के कारण गंगा कहलाता है वह अपने प्रवाह के साथ हिमालय की, शिव की लटियाई सी जटाओं (शिवालिक श्रेणियों) में खो जाती है जो हर पर्वत के द्वार पर हरिद्वार में दीख पड़ती है; शान्तनु नामक धान्य का तो यह प्राण ही है मानो। इससे वियुक्त होकर सात वसुओं की माँ, यह सप्त सरोवर में देवव्रत जल देवता (जीवन दाता) के रूप में, देवता के व्रत का निर्वाह करती है। दाता होकर जब यह आगे बढ़ती है तो इसका भीष्म प्रवाह शान्त अणुओं के लिये जीवनी शक्ति लाकर अन्न उत्पादन की क्रिया को बल देता हैं और अपना सम्पूर्ण जीवन (जल) उसी के लिये समर्पित कर देता है अन्ततः सागर से महाकाल में समाकर महाप्राण होकर, भाप बनके ऊपर उठता है और

अन्तरिक्ष में नीरद (जीवन दाता) होकर पुनः देवत्व प्राप्त कर लेता है।

"आपने शान्तनु का नाम लिया, यह तो मेरे पिता का नाम भी है ?"

"हाँ तुम्हारे पिता का नाम भी यही है और संयोग की बात यह है कि ताऊ का नाम भी देवापि ही है।"

"देवापि ? मेरे ताऊ का नाम ?"

"हाँ, राज्य के वास्तविक अधिकारी भी वही थे।"

"कैसे ?"

'अग्रज होने के नाते···। आर्य मर्यादा के अनुकूल बड़ा भाई ही राज्य का अधिकारी होता है।"

"उन्होंने राज्य क्यों नहीं किया ?"

"उन्होंने ऐश्वर्य विरत होकर तपस्या में मन लगाया और राज्य को भोग लिप्सुओं के लिये ही छोड़ दिया।"

"क्या मेरे पिता, मात्र भोग लिप्सु हैं, ऐसा क्यों हुआ ? यह तो अनर्थ हो गया न ?"

"हाँ, इस अनर्थ के परिणाम स्वरूप, तुम्हारे पिता परिवेत्ता राजा हो गये और राज्य में वर्षा ही नहीं हुई, अकाल पड़ गया।'

"कुछ उपाय करना चाहिये था, राजा को ?"

"ब्राह्मणों की सलाह पर तपस्यारत, देवापि को मना, लौटा लाने की योजना बनाकर, वनगमन की तैयारी की उन्होंने किन्तु महामंत्री अश्मरान ने कुछ कुसङ्गी, पहिले ही दूत बनाकर, देवापि के आश्रम में भेज दिये और उनकी मति भ्रष्ट करा दी। व वेदों के वचनों का तिरस्कार करते हुये कर्मयोग की निन्दा करने लगे और तप तथा अहिंसा की दुहाई देते हुये, दायित्व से बच कर गहन वनों में पलायन कर गये।"

"यह तो ठीक नहीं हुआ, मैं यदि ताऊ जी की तरह तपस्या करूंगा तो कर्म से कभी मुँह न मोडूँगा।"

'शाबाश, मैं ऐसा ही बनाना चाहता हूं तुम्हें।"

"पर महामात्य को तो सत्कर्म की प्रेरणा देनी चाहिये ? वह दुष्कर्म में क्यों लगा ?"

"क्योंकि वह तुम्हारे पिता को भोगों में फँसा कर, स्वयं राज्य का अधिकार भोग रहा है। वह क्षत्रिय वृत्त है त्यागी ब्राह्मण नहीं चन्द्रवंश में ब्राह्मणों को वेतन भोगी भृत्य से अधिक सम्मान नहीं मिलता। जिस देश, जाति या राष्ट्र में बुद्धि जीवियों का सम्मान लुप्त हो जाता है वह देर या सवेर, नाश को प्राप्त हो जाता है।"

"चन्द्रवंश में ऐसा क्यों रहा है आचार्य ?"

'आसुरी वृत्ति के कारण।'

"चन्द्रवंश तो चन्द्रमा से सम्बन्धित है। चन्द्रमा तो देवता है न ? असुरों से इस वंश का सम्बन्ध ?"

'है।"

'कैसे गुरुदेव ?"

"चन्द्रवंश के इतिहास को जानने पर यह पूर्णतः स्पष्ट हो जायेगा।"

"तो फिर वह कहानी सुना दीजिये न हमें भी।"

"कहानी कुछ लम्बी है लल्लू।"

"लम्बी को छोटी कर देना तो आपके बाएँ हाथ का काम है पूज्यपाद।"

हँसी आ गई शक्ति को देवव्रत के बाल चापल्य को देखकर, पर उसकी हाजिर जवाबी से खुश थे वह और वय से छोटे, पर बुद्धि से प्रौढ़, उस बालक पर सब कुछ प्रकट कर देना उन्होंने अनुचित न समझा। वे बोले—

चन्द्रमा देवता थे किन्तु असुरों के गुरु शुक्र की सहमति से, उन्होंने देवगुरु बृहस्पति का तिरस्कार कर, उनसे बैर बना लिया उनकी पत्नी से, उनके पौत्र पुरुरवा की सन्तति में छः पुत्रों का नाम उल्लेखनीय है—आयु श्रुतायु, सत्यायु, रथ, विजय और जय। तुम्हें अब उनमें से दो की ही वंशवृद्धि के विषय में कुछ कहना चाहूंगा, क्योंकि एक वंश में तो तुम्हारा जन्म हुआ है और दूसरे वंश से उस महापुरुष का सम्बन्ध है जिसके पास, बाद में, हम तुम्हें शस्त्र विद्या सीखने के लिये भेजेंगे······।"

"सीखने के लिये किसी और के पास भेजेंगे ?"

"हाँ शास्त्र में पारंगत हो जाने के बाद।"

"क्यों ?"

"शस्त्र और शास्त्र दोनों ही मनुष्य के लिये आवश्यक हैं, एक प्राण रक्षा के लिये तो दूसरा आत्म रक्षा के लिये।"

"तो पहिले प्राण रक्षा ही कराइये। अगर किसी ने प्राण हर लिये तो फिर शास्त्रों का क्या होगा ?"

"प्राण रक्षा अपने हाथ की बात नहीं, केवल प्रयत्न करने का अधिकार है हमें, शेष उस शक्ति के लिये है जो जीवन और मृत्यु दोनों की नियन्ता है ?"

"आप भी तो शक्ति ही हैं ?"

"हां पर नाम का। नाम का शक्ति हूं मैं।"

"और वह ? गुरुदेव !"

"वास्तविक हैं तात्।"

"यहाँ शक्ति मेरे शरीर का नाम है और वह, वह शक्ति है जो इस शरीर को प्राण देती है।"

"उस प्राण शक्ति का परिणाम······।"

"जीवन। जीवन है उस प्राण शक्ति के कारण धरा पर।"

और मृत्यु······?"

"उसका अभाव या उसकी अकृपा। हाँ उसके प्रसाद से मृत्यु से बचा जा सकता है।"

"क्या उसकी साधना की जा सकती है ?"

"अवश्य। इच्छाशक्ति दृढ़ हो तो सब कुछ हो सकता है।"

"तो मैं इच्छा शक्ति को दृढ़ कर प्राणों की साधना करूँगा और मृत्यु को अपने इशारों पर नचाऊंगा।"

"अवश्य, लल्ला ! अवश्य करो यह साधना, मेरा आशीर्वाद है तुम्हारे साथ ? ······किन्तु ज्ञान आवश्यक है उसके लिये······।"

"क्यों ?"

"ज्ञान मोह से बचाता है, विवेक उत्पन्न करता है, उस मन को निष्कलुष करता है ज्ञान, जहाँ इच्छाएँ विकार बन जाती हैं।"

"विकार···?"

"विकार से विचलन होता है और दृढ़ता समाप्त होती है।"

'आप मुझे ज्ञान का उपदेश करिये।"

"अभी नहीं, पहिले खुद समझ लो।"

"खुद को तो अपने आप ही जानता हूं मैं······जानता हूं एक लड़का हूं मैं ······गांगेय शान्तनु।"

"यह तुम्हारा नहीं. तुम्हारे शरीर का परिचय है देवव्रत।"

"मैं क्या हूं फिर ?"

'यह तो बाद में बतलाऊंगा अभी तो शरीर भी अधूरा है उसे तो पूरा कर लें······शरीर को जानने के बाद शरीर को चलाने वालों का परिचय प्राप्त करेंगे।"

"तो पहिले क्या शरीर रक्षा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भेजना चाहते हैं ?"

"नहीं, यहाँ अपने साथ, तुम्हारी रक्षा करने में, मैं ही पूर्ण समर्थ हूं।"

"तो फिर ?"

"शरीर ज्ञान अलग है और रक्षा अलग। शरीर ज्ञान में भी शरीर का इतिहास अलग और शरीर की रचना अलग।"

'आप मुझे क्या बतला रहे हैं ?"

"शरीर का इतिहास···।"

"इतिहास से लाभ ?"

"अतीत को जानकर भविष्य का सुधार।"

"और वर्तमान···?"

"वर्तमान में कर्म।"

"कर्म मे र.. होगा ?"

"शरीर की रक्षा और ज्ञान की प्राप्ति।"

"ज्ञान न हो तो पहिले ज्ञान करा रहा हूं किन्तु इच्छा के विना ज्ञान भी सम्भव नहीं।"

"इच्छा या जिज्ञासा ?"

"जिज्ञासा का अर्थ है जानने की इच्छा। वोलो ? अपने वंश का इतिहास जानना चाहते हो या नहीं ?"

"चाहता हूं, कहिये।"

"आयु से वसुमान का जन्म हुआ और उनके पाँच पुत्र हुए। नहुष, क्षत्रवृद्ध, रन्ति, अनेना और रम्भ। क्षत्रवृद्ध के वंश में, काश्य, कुश, गृत्समद धन्वन्तरी और शुनक का जन्म हुआ और शुनक के यहाँ परम जिज्ञासु शौनक का···।"

"और नहुष के वंश को क्यों छोड़ दिया ?"

"नहुष तो विलासिता से अपना राज्य भी खो वैठे थे···।"

"पर, कोई सन्तान हुई ही होगी उनकी भी ?"

"हाँ, उसी वंश में हुआ है तुम्हारा जन्म भी ?"

"मेरा···? आप मुझे पढ़ा रहे हैं या चिढ़ा रहे हैं ?"

"यह इतिहास है।"

"वदल दूंगा मैं इस इतिहास को···।"

"कैसे ?"

"अपने पुरुषार्थ से, विलासिता की काली स्याही को मिटाकर।"

"वस यही तो मैं चाहता हूं, फिर चिढ़ना क्या और चिढ़ाना क्या ?"

"नही चिढ़ता नहीं मैं, आप सुनाइये।"

"नहुष के छः पुत्र थे,—कृति, वियाति, याति, ययाति, संयाति, आयाति। इनमें से भी मैं तुम्हें ययाति के वंश के विषय में ही वतलाऊंगा।"

"ज़रूर, क्योंकि उसी वंश में मेरा जन्म हुआ होगा ?"

"हाँ।"

"और कुछ न कुछ दोष भी रहा होगा मेरे इस पूर्वज में······?"

दान्त किटकिटाये वाल स्वभाव से देवव्रत ने—

"लगता है अब तक चिढ़े जा रहे हो तुम ?"

"नहीं, आगे के लिये पाठ तैयार कर रहा हूं। अतीत से सवक लेकर भविष्य को सुधारना है न ?"

—वलपूर्वक मुस्करा कर वत्तीसी दिखलाई खिसियाये से गांगेय ने—इसे भाँप कर भी ऋषि ने आख्यान को विराम न दिया, क्योंकि इसी चिडाहट में उन्हें बालक के भीष्म संकल्प उभरते दिखाई पड़ रहे थे। वे वोले—

"आगे सुनने का साहस है या नहीं ?

दर्प से हुंकारा बालक—

"क्यों नहीं···? आप सुनाइये; आप थक जाएँगे, मैं न थकूँगा।"

"ययाति ने दो असुर कन्याओं से विवाह किया—।"

"झूठ···?"

"झूठ नहीं सच। एक असुरों के गुरु शुक्राचार्य की कन्या थी नाम था देवयानी, और दूसरी असुरों के राजा वृषपर्वा की बेटी थी—शर्मिष्ठा। वस्तुतः तो देवयानी ही विवाहिता पत्नी थी उनकी, जिनसे दो सन्तानों का जन्म हुआ था—यदु और तुर्वसु का।"

"और शर्मिष्ठा···।"

"शर्मिष्ठा देवयानी की दासी के रूप में उन्हें प्राप्त हुई थी। अनाचार से ययाति ने शर्मिष्ठा से भी तीन सन्तानों को उत्पन्न किया जिनके नाम थे—द्रुह्यु, अनु और पुरु।

'और इन्हीं में से किसी एक के वंश में मेरा जन्म हुआ होगा? यही कहेंगे न अब आप?"

'हां, पौरव देवव्रत। पुरु के वंश में ही तुम्हारा जन्म हुआ है।"

"अच्छा अब हद हो गई, बस बन्द कर दीजिये यह, मुझे नहीं सुनना यह इतिहास।"

झुंझला कर उठ चला गांगेय। ऋषि ने हाथ पकड़ कर खींच लिया।

"अच्छा सुनो, क्रुद्ध न होओ, आगे इस वंश के ऐसे अच्छे लोगों के नाम सुनाऊँगा जिन पर महिमावान भारत को भी महान् गर्व है।"

'बहका रहे हो, अपनी कहानी पूरी करने के लिये···।"

"नहीं मेरे बच्चे!······सदैव याद रखो कि कोई भी कुल, वंश या क्षेत्र अपावन नहीं हुआ करते उसमें उत्पन्न व्यक्ति ही पापी या पुण्यवान हुआ करते हैं और यदि किसी भी वंश में महाराज क्षत्रवृद्ध की सन्तान क्या ऋषियों सी पुण्यात्मा नहीं बतलाई मैंने?"

"कहाँ बतलाई, उन्हें तो आप पंडिताऊपन के चलिताऊपन में पार कर गये।"

ठहाका लगाकर हँस पड़े शक्ति उसके व्यंग्य पर

"अच्छा बाबा! आगे ध्यान रखूँगा। अब चलिताऊपन कर ही नहीं सकता। बोलो सुनाऊँ?"

आश्वस्त होकर बैठ गया चञ्चल गांगेय।

"हुँ···।"

"क्या अभी भी···।"—ऋषिने ममत्व में नाक उमेठी उसकी। बालक के होंठो पर हँसी फूट पड़ी—

"नहीं, अब सुनाइये न?"

"पहिले यदु की सुनाऊँ या पुरु की?"

"शेष तीन को क्यों छोड़ रहे हैं?"

"किन्हें ?"

"द्रुह्यु, अनु और तुर्वसु को।"

"बड़ी अच्छी है तुम्हारी स्मरण शक्ति।"

"सब आपके व्यंग्य का प्रताप है।"

"अच्छा तो फिर पूरी तरह सुनलो – महाराज ययाति ने एक अनर्थ किया— राज्य के वास्तविक अधिकारी बड़े पुत्र को छोड़ कर, उन्होंने सबसे छोटे बेटे दासी पुत्र पुरु को, अपना उत्तराधिकारी चुना।"

"कोई गुण तो रहा ही होगा, आचार्य ! उनमें कि नहीं ?"

"हाँ वह परम आज्ञाकारी पुत्र था ययाति का। उसने अपना यौवन तक अपने पिता के लिये समर्पित कर दिया था।"

"क्या यह छोटी बात थी ?"

'छोटी तो नहीं किन्तु इससे किसी के प्रवल स्वार्थ की सिद्धी हुई और व्यवस्था भी भंग हुई इससे। उसी कारण प्रवल द्वेष का जन्म हो गया गंगा पुत्र ! ……भाई भाई शत्रु हो गये, आज तक न जाने कितने संघर्षों ने जन्म लिया इन एक ही वंश में और वास्तविक अधिकारियों को क्षत्रियेतर—आर्येतर धर्म ग्रहण करने पड़े, जिनसे जन्म लेने वाले साम्प्रदायिक तनाव आज तक दुःख दे रहे हैं……।"

"कैसे ?"

"पुरु के राज्य प्राप्त कर लेने पर, तुर्वसु के पुत्र तो सशक्त यवन हो गये और यदु के पुत्र यादव और उन्हें क्षत्रियत्व त्याग कर वणिक् धर्म अपना लिया, पशुपालन व व्यापार वाणिज्य को अपना धन्धा बना लिया और जम्बूद्वीप के पश्चिमी भाग में निकल गये।

यदु के चार पुत्र हुये—सहस्त्रजिन, क्रोष्टा, नल और रिपु। सहस्त्रजिन के यहाँ महाप्रतापी सहस्राजुंन और उसी वंश में परम वैष्णव वृष्णि का जन्म हुआ।

क्रोष्टा के यहाँ चित्ररथ का जन्म हुआ, चित्ररथ से पृथुश्रवा, उससे धर्म, धर्म से उशना का जन्म हुआ। चित्ररथ से ही विदूरथ, उससे देवमीढ़ जिससे शूर मारिषा और उससे आनक दुंदुभी वसुदेव का जन्म हुआ। उशना से अनु, अनु से सात्वत जिससे वृष्णि, अन्धक और महाभोज का जन्म हुआ। अन्धक के यहाँ आहुक और उनसे देवक और उग्रसेन का जन्म हुआ राज्य मथुरा में आज भी फैला हुआ है।

महाराज ययाति के पुत्र-अनु के वंश में वलि की पत्नि से दीर्घ तमा हुये जिनके वंश में महाप्रतापी चित्ररथ रोमपाद (जो राम के पिता दशरथ के मित्र थे)… उन रोमपाद का जन्म हुआ। शृंगी ऋषि के वीर्य से आगे यह वंश चला और उस वंश में सूत जयद्रथ का जन्म हुआ ये लोग आज भी रथवानों का कार्य करते हैं और लोगों को पुराण कथायें भी सुनते हैं। ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय माता के संसर्ग से उत्पन्न यह सन्तान पतित होकर सूत समझी जाती है।

"अब महाराज पुरु के विषय में सुनाने से क्यों घबरा रहे हैं लगे लारे उन पर भी हाथ साफ कर दीजिये, शेष सबको तो क्षत्रियों से गिराकर कहीं का कहीं पहुंचा ही दिया न ?"

"यह हुई न मर्दानी बात। अब सुनो बेटे अपने पूर्वजों का इतिहास......।"

"सुनाइये प्रभु ! अब टलने वाला नहीं गांगेय, पालथी मारकर जमा है आपके सामने।"

"महाराज पुरु की दो सन्तान हुई—सुमति और रन्ति भार। रन्ति भार से अप्रतिरथ, उससे कण्व और कण्व में मेधातिथि जैसे पूज्य ऋषि हुये।"

"यह हुई न कुछ बात ?" हर्ष से चिल्लाया गंगा सुत।

"पर तुम्हारा जन्म उस वंश में नहीं हुआ।"

बालक का मुँह उतर गया, रुआंसा सा होकर बोला—

"तुम्हीं ने तो कहा था ऐसे पूर्वजों के नाम लेंगे, जिन पर भारत भू को गर्व है ?'

"हाँ ऐसे गौरवशालियों की बात करूँगा मैं, झूठ थोड़े ही कह सकता हूं ?"

"जल्दी करिये न ?"

मुनि प्रफुल्लता से भर गये उसकी अद्भुत जिज्ञासा पर—

"सुमति के यहाँ रैभ्य और रैभ्य से दुष्यन्त का जन्म हुआ—

"यह महापुरुषों का नाम लिया जा रहा है या काम विलासियों का ?"

"चिढ़ो नहीं, उसी विलासी के वीर्य से, महासती शकुन्तला के गर्भ में सर्वदमन भरत का जन्म हुआ।

खुशी से उछल पड़ा बालक ओर बड़ा भारी उत्साह प्रकट करते हुये बोला—

"वही भरत जिसके नाम पर अपने देश का नाम भारत पड़ा ?"

"हाँ, हाँ, जी तो राजी हो ही गया होगा ?"

"क्यों ?"

"क्योंकि कुछ लोगों का मत इससे भिन्न भी है।"

"क्या ?"

"कुछ लोग इक्ष्वाकुवंशीय ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत को ही भारत का नामाधार मानते हैं।"*

"हाँ क्योंकि वह आपके यजमान सूर्यवंशियों में जन्मे थे न ?"

"तुम्हें कैसे पता है इस बात का ?"

"आप समझते हैं सब कुछ आपको ही पता है ?"

"जरूर गंगा ने सुनाया होगा ?"

"हाँ माँ ही मेरी प्रथम गुरु है।"

---

*भरत के इस इतिहास को जानने के लिये लेखक का दूसरा उपन्यास "ऋषभनन्दन" पढ़िये।

"धन्य है गंगा और गंगा पुत्र गांगेय······।"

तभी गंगा की आमंत्रण भरी अमृतमयी मधुर गुहार सुनाई पड़ी—

"आइये भोजन तैयार है, अपने आहार ग्रहण कीजिये···।"

दोनों ने परस्पर एक दूसरे से दृष्टि मिलाकर देखा और आंखों में मुस्करा खड़े हो गये और हँसी का झरना फूट पड़ा खिलखिलाते हुए बोले —

"लो भैया, आ गई प्रथम गुरु की पुकार।"

"तो चलिये द्वितीय गुरु जी ! आप भी प्रथम गुरु के हाथ का प्रसाद ग्रहण कर बुद्धि पवित्र कर लीजिये।"

बुरा न मान हँसते हुये गुरु शक्ति ने अत्यन्त वात्सल्य से दुलार बाहों में भरना चाहा, पर वह छिटक कर आगे दौड़ गया और वह भी उसे पकड़ने को झपटें।

"अरे रुक जा ऽ ऽ······रुक जा, रुक जा बेटे देवव्रत ! गिर जायेगा।"

पर पथरीले मार्ग पर पथरियों में लड़खड़ाता गांगेय दौड़ता हुआ झपट कर गंगा की प्यारी गोद से चिपट गया —

"अम्मा, अम्बा, अतिथि गुरु ने बड़ी अच्छी २ कहानियाँ सुनाई हैं आज।"

"सच्च ?"

"हाँ, पर तुमसे अच्छी नहीं।"

"क्यों ?"

"तुमने जो सूर्यवंशियों की सुनाई थी न, उनमें अच्छी अच्छी बातें थी···।"

"गुरु जी ने कौन सी सुनायी बेटे ।"

"चन्द्रवंशियों की···।"

गंगा ने लजाकर दृष्टि झुका दी। बात का रुख मोड़ते हुये बोली—

"चल; अपने गुरु जी के हाथ धुला और भोजन करा।"

तब तक शक्ति भी आ गये—

"नहीं नहीं, यह भी मेरे साथ ही बैठेगा, हम दोनों साथ भोजन करेंगे, है न देवव्रत ?"

देवव्रत ने शक्ति की आँख में झाँका और इठलाकर हँस पड़ा, गंगा वात्सल्य में डूबकर आनन्द की तरङ्ग से झूम उठी. उसकी आँखो में अजाने आँसू तरला उठे—। भोजन करते हुये आचार्य ने शिष्य को कुछ अहार शुद्धि के नियमों का निर्देश किया।

"गांगेय ! दूध, फल और जल ही आर्यों का वास्तविक भोजन रहा है।"

"तो फिर समाज में धान्य कहाँ से आया 'गुरु जी !"

'आर्यों में धान्य कृषि सर्वप्रथम उन्हीं वृषभध्वज, ऋषभदेव ने प्रारम्भ की जिनका जिक्र मैंने भारत के नामाधार भरत के पिता के रूप में किया था।"*

"उससे पहिले क्या आर्यो में कृषि नहीं होती थी ?"

"आर्यों में नहीं किन्तु असुरों पणिकों में अवश्य होती थी जो बड़े बड़े भण्डार

*इसका विस्तृत मनोरंजन उल्लेख ऋषभनन्दन उपन्यास में देखिये।

बनाकर अन्न का संग्रह करते थे। यह संग्रह की प्रवृत्ति भी उन्हीं की देन है।"

"आपत्काल या दुष्काल के लिये संग्रह बुरा है क्या ?"

"गांगेय आपत्ति या विपत्ति दैव से प्राप्त होती है, उसका शमन भी वह शक्ति करती है।

"दैव दैव तो आलसी पुकारा करते हैं पुरुषार्थी नहीं।"

"पुरुषार्थ की क्रिया में जब अहं की गन्ध फूटने लगती है तो उस अहं को नियंत्रित करने के लिये ही काल नियन्ता इसे भेजते हैं। इसका प्रतिफल सदैव मधुर ही होता है। जितने कष्ट कंटकों से जीवन का पुष्प खिलता है उतना ही सौरभ युक्त यश उसके सुख का कारण बनकर वसुधा में आनन्द भरता है। कष्ट से आत्मा की शुद्धि होती है और शरीर बलवान।"

"तो आपकी दृष्टि से पुरुषार्थ को तिलांजली देकर हाथ पर हाथ धरकर दैव के भरोसे कष्टों के सुमन खिलाने चाहिये ?"

"नहीं कष्ट पुरुषार्थ को भी शाण देते हैं, पुरुषार्थ प्रखर हो उठता है, पर संग्रह तो आगे दुःखद वैषम्य का जन्मदाता बन जाता है विषमता मानव-मानव में भेद डालती है और समाज अथवा राष्ट्र विखंडित होने लगता है।"

"श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ की विषमता तो रहती ही है ?"

"पर संग्रह के बल पर अश्रेष्ठ भी श्रेष्ठ होने का प्रयत्न करने लगता है प्रयत्न ही नहीं वह स्वयं ही श्रेष्ठ कहलाने लगता है और उससे पुरुषार्थ का निरस्कार प्रारम्भ हो जाता है, येन केन प्रकारेण संग्रह होने लगता है। पूजा. पराक्रम की होनी चाहिए छलकपट, अन्याय और शोषण की नहीं। पराक्रम भी आचरण के अभाव में पशुता बन जाता है। आचरण विद्या से आता है, अतः संग्रह विद्या का ही श्रेयस्कर है अर्थ या अन्न का नहीं एक के पीछे छीनने वाले हैं दूसरे के पीछे कीट पतंग हैं यूंही व्यर्थ हो जाते हैं दोनों। प्रकृति ने मानव को इतना दिया है कि उसके सम्मुख यंत्र के कौशल का का प्रवाद भी मिथ्या ही प्रतीत होता है। यंत्र का अन्वेषण केवल आत्म रक्षा,... आत्म रक्षा नहीं, शरीर रक्षा के लिये होना चाहिये--।"

अपनी बात सुलभ कुतुहल वृत्ति के कारण एक स्वाभाविक प्रश्न किया देवव्रत ने—

"एक बात पूँछू आचार्य।"

'पूछो।"

"जिस क्षेत्र में दूध फल और जल का अभाव हो वहाँ आर्य क्या लेने हैं ?"

"वहाँ वे रहते ही नहीं। आर्य लोगों ने अपने स्थान सदा ही नदियों के मुहानों, पहाड़ी घाटियों, तथा निर्झर, कूप वाडियों की टोह लेकर बनाये हैं।"

"यात्रा भी तो करते होंगे ? यात्रा के बीच ऐसे निर्जन स्थान आ जायें तो क्या हवा खाकर जिया जायेगा ?"

"हाँ, यह भी असम्भव तो नहीं है। आर्य मनीषियों ने प्राणों की ऐसा साधना

का विकास किया है जिससे हवा खाकर भी जिया जा सकता है। योगी तपस्वी पर्याप्त समय तक निराहार रहकर भी गुजारा कर लेते हैं।

सौम्य ! कभी विचार कर देखना, अन्न का अन्नत्व क्या है ? ज्ञात करना यह अन्नत्व उसमें आता कहाँ से है ?

पृथ्वी और आकाश के तत्व, किसी विशेष प्रक्रिया में, पौधों की बालियों में इकट्ठे हुये और अन्न के दाने बन गये। उन तत्वों का ही अभाव तो शरीर में भूख बनकर प्राणी को आकुल कर देता है। उन तत्वों को' वसुधा के वातावरण से, यदि सीधा ग्रहण कर लें हम, तो कैसा रहे ? यह अनहोनी नहीं हैं, योग द्वारा सिद्ध है।

सौम्य ! देवता सुगन्ध मात्र से तृप्त हो जाते हैं, उन्हें वह कला आती है।

गाङ्गेय ! पृथ्वी पर तीन प्रकार के प्राणी स्थूल भोजन पर निर्वाह कर लेते हैं—उत्तम प्रकृति, खनिजों से ही जीवनी शक्ति के लिये अहार ग्रहण कर लेते हैं; मध्यम. प्रकृति, धान्य पर निर्वाह करते हैं और निकृष्ट कोटि के प्राणी मांसाहार पर निर्भर हो जाते हैं ?"

"हाँ, मांस चूंकि प्राणियों कि हिंसा से प्राप्त होता है। तुम सोचो। जिन प्राणियों को खाकर मांसाहारी अपना पेट पालता है क्या वहाँ प्राणियों के लिये पोषक तत्व विद्यमान न होंगे। फिर हत्या की क्या आवश्यकता है ? भूख नहीं, स्वाद का वह क्रम, प्रारम्भ होता है कि कोमल से कोमल मांस और उत्तरोत्तर स्वाद की तलाश में. मांसाहारी, जीवों का रक्त चाट लेने के बाद, नर मांस की गंध के लिये भी विकल हो उठता है हत्यारे हिंसक कों मार देने से समाज की रक्षा होती है। मानव के मांस पर पलने वाले नर भक्षी यातुधान सदैव आर्यो के वाणों की नोक पर रहे हैं।

जल जीवन है किन्तु मदिरा—सड़ा हुआ आसव–प्रमत्तता और तामसिकता का कारण बनकर बुद्धि को निष्क्रिय कर देती है, अविलोकी कौन सा पुण्य कार्य कर सकता है भला ? धारोष्ण दूध शक्ति देता है, किन्तु उसके विकृत रूप गरिष्ठ होकर, पाचन की प्रक्रिया को ही भङ्ग कर देते है; अत: आर्यो ने विशेषतः दूध जल और फल पर ही विशेष बल दिया है जो ब्रह्मचर्य में सहायक है और शरीर में ओज या अमोध वीर्य बनकर प्रस्फुटित होते हैं।

आदमी इतनी बात भी समझले तो दुनिया की आधी समस्याएँ हल हो जायें।

"मैं योग की विशेष क्रिया को समझना चाहूंगा ?"

"पर……।"

"हाँ ठीक है…पहिले अपने इतिहास की कहानी पूरी करा लूँगा तब…।" एक दम बात बलट दी चंचल गांगेय ने।

हँस पड़े ऋषि, वह भोजन समाप्त कर चुके थे। गांगेय अत्यन्त उत्सुकता से उठा, अपने हाथ धुलाकर आचार्य के हाथ धुलाने के लिये, जल का पात्र लेकर दौड़ आया। गङ्गा, अपने पुत्र की विनय शीतलता, पावता और परिवर्तन शीलता पर विमोहित हो रही थी।

आचार्य किंचित विश्राम कर लेने के लिये, अपनी कुटिया की ओर चले, गांगेय परछाईं की तरह अनुकरण करने लगा। अपने स्थान पर पहुंच कर शक्ति लेट गये। गांगेय उनकी शुश्रुषा में पदचापन करने लगा। प्रसन्न हुये आचार्य शिष्य के सेवा भाव से और स्नेहिल दृष्टि से अपलक निहारते हुये उसके सौम्य मुख मंडल में अज्ञात भविष्य को टटोलने लगे।--देवव्रत विस्मित था--

'क्या देख रहे हैं गुरु देव ?''

"देवव्रत देख रहा हूं कि वह जब कश्यप ऋषि के आश्रम में शिक्षा पा रहा था तो, तुम्हारे जैसा ही लगता होगा ?"

"कौन आचार्य ?"

"दुष्यन्त-पुत्र-सर्वदमन-भरत।"

बालक लजा गया, ऋषि बोले—

'कहते हैं जब वह छोटा सा था, तो शेरों के जबड़े में हाथ डालकर उनके दाँत गिना करता था।"

गर्व से तन गया गांगेय का सीना। वह उठा और सहसा बाहर की ओर दौड़ पड़ा। ऋषि समझ न सके, सोचने लगे—शायद माँ की याद आ गई होगी उनके मानस में माँ अरुन्धति की ममता जागकर ममतामय लोरियाँ गुनगुनाने लगीं। नेत्र बन्द हो गये।

विचित्र ध्वनि सुनकर अचानक उनकी आँख खुल गई, जागकर देखा--सामने गांगेय खड़ा था अपरिचित सिंह शावक को गोद में लिये हुए--वह बराबर मुस्करा रहा था। प्रौढ़ ऋषि के लिये शिशु मनोविज्ञान मुखर हो उठा। गांगेय के गर्व पर प्रहार करते हुये ममतामयी वाणी में ठिठौली की उन्होंने—

"अरे यह बिल्ली का बच्चा कहाँ से उठा लाया--?"

"यह बिल्ली का बच्चा लगता है आपको ?"

"और नहीं तो क्या, सिंह का बच्चा किसी की गोद में इस तरह खेलेगा ?"

'क्यों कण्व का धेवता जो कर सकता है शक्ति का शिष्य नहीं कर सकता क्या ?

निरुत्तर थे शक्ति। तो भी वात्सल्य से उन्होंने निर्देश किया—

"जा छोड़ आ इसकी माँ के पास, माँ को बेटे से अलग नहीं करते। हम मान गये शकुन्तला की सन्तान जो कर सकती थी, गंगा के बेटे के लिये वह बायें हाथ का खेल है······पर तू एक ऋषि का भी वंशज है बेटे।"

अबकी बालक चौंक पड़ा। वह शीघ्र ही बाहर दौड़ गया और सिंह शावक को छोड़ तुरन्त लौट आया। आते ही कुतुहल से भरा प्रश्न किया उसने--

"मैं ऋषि का वंशज हूं आचार्य ?"

"हाँ ऋषि और देव दोनों का।"

"किसका ?"

"भरद्वाजका !"

"कैसे ?"

'जब महाप्रतापी, भरत का वंश,' वितथ—विच्छिन्न होने लगा तो उन्होंने, मरुत्स्तोम नामक यज्ञ किया और मरुद् गणों ने उन्हें भरद्वाज नाम का पुत्र दिया।"

"तो वह देव पुत्र या ऋषि कैसे हुआ ?"

"एक बार देवगुरु बृहस्पति के घर में, उनके भाई उतथ्य की पत्नी ममता से जो सन्तान उत्पन्न हुई उसे द्वाज कहकर पुकारा गया। ममता अपने पति से भय मानकर उसे साथ साथ ले जाना न चाहती थी बृहस्पति भी यह भार वहन करने को प्रस्तुत न हुये। दोनों ने छोड़ दिया। मरुद्गणों ने उसका पालन किया और समय आने पर दुष्यन्त पुत्र भरत को सौंप दिया—यही वितथ, भरत का दत्तक पुत्र हुआ। दो का पुत्र होने के कारण यह भारद्वाज कहलाया।

गांगेय ! इसी भारद्वाज से मन्यु, मन्यु से बृहत्क्षत्र और बृहत्क्षत्र से हस्ति का जन्म हुआ जिन्होंने हस्तिनापुर नाम का नगर बसाया।

"महाराज हस्ति के अजमीढ़ नामक पुत्र ने अपनी नलिनी नाम की पत्नी से ऋक्ष और नील नाम के दो पुत्र उत्पन्न किये।

नील से भर्यांश्व, और भर्यांश्व से मुद्गल का जन्म हुआ। मुद्गल का पुत्र दिवोदास और पुत्री अहिल्या थी जिसका विवाह महर्षि गौतम से हुआ और पुत्र शतानन्द हुआ। शतानन्द के वंश में ही कृपी और कृपाचार्य का जन्म हुआ। कृपि द्रोणाचार्य की पत्नी है जिनका विवाह अत्यन्त अल्प अवस्था में कर दिया गया है।"

"ऋक्ष की सन्तान में अब कौन शेष है ?"

"ऋक्ष के पौत्र कुरु महाप्रतापी हुये और उन्होंने ही धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र की स्थापना की उसी वंश में वर्तमान उपरिचर वसु और प्रतीप पुत्र शान्तनु आदि प्रमुख हैं। उपरिचर वसु की बृहद्रथ और मत्स्य नाम की सन्तान बड़ी प्रिय है और प्रतीप पुत्र शान्तनु का देवव्रत कैसा उठेगा कहा नहीं जा सकता।"

"अभी तो हम यही कह सकते हैं आचार्य ! कि देवव्रत वैसा ही उठेगा जैसा आप बनाना चाहेंगे। शक्ति तो गुरुदेव ही देंगे न ?"

"नहीं वत्स जैसा माँ बनाना चाहे वैसा बनो तुम ! मातृ देवो भव......।"

"किन्तु आप यह भी तो सबसे पहिले पढा चुके हैं..."सत्यंवद"

"सत्य त्रिकालाबाध्य है, वह धर्म का आचरण है, धर्म समाज हित में किये गये करणीय कर्म का नाम है उसका बोध माता के दूध के साथ ही शुरू हो जाता है। गंगा बड़ी पवित्र है भगवती उमा की सहोदरा जो देवताओं को भी कुछ सिखला सकने में समर्थ है। आदरणीया हैं ये देवियाँ। अपने आचरण से इन्हें प्रसन्न कर इनका आशीष ले। बोल—मातृ देवो भव।"

पीछे से आवाज आई—

"नहीं आचार्य देवो भव। और वह आचार्य तो और भी वन्दनीय है जो स्वय अतिथि देव बनकर उपस्थित है।

दोनों अपनी शालीनता से विनत हो बालक में शील के उच्चतम संस्कारों को प्रस्फुटित कर रहे थे। वह फिर भी अपनी कुतुहल वृत्ति के साथ हँसी का फुहारा छोड़े बिना न रह सका।

"लगता है आज का पाठ यहीं समाप्त होता है···किन्तु यह भी न भूलिये कि मुझे महाराजा पुरुरवा के पुत्र विजय के वंश में उत्पन्न पुरुषों की कहानी सुनाने का वायदा भी आपने किया था। अभी तो मैं उस महापुरुष के विषय में सुनूँगा जिसके पास शस्त्र विद्या सीखने के लिये आप मुझे धकेलना चाहते हैं माँ नहीं।"

पुरुरवा पुत्र विजय के वंश का स्मरण कर महर्षि शक्ति जाने क्यूँ उदासी से भर गये। अतीत में कथा के सूत्र को खोजती उनकी दृष्टि अनायास ही पलकों को गीली करने लगी, उनका चेहरा रक्ताभ हो उठा और ओठ कुछ कहने से पूर्व ही फड़फड़ा उठे। वे विचिलित हो उठे, वाणी असंयत हो गई। भारी प्रयत्न से स्वयं को सन्तुलित कर सके शक्ति न जाने कौन से शब्द मुँह में ही चक्रवात बनकर रह गये। वह कुछ कह ही न सके आंसुओं की बून्दें उनके कोमल कपोलों पर लुढक कर जाने किस अप्रत्यक्ष करुण कहानी को दोहराने लगी।

देवव्रत सकते में आ गया, "अचानक यह क्या हुआ ?"
उसने माँ की ओर निहारा। शायद समझ गई थीं गंगा उस मन की पीड़ा को जो ऋषि के कोमल मर्म से उठकर तरला उठी थी विदुषी ने करुणा से गीली हो, ऋषि की मनोभावना को परख, अपने देवव्रत को प्यार से सहलाते हुए वर्जनात्मक शैली में दुलराया—

"आ पुत्र। रहने दे, शेष मैं तुझे सुनाऊंगी, आचार्य के हृदय को न दुखा।"

अचम्भित देवव्रत फुसफुसाया—

"माँ मैंने ऐसा क्या अपराध किया है जिससे पूज्यपाद के हृदय को तनिक भी कष्ट हो, फिर भी यदि अनजाने में कोई त्रुटि बन गई है तो मैं पैर पकड़ कर क्षमा मांग लूंगा ?"

"वह दौड़कर गुरुदेव के चरण पकड़ रोने लगा। बालक था, समझ न पाया कि क्या करे।···कुछ ही समय से संयत कर लिया महर्षि ने स्वयं को। स्वस्थ हो गये वे।

अपने दुखावेग को दबाकर वह अनायास कठोर होने लगे। उन्होंने झुक कर देवव्रत को उठाया और बैठकर कण्ठ से लगा लिया। स्वर न जाने कितनी भावनाओं का सम्मिश्रण हो गया था लगा जैसे मन ही मन दुर्बलता पर लज्जित थे! उन्होंने छाती पर देवव्रत को चिपकाते हुये पीठ पर सान्त्वना का वरद् हस्त रखकर गंगा से कहा—

"नहीं बहिन मैं ही अपने मुँह से इसे सब कुछ बतलाऊंगा, एक ऋषि को इतना दुर्बल क्यों होना चाहिये भला ?

गंगा सान्त्वना के स्वर में बोली—

"इसमें आपका क्या दोष है आचार्य! ऋषि एक मानव भी तो होता है। दुःख सुख के प्रबल संघात उसके हृदय को विदीर्ण न करें ऐसा मानने के लिये मैं तैयार नही। भावुक हृदय की संवेदनाओं को कोई भावुक ही समझ सकता है और प्रकृति ने सृष्टि में यह अधिकार सर्वोच्च रूप में नारी को ही प्रदान किया है।"

"नहीं गंगा ! यह मोह का आवरण है जिसने मन पर राग द्वेष की मलिन छाया को डाल दिया । मेरे पिता इसे जानेंगे तो क्या कहेंगे भला ?"

"नहीं आचार्य । आपके पिता ने यह सब सहकर अपूर्व सहिष्णुता एवं साहस का परिचय दिया किन्तु वह सर्वथा आवेग रहित ही रहे हों मैं ऐसा सोच नहीं पाती, वरन् यह मानती हूं मैं कि केवल निश्छल हृदय ही संवेगों और संवेदनाओं से तुरन्त प्रभावित होता है. कपटी तो न जाने क्या क्या जहर भरकर कुटिल मुस्कान बिखेरता रहता है । जैसे सुफेद चादर पर ही कोई भी रंग अधिक मुखर हो उठता है वैसे साफ मन पर किसी भी आवेग की झलक एक दम उभर आती है । मनुष्य क्रिया पर नियंत्रण कर सकता है संवेग पर नहीं ।

"नहीं गंगा किसी ऋषि को इस प्रकार के बोध से आश्वस्त नहीं हो जाना चाहिये । संवेगों पर नियंत्रण की साधना ही हमें सिखलाई जाती है । संवेग के नियंत्रण से ही क्रिया पर अंकुश लगता है । मन को निर्मल ही तब कहते हैं जब वह किसी भी द्वन्द्व से प्रभावित न हो । चादर में रंग का धब्बा आते ही छींट हो जाती है उसे सफेद कैसे कह देंगे फिर ? दिल के हर दाग को मिटा कर ही जिन्दगी की चादर बेदाग रह पाती है ।......कोई बात नहीं......अभ्यास से सब ठीक हो जाता है......अपनी गलती मान लेने के बाद ही उसे सुधारा जा सकता है । गलती को सही सिद्ध करने में ही सर्वत्र अनर्थ का बाहुल्य हो जाता है । मैं लज्जित हूं......।"

उन्होंने कठोर उंगलियों की रगड़ से आँसू पोंछ दिये । जैसे आसमान, भली प्रकार बरस लेने के बाद, बिल्कुल साफ नजर आने लगता है, उनके निरभ्र मन के आकाश में देखते देखते ही ज्ञान सूर्य प्रदीप्त होने लगा —

"निराश न हो देवव्रत ! आ वत्स मैं तुझे चन्द्रबंश के पुण्य प्रतापी यशस्वी, तपस्वी, मनस्वी और तेजस्वी पुरुषार्थियों की गाथा सुनाऊंगा ।"

"गंगा हँस पड़ी । वह बेहद प्रभावित हुई मुनि के मनस्वी व्यवहार से । कितनी सहज सहिष्णुता थी उनके हृदय में. मुग्ध हो उठी वह । उसकी भाव प्रवणता शब्दों में फूट पड़ी

"वास्तव में आप जैसे आचरण सिन्धु महात्मा ही गंगा सी प्यासी सरिताओं को भी पावन करने की क्षमता रखते हैं आचार्य, अन्यथा न जाने कितने दुरात्मा अपना कलुष बहाकर उस पवित्र पयस्विनी को पाप का प्रवाह ही बना कर रख देते ।"

"नहीं जीवन दायिनी ! गंगा की एक स्नेहिल बौछार ही न जाने किस किस की प्रेरणा स्रोत होकर. मुक्त माला सी खिल उठती है उसे गंगा मैया ही जान सकती है, मेघों का जन्मदाता सिन्धु भी नहीं । माँ का मातृत्व ही तो सृष्टि में सुख का वैभव बनकर बरस रहा है न ?"

"फिर भी आपकी क्षमा और गुण ग्राहकता श्लाघनीय है । सन्त स्वतः ही अपने गुणों का प्रकाश कर देते हैं आप कस्तूरी की सुगन्ध को मुट्ठी में बांधकर रोक न पायेंगे ।"

इसीलिये तो मैं भी कहता हूं बेटी। यह सोचकर कि विश्वा ने अज्ञानता में मेरे सो भाइयों की हत्या कर दी थी, पूर्व द्वेप से, उनके पुरुषार्थ और पुण्यशाली प्रभाव को नकार न पाऊंगा। राष्ट्र की प्रगति में दिये गये उनके योगदान से मुंह मोड़कर नहीं बैठ पाऊंगा।

गंगा! कुछ व्यक्ति कुलीन कुलों में जन्म लेकर अनायास ही कुलीन कहलाने लगते हैं, कुछ को अन्य लोग अपने प्रयत्न से प्रतिष्ठा के सिंहासन पर बैठा देते हैं, किन्तु महामनस्वी और तपस्वी वे हैं जो अपने गुणों से संसार को प्रतिष्ठा देने के लिये विवश कर देते हैं। लोग कहते हैं कि प्रायः युग बदलता है और मानव युगानुकूल प्रवृत्तियों में जीने को विवश है किन्तु मनस्वी वे हैं जो युग को बदल देते हैं और युग की प्रवृत्तियाँ उनका अनुकरण करने पर परिवर्तन के लिये विवश हो जाती हैं।

ऐसे ही हैं विश्वामित्र, जिन्होंने अपने प्रबल पुरुषार्थ से, भाग्य की रेखा मिटा कर अपने उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त किया, युग को नया मोड़ दिया एक नयी सृष्टि की नींव धर दी, ऊपर से नीचे नहीं नीचे से ऊपर चढ़ने का मार्ग दिखलाया। जो कार्य वशिष्ठ की सन्तान असीम साधना से सिद्ध न कर सकी वह अपनी सामर्थ्य से कर दिखाया अकेले विश्वा ने। सूरज और चांद को एक कर दिया, सुदूर दक्षिण तक आसुरी संस्कृति का विनाश कर आर्य पताका का दण्डारोपण किया उन्होंने। अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिये उन्होंने प्रिय पुत्रों को त्यागने में भी क्षण भर की देर न लगाई"

वातावरण गम्भीर हो गया था, उसे थोड़ा हल्का कर दिया देवव्रत के शब्दों ने—

"अब आप दोनों पहेलियाँ ही बुझाते रहेंगे या मेरे पल्ले भी कुछ पड़ने देंगे?"

अट्टहास गूंज उठे। कथा का कुंठित प्रवाह, हास्य की दिशा पाकर, सहज ही प्रवाहित हो चला—

"हाँ हाँ, तेरी कहानी······अभी ले बैठ तू···सुन।"

गंगा गुरु शिष्य को छोड़ फिर कुटिया की ओर लौट गई। एक डाल पर बैठे दो पक्षियों की तरह दोनों गुरु शिष्य गुटरगूं गुटरगूं करने लगे ऋषि बोले

"पुरुरवा के पुत्र, विजय के वंश में जह्नु नाम के महापुरुष ने जन्म लिया।"

"वही, जिनके नाम पर गंगा जाह्नवी कहलाती है?"

"हाँ वही, कुशनाम के एक पराक्रमी वीर्यवान पुरुष ने जन्म लिया उनके यहाँ। कुश की चार सन्तान थी एक का नाम था कुशाम्बू। कुशाम्बु की पत्नी के गर्भ से ही महाप्रतापी गाधि ने जन्म लिया·····गाधि की एक कन्या थी, अत्यन्त रूपवती, ऐसी कि जिसे देखकर, परम संयमी भृगुवंशी ऋषि ऋचीक अपना मन खो बैठे। सत्यवती भी, पहिली ही दृष्टि में, उनके तेज से अभिभूत हो, हृदय से समर्पित हो गई। किन्तु सत्ता और साधु के बीच समस्या यहाँ भी अड़कर खड़ी हो गई। गाधि नृप क्रोध से

तमतमा उठे, तो भी कूट नीति के कोई लक्षण प्रकट न होने दिये उन्होंने। यथाशक्ति स्वर को संयत कर बोले—

"महर्षि ! संयम खो चुके हो ?"

"कैसे ?"

"रमणी के नैन बाणों से आहत होकर ?"

"कौन बचा है आज तक, प्रकृति के इस सर्वोत्कृष्ट इन्द्र जाल से ?"

"आप तो शैव हैं न ?"

"हुँ"

"क्या अनंग को अंग देकर दग्ध काम को पुनर्जीवित करना चाहते हैं ?"

"काम को जीवन मिला है रति की याचना पर। अनङ्ग को दग्ध भी कैसे किया जा सकता है फिर ?" शिव की कृपा है अब उस पर मालूम नहीं चार पुरुषार्थों में से एक हो गया है वह ?"

"किन्तु पुरुषार्थी के लिये ही तो पुरुषार्थ होगा न ?"

"क्या आप हमें पुरुषार्थी नहीं मानते हैं राजन ?"

"आपने अभी कहा था पुरुषार्थ चार हैं ?"

"कहा था···?"

"धर्म की साधना की ?"

"निश्चय ही, इस समय भी धर्म पूर्वक आपकी पुत्री का हाथ मांगने आया हूं; अनाचारी नहीं मर्यादित हूं और प्रेम धर्म का निर्वाह कर रहा हूं।"

"प्रेम की बात आप न करें तो अधिक श्रेयस्कर होगा।"

"क्यूँ, क्या घृणा या द्वेष से याचना कर रहा हूं मैं ?"

"नहीं वासना से।"

"कैसे ?"

"एक राज पुत्री से सम्बन्ध स्थापित कर, ऐश्वर्य भोग की कामना से।"

"क्या भृगु पुत्रों को ऐश्वर्य की कमी रही है कभी ?"

"हाँ अब तो कुछ ऐसा ही लग रहा है ?"

"क्यों ?"

"क्योंकि अर्थ की साधना नहीं की आपने। जो अर्थ की साधना नहीं कर सका वह काम की साधना में प्रवृत्त हो गया; कैसे कर पायेगा सब कुछ, प्रेम का कच्चा धागा कितने दिन मोतियों को बींध कर गृहस्थ की माला को विखंडित होने से बचा पायेगा ? कुछ ही समय में छिन्न भिन्न हो जायेगा कृत्रिम प्रेम का कल्पित सूत्र। क्षण भर की वासना का कुंठित आकर्षण, दरिद्रता के विष में घुलकर, दर्द का नासूर बन के सड़ने लगता है महाराज।"

"मेरे प्रेम को कृत्रिम न कहें भूपति। मेरी अकिंचनता उपहास का कारण हो सकती है इस संग्रहशील परिग्रही वृत्ति के युग में किन्तु मेरा प्रेम नहीं। मेरा प्रेम

मेरे मन का वैभव लेकर जन्मा है वह उपहासास्पद न हो सकेगा।"

"मन के मोदक तन की भूख न मिटा सकेंगे मुनिवर ! यदि मन से ही मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं तो एकान्त बैठकर मन से ही स्त्री में रमण कीजिये फिर मेरी कन्या का हाथ...मांग कर मुझ प्रत्यक्ष के भोक्ता को अपमानित करने क्यों आये हैं, यहाँ।"

"यहाँ मैं आपको अपमानित करने आया हूं ऐसा कैसे सोच लिया आपने ?"

"क्या एक दरिद्री से सम्बन्ध स्थापित कर मेरा सम्मान बढ़ जायेगा मुग्ध मनीषी ?"

"क्या अर्थ ही सबसे बड़ी पूंजी है प्रजानुरंजक ?"

"युग की पुकार है महाराज ! हम सामाजिक हैं आपकी तरह वनवासी नहीं, हमारी भी कुछ परम्पराएं हैं।"

"परम्पराएँ नहीं रूढ़ियाँ कहो राजन ! जिनके लिये तुम प्रेम की परम्परा का हनन करना चाहते हो।"

"प्रेम पुरुषार्थ का हनन नहीं करता, उसमें शक्ति का संचरण करता है। प्रेम ने तुम्हें, स्वयं ही, मेरे द्वार पर, भिखारी बनाकर, ला खड़ा किया है।"

"प्रेम ने नहीं, धर्म की मर्यादा ने क्योंकि न मैं बलात्कारी हूं न अपहरण कर्त्ता।"

"यह धर्म का नहीं राजदण्ड का भय है ?"

"ब्राह्मण के लिये राजदण्ड नहीं होता !, यह आदि नृप पृथु का वायदा है भृगुवंशियों से ?"

"धर्म से गिरकर ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रहता भृगुसुत !"

"मैं धर्म से नहीं गिरा हूं।"

"इसीलिये राजदण्ड विनत होकर निर्देश कर रहा है कि पहिले अर्थ की साधना कीजिये फिर काम की......।"

"आप लोभी लगने लगे हैं मुझे।"

"वासना के पंक में पड़े पतित किसी मोहासक्त को जो भी लगे थोड़ा। यह न भूलो महात्मन ! कि ब्राह्मण को यदि समाज के अवध्यता का वरदान दिया है तो एक राजा को ईशत्व की श्रेष्ठता से भी अलंकृत किया है ?"—मुख की लाली में सुप्त कोप के लक्षण भाँपकर बोले निर्भय भृगुवंशी ऋचीक —

"किन्तु अब मुझे लगता है ईशत्व के स्थान पर दम्भ आ खड़ा हुआ है ? ईशत्व समदर्शिता, करुणा और प्रेम में निहित होता है किन्तु तुम लगातार वैषम्य की भावना से मेरा तिरस्कार कर रहे हो।"

"तिरस्कार मैं नहीं..., आपका स्वार्थ मोह याचकत्व करा रहा है, आखीर क्यूं, किस दोष के कारण एक निर्दोष कन्या को तुम जैसे भिखारी की झोली में फेंक दिया जाय।"

"हमें किसी के ऐश्वर्य की याच्छा नहीं।"

"किन्तु ऐश्वर्यों में पली किसी की लाडली कन्या को सुख के साधन सुलभ करा सकने की क्षमता भी नहीं है तुम्हारी,उसके लिये धन की आवश्यकता होती है।"

"पूछो अपनी कन्या से, धन की आवश्यकता है या प्रणय की ?"

"उसे दोनों की आवश्यकता है और यह देखना पिता का दायित्व है।"

"क्या नारी को कोई अधिकार नहीं है ?"

"पिता के यहाँ नहीं, पति के यहाँ है।"

"क्या आर्य कन्याएँ स्वयं वरण नहीं करती पति का ?"

"फिर मेरे पास किस लिये आये हैं आप ? कन्या से ही पता कीजिये। गन्धर्वों के देश में पहुँच जाइये, गान्धर्व विवाह के लिये; ब्राह्मण बनकर प्रतिष्ठित जीवन क्यों जीना चाहते हैं यहाँ। इतना याद रखिये महाराज ! ब्राह्मणों को दण्ड नहीं दे सकते हम किन्तु गन्धर्वों से लोहा ले सकते हैं। हमारे कुल की परम्परा तोड़ने वाला हमसे कैसे बच जायेगा।"

'क्या परम्परा है तुम्हारे कुल की, क्या चाहते हो तुम ?"

"कन्या को प्राप्त करने के लिये, कन्या के बदले, एक सहस्र श्याम कर्ण घोड़े ?'

"यह तो आसुरी प्रवृत्ति है......कन्या का विक्रय......।"

क्रोधाविष्ट हो खड़े हो गये नृपश्रेष्ठ गाधि......और चिल्लाये—

"व्यर्थ का प्रलाप नहीं युवक ! पहिले सामर्थ्य का प्रदर्शन करो......फिर कोई बात करना......शीघ्र निकलो यहाँ से...मुझे शासन के कार्य से विलम्ब हो रहा है ......व्याघात न करो यहाँ......।'

"भृगुवंशियों की सामर्थ्य से अवगत नहीं हैं आप ?"

"सामर्थ्य वंश में नहीं व्यक्ति में होती है, वंश की बैशाखियाँ लेकर चलने वाले पौरुष विहीन व्यक्ति को कन्या नहीं दी जाती पुरुषार्थी कुलों में...।"

दाँत किटकिटाये दोनों ने, ऋचीक ने निर्भय होकर कहा—

"तो यह भी जानते होंगे पुरुषार्थी कुल कि विवाह का सुख अर्थ के पुरुषार्थ में नहीं काम के पुरुषार्थ में है। प्यार व्यापार नहीं पूजा है साधना है। प्रेम को खरीदा नहीं जा सकता। वह धन में नहीं मन में पैदा होता है।"

तिलमिला उठे थे ऋचीक आवेग से उनके नथुने फूल गये, भृकुटि चढ़ गई। आवेश में पैर पटका धरनी पर उन्होंने और तुरन्त लौट पड़े द्वार की ओर...राजा के पीछे पर्दे की ओट में बैठी, एक आवाज सत्य के लिये सिसकती रही किन्तु चीख कर बाहर न आ पाई।

ऋषि का मन अनुताप से भर उठा था। प्रेम की पतंग तो न जाने प्रतिहिंसा के आग में, किधर जाकर खो गई थी। इस समय तो तिरस्कृत स्वाभिमान गरज रहा था—उसने भृगुवंश को ललकारा है आर्य ब्राह्मणों के अनुकरण पर, धन को लात मार, संचय का त्याग कर कौन सा महत्व पालिया भृगुवंशियों ने ?" लगातार सोच रहे थे वे"। एक दिन भृगुपुत्र कविवर शुक्र के चरणों में अपनी बेटी को स्वयं देवयानी लेकर आये थे और

आज उनकी सन्तान भिखमंगी हो गई, कौन से तत्व के तिरस्कार का फल है यह ? बृहस्पति की अर्थ नीति को गहरी चोट दी शुक्रनीति और आज वृषपर्वा का दोहितृ कुल हमें धर्म नीति का पाठ पढ़ा रहा है । भगवान विष्णु एवं लक्ष्मी के पुत्र एक वीर, जिन भृगुवंशियों के धन पर आश्रित रहा करते थे आज उन्हीं के वंशजों को निर्धनता के कारण तिरस्कृत किया गया । ओह ऋचीक ! कैसा कुल घालक है तू ? एक रमणी के मोह जाल में कुल की गरिमा को कलंक लगा बैठा तू ?······पर वह ······सत्यवती······तो प्यार करती है तुझे······खाक प्यार करती है······अपने कुल की रूढिगत परम्परा को तोड़ कर क्यों न चली आई वह ?···उसने चीख कर क्यों नहीं कहा—कि, मैं ऋषीक से प्रेम करती हूं···?···क्या मैं उसके लिये याचक नहीं वन गया था ? कितना निष्ठुर होता है नारी का मन और कितनी अविश्वसनीय होती है उसकी प्रीत ?···कोई प्यार व्यार नहीं छलावा है मात्र छलावा···मस्तिष्क का पागलपन···झूठ और कपट का ही दूसरा नाम है नारी······साकार धोखा······ किन्तु अब तो प्रश्न न मेरा है न मेरे प्यार का ? अब तो प्रश्न है भृगुवंशियों के स्वाभिमान का···मुझे गौरव की रक्षा करनी है प्राण देकर भी···पता नहीं धन के लिये किस स्तर तक गिरना होगा ?···पर उस मदान्ध राजा को दिखलाना ही होगा क्या है भार्गवों की शक्ति···मुझे उसकी कन्या को क्रय करना ही होगा······क्रय करूँगा मैं गाधि की बेटी का···।" अन्तिम शब्द जाने किस आवेश में उसके मुँह से फूट पड़े और गूंज कर उसके कानों से टकराये, उसकी चाल तेज हो गई और एक दिशा में लगातार घुसता चला गया वह ।

ऋचीक वरुण के पास पहुँचे, अपने विचित्र कौशल से देवता को प्रसन्न कर वांछित लेकर लौटे गाधि के पास । अचम्भित था राजा किन्तु शर्त के मुताबिक शुल्क लेकर कन्यादान करना पड़ा उसे । औपचारिक रूप से कन्या को अशीष दिया पिता ने "पुत्रवती भव !"—···चिल्ला पड़े ऋचीक्······कैसा पुत्र······?" किन्तु उपस्थित समुदाय देखकर दाँत भींच कर रह गया···पुत्र हुआ भी तो कैसा पुत्र ?" कूटनीतिक गाधि बहुत कुछ समझ गये थे, उन्होंने संयमित व्यवहार से पूर्ति कर दी प्रश्न की— "महातेजस्वी, प्रखर क्रान्तिकारी, भृगुकुल का कुल गौरव··· ।" ऋचीक् बाहर से कुछ न वोले किन्तु अन्दर ही अन्दर अंगारों सा दहक रहे थे तुरन्त मुड़कर चल पड़े द्वार की ओर । सत्यवती मौन अनुसरण कर रही थी क्रोधविष्ट ऋषि का, एक पत्नी की तरह या किसी तुरन्त प्राप्त क्रीत दासी सा ? निकृष्ट विनियम ने प्रीति का रस पूरी तरह सोख लिया था ।

न कुछ ऋचीक बोले, न क्रितदासी सी वह अनछुई सोनजुही विवाहिता, जीवन तिल तिल जलकर जीने के लिये ही रह गया था न जाने किस वनवासिनी से सुने किसी लोक गीत के बोल उसके ओठों पर थिरक पड़ते थे यदाकदा—

"सोने की थरिया में रस की कटोरी सोने सी देह हमार ।

आवै ना जावै, छूवै ना खावै कैसा है जीमन हार ?
हमारे पिया छलका दे रस की गागरी।
दर पै पड़ी तेरे नागरी।

ऋषि लोक साधन में जुट गये, विद्या को छोड़ ऐश्वर्य संग्रह को अपना लक्ष्य वनाया ब्राह्मण ने और धन उसके चरणों में आ आकर गिरने लगा। ज्यूँ ज्यूँ ऐश्वर्य बढ़ता और वैभव, विलास में इठलाता हुआ सुख के उपकरण जुटाता, राजकुमारी के हृदय में उद्दीप्त वासना भड़क उठती और वह अदृश्य आग में जलती हुई छटपटाने लगती तो बरवस वनवासिनी के लोक गीत पंक्ति, उसके मन की गुहा से निकल कर, औठों पर आ तड़पती—

समय बड़े बड़े घाव भर देता है और सेवा बड़े से बड़े असन्तुष्ट को भी प्रसन्न कर लेती है विनय का जल क्रोध की ज्वाला को शान्त कर ही देता है प्रीति की शीतल बयार कभी न कभी तो सुमन गुदगुदा कर खिला ही देती है। सत्यवती की दीन दशा का अवलोकन कर, एक दिन, ऋषि के हृदय की करुणा का स्रोत मचल कर फूट ही पड़ा, उनका साधुत्व परोपकार के पुण्यशाली जल से पवित्र होकर कर्तव्य का पुनीत धर्म बन गया। पत्नी से पुछा उन्होंने –

"सत्यवती ! मेरे कटुव्यवहार से कोई कष्ट नहीं तुम्हें ? प्रतिहिंसा की ज्वाला नहीं जगी तुम में ?"

"आर्य श्रेष्ठ ! प्रेम व्यापार तो नहीं है न ? समर्पण है वह। विनय में माधुरी घोल दी कामिनी ने अदृश्य पीड़ा की कसक को उभार कर। उद्वेलित हो उठे ऋचीक, फिर भी स्वप्नद्रष्टा सी गम्भीर वाणी निकली निश्वास के साथ।

"किन्तु तुम्हारे पिता ने व्यापार बना दिया है···।"

"पिता ने क्या बना दिया है इससे मुझे कोई सरोकार नहीं ? मैं तो तब भी प्रीति की क्रीत दासी थी, जब आपके अनुराग से बन्धी थी, और आज भी जबकि आपने शुल्क चुकाकर मुझे अपना लिया है ! मेरा स्थान चाहे चरणों में हो चाहे हृदय में, मैं प्रत्येक दशा में आपके साथ हूं देव !"

"उस समय कोई प्रतिकार क्यों नहीं किया था तुमने ?"

"नारी प्यार करती है, किन्तु प्यार के रूप कितने होते हैं ? पिता का आदर, पति का प्रेम, पुत्र की ममता, भाई का स्नेह, माँ की निष्ठा––इनमें से किसे छोड़ दे वह। औरत मैके से भी उतना ही प्यार करती है जितना ससुराल से, किन्तु अपने परिवार का भरपूर स्नेह देने वाला पुरुष न जाने क्यूँ अपने स्वार्थ की तलवार से दूसरों के सम्बन्धों को काट काट कर टुकड़े कर देना चाहता है।

ऋचीक के मन को छूने लगा सत्यवती का सत्य। सोचने लगे, "अरे ऋचीक वास्तव में इस अबला का क्या दोष ? अपराध किसका और दण्ड किसे दे रहा तू ? कदर्य नारी पर अत्याचार कर किस पौरुष का प्रदर्शन कर रहा है भोला ?

तुझे दम्भ चूर्ण करना था एक राजा का और कोप से अन्धा हो प्रति हिंसा की आग में प्रतिक्षण अपना ही घर जलाये जा रहा है तू ?…वाह रे बुद्धिमान ! तू द्वन्द्वातीत ऋषि तो क्या साधारण विवेकशील मानव भी न रहा, भला यह तो सोच मूर्ख, अपनी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति कैसे करेगा, जब तक सहगामिनी का सहयोग तुझे न मिलेगा ? शक्ति के अभाव में यह शव बनाकर चिता पर रख दिया जायेगा…ओर प्रतिज्ञा…प्रतापी पुत्र की अभिलाषा क्या पूरी हो जायेगी ?"—वह स्वय को धिक्कारते रहे । आत्मग्लानि से उनका मन पवित्र हो गया । अन्तर में प्रवाहित प्रेम की सुप्त धारा फूट पड़ी और वह शक्तिकी आराधना करने लगे । शक्ति की कृपा से पुत्र प्राप्ति की कामना की उन्होंने । ममतामयी प्रसन्न हो गई । स्वयं ही समर्पित हुई सत्यवती, वह बलिहारी थे अद्भुत समर्पण पर । उस दिन उनकी सास भी उनके घर आई हुई थी जिस दिन पुत्रेष्ट कामना से यज्ञ का चरु तैयार किया था उन्होंने । रात्री में जिस समय अन्तिम आहुति देने का समय आया तभी प्रसन्न जान पुत्री ने माँ के भाग्य–परिवर्तन की भी कामना की और ऋषि के यज्ञ कुण्ड में आहुति डालने पूर्व पूछा—

'आर्य पुत्र ! मुझे पुत्र तो आप देंगे ही न, इस यज्ञ की समाप्ति पर ?"

"हाँ इसी के लिये तो प्रयत्नशील होकर यह सब कर रहा हूं ।"

"पुत्र आप मुझ से, अपने लिये उत्पन्न करना चाहते हैं या मेरे लिये ?"

"अपने लिये ?"

"किन्तु आप तो यह चाहेंगे न ? कि मैं उसे अपनी कोख में रखूँ और अपने स्तन का दूध पिला कर उसे पुष्ट करूँ ?"

"क्या तुम नहीं चाहती उसे ?"

"जब चाहा था, क्या दिया था तुमने ?"

"नहीं…।"

"आज तो अपनी कामना की ही पूर्त्ति के लिये तत्पर हैं न आप ?"

'क्या इस शरीर का शुल्क नहीं दिया मैंने ? मुनि विलम्ब के लिये चिन्तित, उसने उस विकलता को भाँप लिया और किंचित उग्र स्वर में बोली—

"शुल्क शरीर के लिये दिया है न ? तो फिर नोच लो उसे……। क्या मेरी ममता भी खरीद ली है आपने ?"

"ममता तो मन के साथ जुड़ी होती है ।"

"पर, मन नहीं खरीदे जाते स्वामी ! तन ही खरीदे जाते है ?…आप चाहेंगे आपका पुत्र मेरी सम्पूर्ण ममता को प्राप्त करें, घृणा को नहीं ।"

"घृणा कैसे कर सकोगी तुम अपनी सन्तान से ?"

'बलात्कार से जन्म लेने वाले पुत्र को स्नेह कौन दे सकेगी जगत में ?"

"यह बलात्कार है"

"मन की जाने बिना यदि कुछ किया जायेगा तो क्या कहलायेगा ?"

"मन को जीतने के लिये क्या करना होगा मुझे ?"

"मान देना होगा नारी को, हृदय का उल्लास देना होगा, प्यार भी करना होगा, मनुहार भी।"

"क्या तुम प्यार नहीं करती मुझसे ?"

"तुम्हारी निष्ठुरता ने सोख लिया है मेरे प्यार को। आज तुम्हारे प्यार से नहीं, दया पर जीवित हूं मैं। तुम सोचते हो प्यार के अभाव में नारी जीती है, नहीं, वह तिल तिल करके जलती है...।"

अवाक् थे ऋषि, वितृष्णा की धधकती ज्वालाओं को देखकर।, आँखें चार होते ही सहम गये। पूछा—

"क्या चाहती हो तुम ?"

"पुत्र को तुम अपनी इच्छा से दे रहे हो,...भय्या को मेरी इच्छा से दीजिये मुझे, पुरस्कार स्वरूप ?"

"पिता की तरह शुल्क चाहिए तुम्हें भी ?"

"नही मान चाहिये मानिनी को; प्रेम का प्रतिदान और द्वेष का अवसान।"

"मैंने कन्या वेचने वालों के वंशों को निर्मूल कर देने का संकल्प लिया ...है।"

"विवेक से काम लीजिये ऋषिवर ! क्या यह प्रतिहिंसा हत्या संघर्ष और द्वेष से ही संभव हो सकता है ? युग साक्षी है, क्या सम्पूर्ण रूप से मिटा सका है किसी जाति को कोई ? मैं आपसे पूछती हूं क्या प्राणियों के संस्कार वदल कर प्यार की नई परम्परा से आपके संकल्प की पूर्ति नहीं होती ? अपराध मेरे पिता ने किया है, दण्ड एक माँ को मिल रहा है। जन्म देने वाली, माँ किसी कामना से तड़पकर जिस सन्तान के सामने दम तोड़ दे, क्या उसका जन्म लेना सार्थक है, प्राणनाथ ? क्या आप इसी लिये सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं कि वह मुझे और आपको सिसकता देखकर भी खुशी के ठहाके लगाये ? मेरी माँ एक पुत्र की प्यास से तड़प रही है। प्रभु ! मुझे पुत्र नहीं पहिले भाई चाहिये। कृपा कीजिये नाथ। कृपा कीजिये आज ! मेरे पीहर वालों के सम्मुख मेरा इतना मान रख दीजिये......मेरे साथ माँ पर भी कृपा कर दीजिये न ?"

"सत्यवती पर सदय हुये ऋषि और उन्होंने माँ बेटी दोनों के लिये ही यज्ञ का चरु तैयार करने का वचन देकर, अन्तिम आहुति डाल दी यज्ञ कुण्ड में। किन्तु माँ आशंकित थी ऋषि के संकल्प से और शंका ने कपट का वाना वदला। उसने बेटी का चरु स्वयं खा लिया और अपना चरु उसे दे दिया, यह सोचकर कि पता नहीं, कैसा तेजस्वी पुत्र देना चाहते हैं ऋचीक अपनी पत्नी को ?

कालान्तर में ऋषि की पत्नि से ब्रह्मवेत्ता विश्वामित्र और सत्यवती से महर्षि जमदग्नि का जन्म हुआ।

"क्या कहा गुरुदेव !. रानी से ब्रह्मवेत्ता ?" चौंका शिष्य, और चौंके ऋषि भी, जैसे भावतन्द्रा से झकझोर कर किसी ने जगाया हो; अबोध बालक की उपस्थिति पर

लज्जित से हुये वह यह सोच कर—जाने क्या क्या कह गया शक्ति इस श्रृंगारिक वक्तव्य में एक बालक के सम्मुख उन्होंने पूछा—

"तू जाग रहा है देवव्रत ?"

"क्यों, और कौन है यहाँ सुनने वाला ?"

"जाने क्या क्या कह गया मैं ?"

"एक छोटी सी कहानी बस और क्या ?···हाँ बीच बीच में कुछ सोचने लगते थे जरूर।"

"मैं तो एक क्षण को भी, चुप न हुआ तात.!"

"मैं असत्य नहीं बोलता गुरुदेव !"

गुरु ने विश्वास किया शिष्य पर और स्वयं की चेष्टा पर विस्मित हुये। कभी कभी श्रोता की भांति वक्ता भी इतना तन्मय हो जाता है क्या कथा में ? कि तन्मयता में स्वयं रसाश्रय होकर अपनी स्थिति ही भूल जाय और आसपास का ज्ञान ही न रहे। अद्भुत है काव्य का रस तभी तो उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहकर पुकारा है।

"क्या सोचने लगे आचार्य ?" फिर टोका शिष्य ने और गुरु ने किंचित मुस्कान के साथ उसे बहलाया—

"कुछ नहीं साहित्य के मर्म पर विचार कर रहा था।"

"पर मुझे तो कहानी···।"

"हाँ हाँ कहानी ही···देवव्रत ! गाधि की पत्नी से ब्रह्मवेत्ता विश्वामित्र और सत्यवती से महर्षि जमदग्नि का जन्म हुआ, किन्तु दोनों ही दोहरे संस्कार लेकर जन्मे और एक अदृश्य कहानी गढ़ने लगे। पहला ऋषि का स्वाभिमान लेकर जन्मा था और क्षत्रिय के संस्कारों में पल रहा था; दूसरा क्षत्राणी का अभिमान लेकर उत्पन्न हुआ था किन्तु तपस्वी के संस्कारों में पल रहा था। द्वन्द्वात्मक थे दोनों के चरित्र।

कहते हैं कि मनुष्य धन से नहीं सदा मन से, धनी या निर्धन होता है ! तृष्णा सबसे बड़ी दरिद्रता है। महान ऐश्वर्य का अधिपति होकर भी राजा कंगला ही बना रहता है और सन्तुष्ट परिव्राट् निरीच्छ सम्राट्। लोभी पिता की महत्त्वाकांक्षी सन्तान, ग्राह्य अग्राह्य नहीं देख सकी। विश्वामित्र ने मात्र एक गाय के लिये, मेरे तपस्वी पिता से वैर ठान लिया, मेरे भाइयों का अकारण वध कर दिया, सेना लेकर आक्रमण कर दिया, तो भी तपस्वी के बल से उन्हें परास्त ही होना पड़ा और आत्म ग्लानि से परिव्राजक होकर दर दर भटकने के लिये बाध्य होना पड़ा, जंगलों की खाक छाननी पड़ी; किन्तु शान्ति तभी मिल सकी जब पिताका अनुकरण कर तपस्वी हुये। तब न कोई राजा रहा न रंक। दोनों ही तपस्वी थे। तृष्णा स्वयं समाप्त हो चुकी थी।

ऋषि पुत्र होते हुये भी, ऋचीक-पुत्र यमदग्नि में, क्रोध, आवेश द्वेष और प्रतिहिंसा के संस्कार पनपते रहे। राजर्षि रेणु की पुत्री रेणुका से उन्होंने चार पुत्र उत्पन्न किये जिनमें परम पवित्र पितृ भक्त यशस्वी तपस्वी और मनस्वी भगवान परशुराम

का जन्म हुआ। शंकालु ऋषि को किसी दिन यह आभास हो गया कि उनकी पत्नी, चित्ररथ गन्धर्व के लिये, मन में, कोमल भाव ग्रहण किये हुए हैं और उन्होंने अपने पुत्रों को माता का वध कर देने की ही आज्ञा कर दी...।"

"वड़ी अनुचित आज्ञा कर दी ऋषि ने, कौन मान लेगा इसे, क्या माँ का सम्मान पिता से कम होता है ?"

"ठीक कहा तुमने, किन्तु परम बुद्धिमान परशुराम इसके लिये तैयार हो गये।"

"इसमें बुद्धि......?"

"परशुराम पिता की महान् शक्ति से अवगत थे, किसी भी कारण उन्हें अप्रसन्न करने के पक्ष में नही थे वह जानते थे यदि उन्होंने महर्षि जमदग्नि को प्रसन्न कर लिया तो वाद में माँ को भी जिवा लेंगे और सम्पूर्ण परिवार को विनाश से भी बच जावेंगे। उन्होंने पिता के सम्मुख मातृ हन्ता का अभिनय किया किन्तु पिता का क्रोध उतरने पर उन्हें सही वात समझाने में असमर्थ रहे। जमदग्नि ने माँ को जीवन भी दिया और उसकी ममता को भी। माँ को पता ही न था पुत्र ने क्या किया। जमदग्नि ने परशुराम की अत्यन्त गोपनीय, भृगुवंशीय, संजीवनी विद्या सिखला दी।

जव लोभी कार्त्तवीर्य ने, एक दस्यु की तरह, केवल एक गाय के लिये समाधिस्थ जमदग्नि का सिर काटकर राक्षसी प्रदर्शन किया, तो परशुराम इस समाचार से अकुला उठे, उनका शरीर भयंकर ज्वाला सा प्रदीप्त हो उठा, वे रो न सके, आंसुओं को पी गये वह, क्रोध से उन्मत्त होकर पगला उठे. उछल पड़े अपने स्थान से सिंहनाद करते हुये धार दण्ड उठा कर दौड़े पिता की कुटिया की ओर, पर दस्यु चालाकी से पलायन कर चुका था। पहिले पिता का संस्कार किया उन्होंने फिर एकान्त बैठ विचार करने लगे—

"ब्राह्मण करुणा की मूर्त्ति है, परोपकार उसका धर्म है, क्षमा उसका आभूषण है। वह सदैव दूसरों को उन्नति का मार्ग दिखा कर प्रसन्न होता है, अपने सम्पूर्ण गुणों से समाज को भूपित करना चाहता है, सन्तान की तरह सम्पूर्ण प्रजा पर अपना ममत्व प्रकट कर आनन्दित होता है वह, सवका सुधार उसका लक्ष्य है किन्तु नीच व्यक्तियों के लिये दण्ड ही एक मात्र साधन रह जाता है वे सुधारने के स्थान पर साधनों का दुरुपयोग करते हैं, ऐश्वर्य पाकर प्रमत्त हो उठते हैं वे ? प्रभुता का मद उन्हें दुर्दम्य वना देता है, अनुशासन हीन दस्यु और वलात्कारी पशु वना देता है, ऐसे व्यक्तियों के विनाश का शीघ्र प्रयास किया गया तो समाज की अच्छाई को वचाना कठिन हो जायेगा।"

उन्होंने तुरन्त ब्राह्मणोचित उपकरण उतार फेंके और भयंकर कुठार सम्भाल लिया, हिंसा को हिंसा से प्रताड़ित करने के लिये। उन्होंने भृगुवंशी के साथ, धर्मशील बनवासियों, व्रात्यों, कोल, किरतो और अघोरियों को संगठित ऐश्वर्य से प्रमत्त अविनयी राजपुरुषों का विध्वंस शुरू कर दिया।

जब हिंसा का चक्र प्रारम्भ होता है तो अन्धायुग शुरू हो जाता है। करुणा नहीं फिर रक्त बरसता है बस। क्रोधाविष्ट परशुराम सदोष निर्दोष का ध्यान न रख सके। उन्होंने कार्त्तवीर्य के साथ, उसकी सन्तान उसके आश्रितों और सम्बन्धियों तक संहार कर हिंसा की क्रूर लीला खेली। सहस्रों जनवासों से उनके अधिकार, राज्य, भूमि और सम्पत्ति को छीन गणतंत्र की स्थापना की। यह भयंकर क्रान्ति थी और राजाओं के प्रति तक संगठित विद्रोह था।

सामन्ती वंश और परम्परा का उन्मूलन हुआ। गणराज्य बने। ब्राह्मण, विद्वानों और श्रमिकों का महत्व बढ़ा। निर्बल वर्गों, दुर्बल व्रात्यों, पीडित वनवासियों, दलित और पिछड़े लोगों को समान अधिकार प्राप्त हुआ, किन्तु कालान्तर में स्वच्छन्द वृत्ति और शिक्षा के अभाव में, अनैतिकता और भ्रष्टाचार की जड़ें पनप गईं। बहुमत बनाने के लिये काम लोलुपों की जनसंख्या का इतना बड़ा जंगल खड़ा हो गया कि रोजगार की समस्या सुरसा की तरह मुंह बाकर खड़ी हो गई, साथ ही चोरी डकैती तस्करी, दुराचरण और मिलावट, मुनाफाखोरी और संचय वृत्ति ने राज्य की अर्थव्यवस्था की रीढ़ ही न तोड़ी बल्कि जन-स्वास्थ्य का बंटाधार कर दिया।

गणतन्त्र नष्ट होने लगे और पुनः आक्रमणों का दौर चल पड़ा और निरंकुश सामन्ती व्यवस्था स्थापित होने लगी।

"क्यों, क्या परशुराम के कुठार को जंग लग गया था अब ?"

"हिंसा ब्राह्मण का आदर्श नहीं है सौम्य ! जो कुछ हुआ वह ऋषि की विवशता थी, प्रतिशोध था पिता की हत्या का। काल से संघर्ष था अस्तित्व की रक्षा के प्रश्न को लेकर। अतः जब भी उन्हें एकान्त प्राप्त होता वह फूट फूट कर रोते और ब्राह्मणत्व की सिद्धी के लिये बिलख उठते किन्तु अपने कृत्य के कारणों पर दृष्टि जाते ही उनका आक्रोश उबल पड़ता, अपने पतन के उत्तरदायी लोगों पर उनका कुठार स्वयं उछल पड़ता ऐसी आग दहकने लगती उनकी धमनियों में जैसी समुद्रों में ही उठती है और जिसे बुझाना सम्भव नहीं है। हिंसा और करुणा का द्वन्द्व उनके हृदय को बिलौता रहा।

अन्ततः ब्राह्मणत्व की विजय हुई। आत्मा की शान्ति के लिये ललक पड़े वे। सूर्यवंशी राम की विनय और शक्ति से प्रसन्न होकर उन्होंने अपना धनुष उन्हें सौंप दिया यह प्रतिज्ञा लेकर कि वह साधु ब्राह्मणों और धर्मार्थी सज्जनों की रक्षा के लिये अत्याचारियों का दमन करने से पीछे न हटेंगे।

"अब क्या करते हैं वे ?"

"सौम्य तुम्हारे भावी गुरु है वह। उन्होंने राजनीति छोड़ पुनः ब्राह्मण वृत्ति अपनाली है शान्ति के लिये कष्ट तथा त्याग के साथ तपस्या का मार्ग अपनाया है। सह्याद्रि उनकी साधना का प्रमुख स्थल है। आज भी किसी दीन दुःखी का कष्ट उनसे देखा नहीं जाता, करुणा से मर जाते हैं वे। प्रायश्चित् स्वरूप सब कुछ दे दिया उन्होंने। पर द्वेष की लकीरें इतनी गहरी पड़ी हैं उनके चित् पर कि आज भी

ब्राह्मणोतर को विद्या देने से सकुचाते हैं किन्तु तुम्हें मेरा शिष्य जान और देवी गंगा का पुत्र होने के नाते मना नहीं करेंगे।"

बहुत देर से सुनते सुनते, देवव्रत उकता गया था और किसी अन्य गुरु की कल्पना कर उसका चित्त उपरामता ग्रहण करना चाहता है अतः उसने जम्भाई लेते हुये उदासीनता से पूछा

"यह तो ठीक है किन्तु मातृ हन्ता की मातृ भक्त से किस तरह निभ जायेगी ?"

"हृदय परिवर्तन से…। सौम्य ! जो अपराध, मानव से, जाने अनजाने विवशता स्वभाव से, शाश्वत सिद्धान्तों के विरुद्ध बन जाते हैं वे उसे सारा जीवन रुलाते हैं। यह शाश्वत सत्य है कि मातृशक्ति सर्वोच्च एवं महान है।…पिता की आज्ञा से किये गये माँ के अपराध का प्रायश्चित वह अपने औपचारिक सिद्धान्तों की बलि देकर, करते हैं माँ शब्द आते ही सब कुछ भूल जाते हैं परशुराम। आज नारी का जितना सम्मान उनके द्वारा है उतना किसी के द्वारा सम्भव नहीं किन्तु वह स्वयं न तो नारी का स्पर्श करते हैं न दर्शन।"

माँ के स्मरण से स्वयं शक्ति भी आर्द्र हो उठे और अक्षमाला अरुन्धती की ममता मयी मूर्त्ति का चित्र मन के पर्दे पर खींच पलकें झपकाली उन्होंने; दो बून्द आँखों से निकल कब कपोलों को चूम कर बहती हुई कानों के पास जा पहुंची और नींद की लोरियाँ सुनाने लगी उन्हें; इसका पता उन्हें चल ही न पाया और देवव्रत को यह ज्ञात न हो सका क्योंकि वह भी वहीं गुरु के चरणों पर सिर रखकर जाने कब नींद के साथ अठखेलियाँ करने लगा था।

× × × ×

दिन माह और वर्ष कैसे बीत गये इसका पता ही न चला गुरु शिष्य और गंगा के पारस्परिक स्नेह में कितना ही समय बीत गया। वेदवेदाङ्गों में पारङ्गत हो गया था देवव्रत। ब्रह्मचर्य का अपूर्व तेज उसके मुखमण्डल में उद्भासित होने लगा। किशोरावस्था की हल्की हल्की सुनहरी मूछों की रोम रेख लाल लाल ओठों के ऊपरी भाग पर उभर रही थी इकहरे सुते बदन की लम्बें साल के तरुण वृक्ष सी देह जहाँ लम्बी लम्बी घुटनों तक फैली उसकी भुजाएँ उसके वीरत्व का संकेत कर रही थी वहीं चट्टानों की तरह उभरता विशाल वक्ष एक करुणाद्र उदार हृदय का आवरण बन, साहस और शक्ति की उच्छल तरंगों से तरंगायित होने लगा था गौ के बछड़े की तरह उभरते हुये कन्धों पर बिखरी बालों की लटें रेशमी सुनहरी गुच्छियों सी लहराने लगती थीं; सिंह सी पतली कमर और सुते हुये पेट से उसकी चुस्ती और स्फूर्ति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता था। वनवासियों के सम्पर्क से प्राप्त धनुषबान की शिक्षा से उसके हस्तलाघव के लक्षण उसके क्षत्रियोचित संस्कारों को स्वयं ही विकसित से करते दीखते थे।

आज उसकी चंचलता ने सम्भ्रांत नागरिक की गम्भीरता का रूप धारण कर लिया था। शैशव की कूक मेघशावकों की गर्जना बनने लगी थी।

आज गंगा के साथ उसे परशुराम के आश्रम जाना था। कन्धे पर नये धनुष और बाण भरे तरकश से युक्त अपनी आवश्यक वस्तुओं को सहेज रहा था वह।

प्रातःकाल जब अम्बर अरुणाभा से भर गया तब तृणपादपों पर पड़े ओस के कण, सतरंगी कान्ति में मोतियों से झिलमिला कर, प्रकृति का सजल शृंगार कर रहे थे। पर्वत की चोटियों के पीछे से बाल सखा सूर्य किरणों के हाथ पैर नचाता हुआ, झाँकने लगा तो उसका प्रतिबिम्ब भी गंगा के नीलाभ जल में अनगिन स्वर्ण रेखायें खींच कर चमकीली छवि के विचित्र चित्र उंकारने लगा और पत्थरों से टकराकर उछलती जल की फुहारों में असंख्य मोतियों की लड़ियाँ बिखर बिखर कर सिमटने लगी। जिधर देखो मोती ही मोती, जैसे मोतियों से भर गया था संसार। उधर देखो, शक्ति के पास खड़ी, बिछोह के कष्ट के पूर्वानुमान से त्रसित, गंगा की आँखों का पानी मोतियों का कैसा संसार रच रहा था जिसे प्रदीप्त प्रकृति की चंचल मूर्त्ति सी वह अपनी पतली पतली उंगलियों से पकड़कर लहरों से लहराते आँचल को समेट कर बार बार पोंछने का उपक्रम कर रही थी। अथाह जलराशि की भांति न जाने कितने कोमल भाव उसके करुणार्द्र अन्तरंग में उठते सरिता पर उभरने वाले कुहरे की तरह उसके मस्तिष्क पर छा जाते और तुरन्त नये उमड़ते घुमड़ते बादलों की तरह काली काली पलकों की झपझपाहट में बून्दाबांदी करने लगते। वह चाहकर भी कुछ कह न पाई थी। मौनवाणी सिहर सिहर कर वक्ष की पहाड़ियों पर बहते आसुओं के प्रवाह को स्पर्श कर हिचकियों में फूट पड़ती थी। स्तम्भित थे शक्ति। सरस प्रवाह कठोर चट्टानों को काट कर दुःख की मैली राह बना रहा था, बोले—

"क्यों, क्या बात है गंगे! सदैव आनन्द की तरंगों से तरंगायित होने वाली आनन्दी के मन में यह विपण्णता की लहर कैसी? पाषाणी संघर्ष की कठोर पृष्ठ भूमि को फोड़कर, दुःखों की दुर्लभ घाटियों को रौंदने वाली तथा कष्टों के कंटकाकीर्ण मार्ग को अपनी जीविनी शक्ति से ध्वस्त करने वाली गंगा, आज यह क्या? बस दैव की दो धाराओं में बंटकर पिछल उठी?"

"जैसे धारा को अचानक अवकाश मिल गया हो, फफक पड़ी गंगा, पलकों की फटन से आँसुओं के कितने मोती बिखर पड़े—

"महर्षि मुझ पर कृपा कीजिये, मैं उधर न जा सकूंगी। आप ही देवव्रत को साथ ले जाइये और भगवान परशुराम की सेवा में प्रस्तुत कर दीजिये।"

"आखीर क्यों, किससे डर रही हो तुम?"

"मैं अपने आप से डर रही हूं, मैं निम्नपथगा नहीं होना चाहती। यदि उत्तर जाना कठिन है तो पूर्व दिशा से जाकर ब्रह्मा के चरणों से लगूंगी पर पश्चिम या दक्षिण दिशा की ओर क्या मैं जाऊंगी मैं?"

"आखीर क्यों ?"

"क्यों ? क्या मुझे उत्कर्ष नहीं चाहिये ?"

"उत्कर्ष को क्या हानि है इससे ?"

"भीष्मकर्मा व्यक्तियों से भय लगता है मुझे । प्रकृति का शस्य श्याम रूप मोहता है मुझे, पठारों की आग्नेय चट्टान नहीं। कामी कापुरुषों की कुत्सित कामनाओं को तृप्त नहीं कर सकती मैं, देवों की दिव्यता और ऋषियों की पुण्य साधना ही आह्लादित करती है मुझे। आप चाह रहे हैं अपने पुत्र को अपने ही हाथों शस्त्रों की आग्नेय विभीषका को सौंप दूँ ताकि एक दिन राजनीति के कुत्सित कृत्य, उसे अपना शिकार वनाकर, उसका सीना छलनी छलनी कर दें और वह दुदर्म्य वासनाओं की वाण शैया पर पड़ा पड़ा, सूर्य के आलोक को तरसता रहे । कामनाओं से कसमसाता उसका मन, अपने ही गढे मरु प्रपंचों में भटककर मृग तृष्णा सी चाह करुणा की एक एक बून्द के लिये अकुलाता रहे।

"हम उसे शस्त्र ज्ञान के लिये भेज रहें हैं शस्त्रों से उलझने के लिये नहीं ? किसी प्रकार की राजनीतिक होड़ के लिये भी नहीं ? ज्ञान लेकर शान्ति से रहेगा ?

"आप उसे शस्त्र ज्ञान देना चाहते हैं, शस्त्रों से शान्ति की उपलब्धि हुई है कभी ? शस्त्रों की होड़ ने सदैव युद्ध की विभीषिकाओं को जन्म दिया है महर्षि । कितने घर; दर, परिवार और स्त्रियों के सुहाग उजड़ जाते हैं, वच्चे अनाथ हो जाते हैं, सृष्टि का सौन्दर्य विकृत हो जाता है, विकास का आनन्द भवन पल भर में भस्म वन जाता है । सत्ता की प्रमत्तता उन्मुक्त विलास की जन्मदात्री है, कि कठोर संयमित जीवन की ? ऐश्वर्य के इंगित पर शोपण की आधारशिला खड़ी होती है या करुणामय उदार कामना की ? शक्ति और वैभव की महत्वाकांक्षा, स्वार्थ और वैर की पृष्ठ भूमि में रक्त की सरिताएँ वहाती हैं या त्याग सहयोग और वन्धुत्व की ? महर्षि ! शस्त्रों के निर्माण ने विज्ञान की विशिष्टता और परमात्मा की परमाणु शक्ति को कलंकित कर दिया है। कण कण में आनन्द का द्वार स्थगित कर सकने वाली आणविक क्षमता आज संहारमयी पाशविक अनाचारिता का गरल उंडेल रही है जिसके मद से चूर मानवीय प्रगति, ऊंची उड़ान वाली मानवीयता के पंख नोच नोच कर उसे, दानवता के निम्न धरातल पर पटकती जा रही है ।

परोपकार के जिस धर्म से, आप स्वयं दीक्षित हैं वह मेरे पुत्र को क्यों नहीं सिखलाते ? ज्ञान के जिस आलोक से आप स्वयं दीप्तिमान हैंउससे गांगेयको शोभित क्यों नहीं करते ? त्याग के जिस महिमामण्डित आदर्श से आप आनन्द की उपलब्धि कर रहे हैं उसी से इस देवव्रत में भी देवत्व का संचरण क्यों नहीं करते ? शैलपुत्री के ब्रह्मवादी पुत्र को ब्रह्मचर्य की उदात्त पृष्ठ भूमि पर ब्राह्मणी शक्ति के उच्चपद से विभूषित क्यों नहीं करते ।

लाज के अवरुद्ध बाँध को तोड़कर, भावनाओं का आग्नेय लावा जैसे नारी के हृदय रूपी सुप्त ज्वालामुखी से, फूट पड़ा हो, ऐसी वाणी के प्रवाह को देखकर ऋषि चकित रह गये। वह गंगा के महान चरित्र पर मुग्ध हो गये। वोले—

"गंगा ! धन्य है तू ! संसार की समस्त नारियाँ अपनी सन्तान को ऐश्वर्य विलास से विभूषित देखने के लिये लालायित रहती हैं और तुम त्याग-तपस्या के कठोर धरातल पर प्रतिष्ठापित करने की बात कह रही हो। धन्य है गंगा, धन्य है तू ! वास्तव में पावनता को भी पावन करने वाली है तू । यदि सारे संसार की माताएँ, तेरी ही तरह अपनी सन्तान को कर्म की उच्च भूमि पर त्याग, तपस्या, बलिदान शान्ति, सहयोग और बन्धुत्व का पाठ पढ़ाने लगें तो संसार की समस्याएँ स्वयं ही सुलझजाएँ न युद्ध हों, न संघर्ष न द्वेष हो न घृणा, प्यार ही प्यार हो। न शोषण न उत्पीड़न, आनन्द ही आनन्द हो सर्वत्र। अनाचार का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

पर मुझे बतला दे मेरी बेटी। क्या यह स्वप्न सम्भव है ? त्रिगुणात्मक सृष्टि में संघर्ष की ज्वाला से बचना असम्भव है। हम स्वयं को संयमित कर सकते हैं अन्य को नहीं, अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण सहज है दूसरे की वृत्तियों पर नहीं, हम स्वयं कष्ट का वरण कर सकते हैं दूसरे को विवश नहीं कर सकते। यदि ऐसा चाहेंगे तो संघर्ष प्रारम्भ हो ही जायेगा।

संघर्ष को रोका नहीं जा सकता गंगे ! संघर्ष निर्माण की पहली शपथ है। राम रावण का युद्ध आन्तरिक हृदय के समरांगण की पुकार है, सात्विक और तामसिक संघर्ष की गाथा है, ज्ञान के शस्त्र का प्रहार कर मोह दशमौलि को मिटा देने की साधना है। किन्तु जब तक निर्माण की रूपहली दुनिया मन तक सीमित रहती है बाहर किसी को कष्ट नहीं होता, पर निर्माण जब बाहर प्रकट होने लगता है तो एक का कमनीय सृजन दूसरे के कुत्सित सृजन को ठेस पहुंचाने लगता है और यहीं से ईर्ष्या द्वेष, दम्भ और जलन से संघर्ष की पृष्ठ भूमि तैयार हो जाती है। छलप्रपञ्च, पशुबल शस्त्र और हिंसा के दौर में कोरे उपदेश से काम नहीं चलता। शस्त्र के लिये शस्त्र की झंकार पैदा करनी पड़ती है। दुष्ट विनय से नहीं दमन से से आतंकित होते हैं। छल सुनीति से नहीं कूटनीति से कटता है। हिंसा करुणा से नहीं रक्त की आहुति लेकर शान्त होती है।

गंगे ! आर्य सदैव शान्ति चाहते हैं किन्तु शान्ति यज्ञ के पुनीत अनुष्ठान की पूर्ति के लिये खड्ग भी उठाना पड़ता है; विश्वामित्र को रामलक्ष्मण की आवश्यकता होती है। संस्कृति को बचाने के लिये शस्त्रों का लौह कवच धारण करना पड़ता है। आत्मरक्षा का प्रश्न सर्वोपरि है शैलपुत्री। आत्मा की रक्षा अमरत्व के ज्ञान से, मन की रक्षा सुवृत्त उदात्त कामना से, तन की रक्षा आहार, पुष्टिवर्द्धक तत्व, औषधि और मात्र परिश्रम से सम्भव है । व्यक्तित्व को संवारने के लिये चरित्र को संवारना अत्यावश्यक है चारु चरित्रे ! हर मनुष्य अपने चारों ओर एक संसार बनाता है और उसको बचाने का प्रयत्न करता है। संसार की रक्षा शक्ति से होती है। हर कोई अपरिमित शक्ति पा जाना चाहता है। सिद्धान्तों का अन्तर द्वन्द्व को जन्म देता है। सिद्धान्तों की पुष्टि शस्त्र से होती है। शक्ति और शास्त्र की प्रतिद्वन्द्विता में शस्त्र

उठाने पड़ते हैं। गांगेय किसी शक्ति से टकराकर शस्त्र के संघर्ष में पीछे न रह जाय उस योग्यता तक पहुँचा देने का संकल्प है मेरा। क्या तुम चाहती हो देवव्रत अपनी रक्षा स्वयं न कर सके ?"

"रक्षक तो ईश है महात्मन् ! एक दिन आपने ही कहा था। जिसे दिन काल समय की अवधी को लांघकर आ पहुंचता है शस्त्र उठे के उठे रह जाते हैं, तृण भर चल नहीं पाते। उड़ते हुये वाज की तरह मृत्यु आती है और एक झपट्टे के साथ ही अपने शिकार को लेकर उड़ जाती है। उस समय कौन साथ देता है ?···धर्म बुद्धि ज्ञान या विवेक ही न ? आप जानते हैं आत्म शक्ति व्यक्ति को मत्युञ्जयी वना देती है।

आत्मशक्ति सृजन की प्रेरक है विनाश की नहीं; शस्त्र विनाश की प्रेरणा देते हैं सृजन की नहीं।

शस्त्रों की झंकार, ऐश्वर्य की गूंज और वासना के उद्दीपन में, यदि किसी दिन, गांगेय की आत्मध्वनि गहरे डूवकर खो गई तो असंख्य लौह कवच भी आग्नेय वाणों से इसकी रक्षा न कर सकेंगे।"

"यहाँ देव को याद कर सकनी हो तुम ! काल से कौन वच सका है ? काल की क्या इच्छा है, वही जाने ? काल अदृश्य प्रहारक है उससे वचने की युक्ति ही नहीं ?"

"किन्तु महर्षि कुछ लोग क्या काल जयी नहीं होते ?"

"काल जय असम्भव है काल ही जीत लेता हैं सव कुछ, लोग नहीं, काल ही स्वयं जयी है गंगे। यश की सुरभि भी कितने दिन ठहरती है कोई न कोई कलंक तैयार रहता है। यदि किसी ने कोई प्रयत्न किया भी है तो केवल पुरुषार्थ की आधार शिला पर ही।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के सम्मुख जव राजर्षि विश्वामित्र अपनी विशाल वाहिनी लेकर खड़े हो गये तो उन्हें भी ब्रह्मदण्ड नम्भालना पड़ा सुरभि से सैनिकों की याचना करनी पड़ी। शस्त्र से शस्त्र को काटना पड़ा न ?"

"ऋषियों में तो भी, धर्म का उचित निर्वाह है ब्राह्मन् ? किन्तु मेरे पुत्र को शान्तनु की उस परम्परा में धकेला जा रहा है जहाँ मात्र वासना ही उद्दीप्त होकर भड़का करती है। लोगों में प्रपञ्च, छल, दम्भ, द्वेष, घृणा और छीना झपटी का वातावरण वना रहता है। मैंने वहुत निकट से देखा ऋषि श्रेष्ठ। वहुत निकट से··· मैं राजमहलों में रही हूं···आप···आप जंगलों में रहे हैं मैं अनुभव कर सकती हूं महर्षि राजनैतिक छलप्रपञ्च की दुनिया में पवित्र हृदय मेरे देवव्रत का आदर्श मन किस तरह कसमसाता रहेगा ? वहाँ ऋषियों की आर्ष परम्परा नहीं है; देव और असुरों की देशी-विदेशी-खिचडी-संस्कृति में मानवता भारत की आत्मा के रूप में छटपटा रही है।"

"किन्तु उसी संस्कृति से देवव्रत को पाया है तुमने ?"

"शुद्ध बुद्ध बना देने के लिये…।"

"पर उसी संस्कृति को लौटा देने का वायदा किया है शान्तनु से। देवी होकर भी प्रतिज्ञा से मुँह मोड़ लोगी क्या पुत्र मोह में ?"

उदासी छा गई गंगा के मुख मंडल पर। तर्क शिथिल हो गये, वाणी अटपटा गई, जीभ लड़खड़ाने लगी, कण्ठ भरभरा उठा और नयन सजल हो गये। अपने वचन का स्मरण कर फड़क पड़ी वह—

"हाँ, यहाँ मैं हार गई…हार गई महर्षि। मैंने यह पुत्र शान्तनु को सौंप देने का वचन दिया है……।"

"तो उस वातावरण में जीवित रहने के लिये, संघर्ष पहली आवश्यकता है क्योंकि वहाँ आज भी अदृश्य देवासुर संग्राम छिड़ा है। अपने उच्च चरित्र के बल पर, मातृ शक्ति की गौरव गाथा को अक्षुण्ण रखने वाला, शक्ति का शिशु गांगेय, किसी भी धरातल पर सम्मान पूर्वक जी सके, उसी के लिये उसके सर्वाङ्गीण विकास की कामना मैं कर रहा हूं। यहीं मैं, शस्त्र ज्ञान अपेक्षित समझता हूं…। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे पुत्र के साथ है, देखना इसकी अजेय शक्ति के सम्मुख केशव के संकल्प भी विचलित हो जायेंगे। इसके संकल्प के सम्मुख उनकी प्रतिज्ञा को विनत होते देखेगा संसार।"

"जैसी आपकी इच्छा, किन्तु मैं अब, उधर जाना नहीं चाहती। आप देवव्रत को भगवान परशुराम को सौंप आयें। एक वर्ष तक प्रतीक्षा करूँगी मैं यदि न लौटा तो सागर की उत्ताल तरंगों में अपनी नौका छोड़, ब्रह्म देश की ओर प्रयाण कर जाऊँगी।

"गंगा मुझे अपने पुत्र पराशर का ध्यान हो आया है इसीलिये चाहता था…।"

"मुझ पर कृपा कर दीजिये इतनी…मैंने आपको भैया भी कहा है और आपने मुझे बेटी…क्या इतना भी मान न रखेंगे बहिन बेटी का…आप पहिले अपना काम करके तब मेरा करना तो भी आपका आभार न भूल पाऊंगी मैं।"

महर्षि वस्तुतः मैं इस विद्या के पक्ष में नहीं हूं, आप हैं, आप ही करें इस कृत्य को। मेरी वृत्ति दूषित न हो मुझे यह आशीष दीजिये…मैं शान्तनु से पुनर्मिलन नहीं चाहती।"

"तो भी तुम्हारे मार्ग में हस्तिनापुर तो पड़ेगा ही ?"

"मैं बचकर निकल जाऊंगी, सरिता की बाढ़ और त्वरित प्रवाह सी दौड़ पड़ूंगी वहाँ से, चंचल जल की झलमल छवि में गंगा की आत्मा को पा जाना तुम्हारे जैसे कविगणों को ही सरल है शान्तनु से देह लोलुप भौतिक वादियों को नहीं…फिर मैंने पूर्ण शिक्षित करके लौटाने का वायदा किया है…गांगेय की शिक्षा अभी अधूरी है न…?

हँस पड़े दोनों। शक्ति गंगा की वाग्विदग्धता पर विस्मित थे। इतने में ही

देवव्रत लौटा बाहर से—उसने झपट कर शीघ्रता से ऋषि के चरण छुए और ज्योंहि माँ की ओर बढ़ा देखकर स्तब्ध रह गया, आँख में आँसू देख विह्वल हो गया—

"क्या बात है माँ तुम्हारे नयन अश्रु जल, क्यों ? क्या मेरे विछोह से दुःखी हो रही हो, यदि ऐसा है तो मैं न जाऊँगा ।"

उसने बेटे का मस्तष्क चूमा, खींचकर छाती से लगा लिया, फुसफुसाई—"बछड़ा बिछड़े गायन डकराय कैसे हो सकता है लाल······"पर ध्वनि को स्पष्ट न होने दिया उसने। उसने तुरन्त आँसू पौंछ दिये और संयमित होकर तन कर खड़ी हो गई—दृढ़ स्वर में बोली—

"नहीं,···तू जायेगा···तुझे जाना होगा देवव्रत ! मेरी आज्ञा है···मेरा वचन ···मेरे वचन की रक्षा करनी है तुझे ··मैंने शान्तनु को वचन दिया है···अपने वचन की वलि वेदी पर पुत्र को न्यौछावर करने को विवश हूं मैं···खेद है वसुओं का पथ न लगा सकी तुझे······मदालसा न बन सकी···अशक्त हो गई······जा बेटे ! तेरे प्रारब्ध का भोग शेष है······तेरे लिये देवत्व नही, अभी जा शक्ति से अनुप्रेरित हो शान्तनु की रीति नीति में संघर्ष कर जीवन चला······हाय ! कैसी विडम्बना है···।"

गंगा झपट कर लौट गई, पता नहीं किन अनजान पहाड़ियों की ढलान पर उद्वेलित प्रवाह सी दौड़ लगा रही थी···गुरु शिष्य अवाक् होकर देखते रहे और सघन वृक्षों की छाँह में दृष्टि की ओट होकर अदृश्य हो गई।

———

वशिष्ठ कुलभूषण शक्ति देवव्रत का साथ लेकर चल दिये । मार्ग में विभिन्न स्थानों व्यक्तियों से परिचय कराया उसे और एक निश्चित दूरी को पार कर पहिले अपने पूर्व आश्रम पर पहुँचे । आश्रमवासियों के साथ अन्य साधक भी ऋषि के आगमन से अत्यन्त प्रसन्न हुए । बात की बात में आने की खबर चारों तरफ फैल गई । जनपद के अनेक व्यक्ति, कोल, किरात, भिल्ल, सांसी वनवासी, भिन्न भिन्न ग्रामवासी, गूजर, जाट, रोड, यादव, अहीर, नट, सैनी न जाने कितने कबीलों के लोग, झुण्ड के झुण्ड ऋषि के दर्शनों को भेंट लेकर दौड़ पड़े । एक मेला सा लग गया आश्रम में । लगातार लोगों का आना जाना लगा रहा । भजन, कीर्तन, अर्चन, पूजा, आरती, कथा, प्रवचन, भाषण, शास्त्रार्थ चिन्तन, मनन, साधन और विविध यौगिक आसनों के प्रदर्शन भी चलते रहे ।

मल्लाहों की उजड़ी वस्तियों में भी समाचार पहुँचा और भय छोड़ वे भी अपने गुप्त स्थानों को छोड़ बाहर आने लगे । यकायक जंगल में मंगल देख देवव्रत आनन्दित हो उठा ।

एक दिन दोनों गुरु शिष्य कुटिया में बैठे परस्पर वार्त्ता कर रहे थे । अचानक चकित होकर इधर उधर देखने लगे । कोई गन्ध उनकी घ्राणेन्द्रिय को आकर्षित कर रही थी । सहसा अनेकानेक व्यक्ति एक ही दिशा में गन्ध की खोज में जाने लगे । ऋषि ने आश्रमवासी शिष्यों से रहस्य पूछा तो पता चला कि 'दाशपुत्री योजन गन्धा अपने पिता के साथ महर्षि के दर्शनार्थ आश्रम की ओर आ रही है जनता उसके कायाकल्प को देखने उधर ही उमड़ पड़ी है । कहते हैं शक्ति पुत्र पराशर ने अद्भुत परिवर्तन कर दिया है उसमें । रूप लावण्य ही नहीं विशेष गन्ध से उसका वदन योजन भर तक महकता रहता है ।" देवव्रत ने भी देखने की इच्छा की । उसके मन को ताड़ कर ऋषि ने कहा--

"देवव्रत ! उतावले न होओ, इधर ही आयेगी वह, उसके साथ ही मेरा पुत्र भी आए शायद । उसी की प्रतीक्षा तो मैं कर रहा हूं । पराशर का कृतित्व ही तो ज्योति बन जगमगा उठा है उसमें । यह सब एक ऋषि पुत्र की ही करामात है ।"

"आपके पुत्र की करामात है ?"

"हाँ, वह बहुत अच्छा वैज्ञानिक है गन्ध विज्ञान पर उसने बहुत सी नयी खोज की । गन्ध से रोग का उपचार ही नहीं करता, किसी भी स्वाभाविक गन्ध को दूसरी गन्ध में बदल देता है । रात दिवस वन कान्तारों में ही विचरता रहता है । भ्रमर की तरह विविध गन्धों पै मंडारता रहता है । वृन्त पत्ती, पुष्प, पराग, मधु, घास, तृण, मिट्टी अणु, परमाणु, जीवाणु कोषाणु. कीट पतङ्ग या पशु पक्षी और मानव को परखता फिरता रहता है ।

"क्या जीवित प्राणियों पर भी प्रयोग करते हैं ज्ञान-पिपासु-पराशर ?"

"हाँ प्राणियों के डीलडौल, आकार प्रकार, व्यक्तित्व और अंग प्रत्यङ्गों में भी यथायोग्य परिवर्तन करने की क्षमता है उसके विज्ञान में। इतना ही नहीं वातावरण की रूप रेखा ही बदल देता है पगला। जरा सी देर में कुहरा पैदा कर देता है जरा सी देर में आंधी वर्षा तूफान, और जरा सी देर में भारी अन्धेरा या चिलचिलाती धूप सा प्रकाश कर देता है। स्त्री पुरुषों में भी मनोनुकूल परिवर्तन कर देने का पागलपन सवार है उसमें।

"ऐसा……?"

"किन्तु मैं इसे दोष मानता हूं।"

"क्यों, ऐसा तो देवता भी करते हैं ?"

"किन्तु देव, देव को उपकरण नहीं बनाते, नियम है, जाति की, व्यवस्था है उसके ऊपर इस पर भी मैं उनके द्वारा मानव जाति को उपकरण बनाने की निन्दा करता हूं।"

"क्यों ?"

"क्योंकि, मनुष्य को मैं ईश्वर की श्रेष्ठतम कृति समझता हूं, देवताओं ने अपना भोग्य प्राप्त करने के लिये, सदैव, इस देह को प्रणाम किया है।"

"फिर मनुष्य देवता क्यों कहलाना चाहता है ?"

"देवता दान या द्युति (प्रकाश) से भूषित हैं अतः उनके ये गुण मानव को आकृष्ट करते हैं।"

"क्या मानव में गुणों का अभाव है।'

"अभाव होता, तो, उसी में से कैसे फूट पड़ते ये गुण ? क्या भरत खण्ड के दानशील राजाओं और तेजवान महर्षि की गाथा नहीं सुनाई थी मैंने ?"

"सुनाई थी किन्तु उन्हें देवता……।"

"दो गुणों के कारण उन्हें देवता कहने लगे। अन्यथा प्रस्फुटन तो हम में तुम में ही होना है सब ?"

"क्या इससे देवत्व की महत्ता सिद्ध नहीं होती ?"

"अगर किसी ब्राह्मण के हाथ में गोभी का फूल देख कर उसे गोभी वाला कहने लगे तो क्या वह मात्र गोभी वाला ही हो जायेगा, ब्राह्मण नहीं रहेगा। गोभी का ग्रहण तो एक अतिरिक्त क्रिया हुई न उससे ?"

"अतिरिक्त, मतलब वही तो बाहर की हुई न ?"

शक्ति हँस पड़े शिष्य की प्रगल्भता पर –

"तर्क शील बुद्धि का खूब विकास किया है तुमने ! अच्छी बात है यह, किन्तु तर्क से हानि भी होती है, जब वह विवाद और जटिलता में उलझता है अथवा उसे जब तर्कशील चम्मच से खीर खाने का अभ्यास नहीं छोड़ पाता…।"

"चम्मच से…?"

"पकी पकाई, जिसमें कोई श्रम न करना पड़े, आत्मनिर्भरता न बन पाये।"

"आपने कहा था मैं तो......।"

"आत्मचिन्तन का अभाव है अभी। बजाय इसके कि हर बात दूसरा समझाये कुछ स्वयं भी समझने का प्रयत्न करना चाहिये ?"

सहम गया किशोर

"कुछ त्रुटि हो गई गुरुदेव !......मैंने गोभी की बात की थी...?"

"गोभी एक स्थूल उदाहरण है। हम सूक्ष्म भावों की बात कर रहे थे वह तो मात्र समझाने के लिये थी।...गोभी कुछ सूक्ष्म पोषक तत्वों का केन्द्र है जो मानव में भी हैं। गोभी खा लेने के बाद उन तत्वों को हमारे शरीर में उद्दीप्त कर सकती है इसका मतलब यह नहीं वह सर्वथा बाहर की चीज़ है। जिस वातावरण में उसका उत्पादन हुआ है उसी में मानव भी जन्म लेता है। कहीं कोई तत्व अधिक इकट्ठे हो जाते हैं कहीं कोई। गोभी भी मिट्टी में पैदा होती है गुलाब भी। यदि किसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से गुलाब को गोभी जितना बड़ा उपजालें तो क्या वह गुलाब नहीं रहेगा ? उसे गोभी कहोगे या गोभी जितना बड़ा ?

दानशीलता और प्रखर तेजस्विता भावात्मक एवं गुणात्मक हैं जैसे दीर्घता या विशालता।

मानव की अतिशय श्रेष्ठता यह है कि वह गुणों का अक्षय भण्डार ही नहीं, आदर्श और यथार्थ का समन्वित अंश है। उसका श्रेष्ठत्व उसके आर्यत्व और उसकी सहजता, सत्यता, सारल्य, ज्ञान एवं ऋजुता उसके आर्यत्व में छिपी है। इसीलिये ऋषियों ने, "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्". का उद्घोष किया "कृण्वन्तो विश्वंदेवम्" का नहीं। क्यों...क्योंकि देवो के गुण उसे स्वीकार्य हैं अवगुण नहीं। गुणावगुण स्वयं उसी में प्रस्फुटित हो सकते हैं किन्तु उसे जो चाहिये वह उसे तलाशना होता है ?"

"किन्तु मानवों को उपकरण बनाने में आपको क्या आपत्ति ?"

"मानवों को ही नहीं, किसी भी जीवधारी को उपकरण बनाने में मुझे आपत्ति है। ऋषियों ने तो ऐसी वैज्ञानिक विद्या का विकास किया है कि सम्पूर्ण अन्वेक्षण, बिना किसी बाहरी उपकरण के, अपने शरीर में ही ध्यान की स्थिति में, किये थे क्योंकि जो अण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में भी है।"

"फिर भी उन्होंने रोगोपचार के लिये, वनौषधि के सेवन की बात कही ?"

"वह हुआ अपनाना, उन तत्वों के अभाव की पूर्ति जो हमारे शरीर में कम हो गये हैं। वैसे इसकी भी आवश्यकता न होगी। स्वयं में भी आरोग्यवर्द्धक तत्वों को विकसित किया जा सकता है। प्राणायाम की सिद्धि पर यह खेल अपने ही अन्दर खेला जा सकता है।"

"कैसे ?"

"योग विद्या से।...... मेरा पुत्र, विज्ञान की खोज के लिये, बाहर उपकरण

जुटाता हुआ, बाहर की ओर दौड़ा जा रहा है। एक दिन सीमा समाप्त होगी और सब कुछ उसके लिये ज्ञात और नीरस हो उठेगा। तब उसे एक दिन लौट कर अन्दर की ओर आना ही पड़ेगा, नहीं तो उसकी सन्तान को आत्मा के अन्वेषण का अनुसंधान करना होगा।"

"आध्यात्मिक दृष्टि से आपने समाधान प्रस्तुत किया किन्तु सामाजिक दृष्टि से कुछ और विचारना पड़े शायद ?"

"आर्यों की आध्यात्मिकता, और सामाजिकता कभी अलग नहीं होती। इहलोक को साधन बनाकर ही परलोक की सिद्धि की जाती है।

सृष्टा ने, सृष्टि में, भिन्न भिन्न रूपाकारों को जन्म दिया है। प्रत्येक रूप अपने निजत्व के साथ विकास को प्राप्त हो रहा है। इस विकास क्रम में परिवर्तन करने से समाज के सिन्धु में एक विचित्र उद्वेलन शुरू हो जायेगा, फल क्या होगा ? उसकी कल्पना भी कठिन है ?"

"असुन्दर को सुन्दर और अयोग्य को योग्य बना देना क्या कुछ बुरा है ?"

"सुन्दर और असुन्दर की पहिचान मन की रुचि पर निर्भर करती है। आप लोगों को गौर वर्ण प्रिय है किसी को काला। यदि किसी काल में अन्ध महाद्वीप के के हब्शियों की प्रभुता सिद्ध हो जाये और सत्ता पाकर वे अपने कुल के अनुरूप सबको हब्शियों का सौन्दर्य प्रदान करने लगें तो क्या स्वीकार कर लोगे ? प्याज लहसुन, मछली की गंध बहुतों को रुचिकर है क्या उनकी गंध प्रियता के अनुकूल सारे समाज को उसी गन्ध से भर देना चाहिये।

तन की गन्ध से मन की गन्ध अधिक श्रेयस्कर है। तन टकरा कर अगन पैदा करते हैं मन मिलकर मधु पर्व बन जाते हैं। तन की गन्ध यदि मन में दुर्गन्ध लेकर पलने लगे तो न तन रहेगा न मन और न तन मन का साक्षी यह संसार। इसीलिये कहता हूं वत्स ! मन को सुगन्ध से भरना चाहिये तन को नहीं……।"

वार्त्तालाप का क्रम टूट गया जब अचानक योजनगन्धा की वाणी की स्वर लहरी मधुर कूक सी थिरक पड़ी—

"तन की गंध आपके अंश ने दी है ऋषिवर ! मन की गंध के लिये आपको करबद्ध प्रणाम करती हूं……आशा है आशुतोष का वरदान अवश्य प्राप्त होगा…?"

उसके कण्ठ से अप्रत्यक्ष माधुरी में डूबी, रुनझुनाती, घंटी ध्वनि सी निकली। चंचल मत्स्य बालिका के विकसित अकल्पित रमणीय रूप को देखकर महर्षि की प्रतिभा विचलित हो गई अस्फुट वाणी में पूछा —

"आप……कौन ?"

"क्या तन की गंध मेरा परिचय नहीं पूज्यपाद !"

"किन्तु जब कोई निजत्व हारकर सम्मुख होता है तो पहिचानना कठिन हो हो जाता है न ?"

"क्षण भर को योजनगंधा लाज से लाल हो गई लोक भय से सकपकाने लगी वह। सोचा "क्या ऋषि को सब कुछ ज्ञात हो गया ? क्या पराशर ने असत्य कहा था··· क्या कौमार्य के चिह्न नष्ट हो चुके मुझमें···क्या कुछ और दिखाई पड़ने लगी मैं··· बचपन कहीं दूर छूट गया क्या···?" घबरा कर भी साहस से काम लिया उसने, यथाशक्ति उत्तर की प्रक्रिया पूर्ण करते हुये टटोला—

"तन कभी अपना नहीं होता महामनस्वी ! वह माता पिता का संचित प्रयत्न है और अदृश्य विराट उसमें सौन्दर्य के रंग भर रहा है। काल उसे गति प्रदान करता है और बाधाओं को पीछे छोड़ आगे बढ रहा है। मन अकेला छटपटाता रहता है और सदैव किसी अजानी गन्ध के लिये अकुलाता रहता है। यदि कोई अपरिचित मन को गन्ध न देकर तन को दे बैठे तो क्या करें ?······मन हो या तन, बिना हारे तो कुछ प्राप्त नहीं होता न ?"

अटपटा रही थी। घबराहट में उसे ध्यान ही नहीं था, क्या बोल रही है ? मुनि के दूसरे शब्दों से आश्वस्त हो कर चुप हुई—

"बेटी ! तुम्हें देखकर मुझे ऐसा लगा, जैसे तुम नहीं अद्रिका का कैशोर्य लौटकर आ खड़ा हुआ हो, जरा सोच, तो शैशव है कहीं तेरे साथ अचानक पीछे आकर युवावस्था ने आँख मिचौनी खेलना शुरू कर दिया है न ? बचपन गया तो बचपन की अठखेलियाँ भी उड़ गईं। वाणी की तुतलाहट कहाँ गई ? कीचड़ और मिट्टी से सनी, नाक का मल रपटाती, सूँ सूँ करती, फुदकती मैना सी कूदती फांदती मत्स्य गन्धा रह गई है क्या तू ? कैसे पहिचान लेता मैं उस काली कलुटिया, नटखटिया अपनी गुडिया को ?

अपने स्वभाव के अनुकूल देवव्रत फिर बीच में टपक पड़ा।

"हाँ मैं भी भ्रमित हो गया था गुरुदेव ! सोचा, गंगा यहाँ इस वेश में कहाँ ?"

उपस्थित समुदाय खिलखिला पड़ा। हँसी के खल खल प्रवाह को अवरुद्ध किया ऋषि की उत्सुक वाणी ने—

"पराशर नहीं आया ?"

उत्तर दिया, साथ आये दाशराज ने—

"मेरे लौट आने पर, मत्स्य गन्धा को मुझे सौंप, वह बद्रीवन चले गये। द्वीप पर कोई शिशु प्राप्त हुआ था उन्हें···निष्ठुर कोई अप्सरा छोड़ गई होगी···उन्होंने उसे पितृवत स्नेह दिया और मत्स्यगन्धा ने मातृवत······अचानक उसे बहुत प्यार करने लगे···इतना कि कोई अपनी सगी सन्तान से भी नहीं करता···कृष्ण वर्ण का है पर है बहुत तेजस्वी, कमनीय भी पत्थर की तराशी तस्वीर सा, आर्य और द्रविडों का अद्‌भुत समन्वय है उसमें ··रंग हमारा और रूप तुम्हारा···आर्यों का···। मन करता है हृदय से लगा लें, पूजें उसे आदर्श बना कर···एक अलौकिक वंशी ध्वनि सी मस्तिष्क में गूंजने लगती है···हाँ उसके वर्ण के कारण पराशर ने उसे कृष्ण ही पुकारना शुरू

कर दिया। इतना चाहते हैं ऋषि पुत्र उसे कि देखकर यूं लगता है जैसे प्यार ही पूजा बन गया हो।···चलते हुये बहुत रोका मैंने उन्हें किन्तु नहीं माने, बोले—

"यह बालक मुझे भगवती की कृपा और प्रकृति की महामाया के निसर्ग सिद्ध सौन्दर्य से इठलाता हुआ उपलब्ध हुआ······मैं प्रसाद समझता हूं भगवती का··· वरदान समझता हूं महामाया का। मैं इसे दुनिया का योग्यतम व्यक्ति बनाऊंगा···यह ब्राह्मणों से सम्पूज्य होगा। मैं न इसके रूप को छोड़ूंगा, न रंग को और न ही गंध में परिवर्तन करूंगा···मैं इसका मन संवारूंगा। तन की गंध तेरी बेटी को दे दी···मन की गंध इसको संघ इसको दूंगा और एक दिन निश्चय ही यह आत्मा की गंध पा जायेगा।"

देवव्रत बड़े मनोयोग से आगन्तुक की बात विचार रहा था। मुनि ने खुशी से झूमकर टोका—

"गांगेय! देखा, लौटने लगा मेरा पुत्र अपनी आत्मा की ओर?"

इससे पहिले कि गांगेय फिर कोई प्रश्न कर बैठे ऋषि ने निषाद की ओर मुंह घुमा लिया और पूछा—

"हम भी एक बटुक के चक्कर में पड़े हैं. देखें यह क्या बनता है······"

"ठहाका लगाया शक्ति के संकेत पर सबने और देवव्रत बालक की तरह शरमा गया। शक्ति ने दाश से पूछा···

"अच्छा तुम अपनी कहो दाश! क्या गुजरी, कहाँ रहे अब तक, कैसी बीती?"

दाश तो मानो अपनी ही सुनाने आया था;—उसने स्मृति की नौका वाणी के तीव्र प्रवाह में छोड़, बोलना शुरू कर दिया—

"मत्स्य के आदमी मेरे पैरों के निशान पहिचानते हुये, अपने घोड़ों पर, मेरा पीछा कर रहे थे। जहाँ मौका मिलता मैं उन्हें झांसा देने के लिये छिप जाता। पानी में डुबकियाँ लगाता, पेड़ों पर चढ़ जाता, झाडियों में घुस जाता, अन्धे कुओं में कूद कर जान बचाता और फिर निकल कर आगे बढ़ जाता। इसी तरह छिपता बढ़ता चलता कुछ समय के लिये कछार की भूमि में समा गया मैं।

पर चूहे बिल्ली का खेल कब तक चलता। मुझे एकान्त टीले पर एक झोंपड़ी नजर आई। मैं बुरी तरह थका था, पोर पोर टूट रहा था प्यास से कंठ सूख रहा था। मैंने मुनि की कुटिया में शरण लेने का संकल्प किया, कुटिया के बाहर समाधिस्थ सन्न से पूछे बिना ही अन्दर घुस कर छिप गया।

मत्स्य, अपने सैनिकों का अगुआ, स्वयं था, सम्भवतः उसने मुझे उधर जाते देख लिया था और वह घोड़े को ऐड लगा कर दौड़ पड़ा।

हमें, अनार्य कहकर पुकारने वाले, क्रोधावेश में कितने नीच और अन्धे हो जाते हैं? उस दिन पता चला, अभिवादन प्रणाम तो दूर, उसने, अपशब्दों का प्रयोग करते हुये, निरी असभ्यता का प्रदर्शन किया मुनि के सम्मुख—

"अरे ढोंगी ! तुझे इतनी भी सभ्यता नहीं कि उठकर राजपुत्रों का सम्मान करे, जल का अर्घ्य देकर अतिथि सत्कार करे, उल्टा आँख मूंद कर पाखंडी बन बैठा, बोल हमारे चोर को कहाँ छुपाया है"

मुझे क्रोध तो बहुत आया कि किन्तु मृत्यु मेरे सामने, अपना जबड़ा खोले खड़ी थी मैंने खिसक जाने में ही भलाई समझी, पीछे की ओट तोड़ कर, बाधाओं को फाँदता हुआ, भाग निकला और एक स्थान पर झाड़ियों से घिरे गहरे गड्ढे में छिपने की जगह पाकर, शुतुर्मुर्ग की तरह दुबक, अपने ऊपर रेत डाल लिया । सौभाग्य से एक गऊओं का झुण्ड कहीं से चरता हुआ आ गया था जिसने मेरे पैरों के निशानों को नष्ट कर दिया ।

मत्स्य अन्दर घुसा होगा । फटी दीवार देखकर, शिकार निकल जाने पर हाथ के तोते उड गये होंगे बच्चे के । खिसिया कर हाथ मलने लगा होगा ? क्रोध का आना स्वभाविक था । क्रोध में बुद्धि का भृष्ट होना भी स्वाभाविक ही है । ग्वालों को देखकर, उसे मेरे बेश बदले हुये रूप की कल्पना की और अपने सैनिकों को दौड़ा दिया । पीछे आती घुड़ दौड़ को देख, बेचारी गैया बेतहाशा भाग चली और ग्वाले भी उनके रोकने के प्रयत्न में तेजी से लपक कर उनके पीछे दौड़े । घुड़सवार भी पीछे लगे । ग्वाल बाल गौएँ तो अपनी कछारी भूमि से परिचित थे किन्तु ऊंचे नीचे रेतीले टीले, अपरिचित गहरे गड्ढे बड़ी बड़ी कटीली झाड़ियों से भरा दलदली रास्ता उनके लिये मौत का निमंत्रण था कोई यहाँ गिरा कोई वहाँ गिरा, कीकरों में उलझ गया कोई, कोई दलदल में धंसा, कोई घोड़े समेत गहरे गह्वर में पड़ा और बचे खुचे गाँव वालों से पिटे ।"

शक्ति के साथ बैठे सभी ठहाका लगाकर हँस पड़े । आदत से मजबूर देवव्रत फिर टपका—

"गांव वालों ने क्यूँ पीटा सैनिकों को—?"—बात में विघ्न पड़ता देख रसमग्न मल्लाह ने प्यार से घूरा उसे और बोला—

"बटुक ! भारतवर्ष से बाहर के हो क्या ? यह ऋषियों की पवित्र भूमि है जो गऊओं को तंग करता है उसकी ऐसे ही मंजाई होती है यहाँ···लगता है अभी पाला नहीं पड़ा किसी से···।" ठहाका फिर गूंज उठा—। अप्रत्याशित वार से घबरा गये देवव्रत शक्ति की ओर देखा कुछ प्रतिक्रिया न पा स्वयं बोला—

"अच्छा, अच्छा आगे बोलो···हमें आँखे न दिखाओ···हमसे आँखे चार करने वाले को, आठ आठ आँसू रोना पड़ता है···। व्यंग्य से मुस्कराया देवव्रत—

अट्टहास फिर गूंज उठा, दाशराज ने खिसिया कर युक्ति से बात आगे बढ़ा दी—

"गाँव वालों की लाठियों से पिट कर उल्टे दौड़े शस्त्रधर सैनिक ! और दूसरों को आठ आठ आँसू रुलाने वाले खुद सोलह सोलह आँसू बहाने लगे ।"

उसने आँख झपकी देवव्रत की ओर । व्यंग्य से तिलमिला गया वह । सब उसकी अकुलाहट देखी और ठहाका लगा दिया । बहुत खिसियाया देख शक्ति ने निर्देश किया—

"स्वयं व्यंग्य कसने वाले, व्यंग्य से यूं घबराते हैं क्या ? चोट करने वालेने को प्रहार सहने की क्षमता भी उत्पन्न करनी चाहिये अपने अन्दर । हंसी की बातें हंसी में उड़ा देनी चाहिये । व्यंग्य-विनोद तो बातों की चटनी है । थोड़ा विनोदी भी बनो देवव्रत ! अन्यथा नीरस दार्शनिक या कठोर शस्त्रधर बनकर रह जाओगे !··· सामान्यतः कही गई बात भी क्यों तुम स्वयं से जोड़ लेते हो ?···आगे कहो दाशराज ! क्या हुआ पिटे हुये सैनिकों का—

"बुरा हाल हुआ महर्षि ! बड़ा बुरा हाल हुआ बेचारों का । वापिस पहुँचे तो मूर्ख नायक ने उनकी दुर्गति की । गुस्से से लाल पीले, मत्स्य ने, उनकी खबर ली···।

"क्या राजपुत्र होकर उसे इतना भी सामान्य ज्ञान न था कि अधिकृत सेवकों को, प्रसन्न रखकर ही, अधिकारी के अभियान पूर्ण होते हैं ।"

"तभी तो मूर्ख कह रहा हूं, उस नायक को मैं···।"

"देवव्रत, देख लो दाश को ! कितना दक्ष है यह अदीक्षित होकर भी—?"

गुरु द्वारा दाश की प्रशंसा से विचलित हो गया था शायद देवव्रत । वाणी को नम्र बनाकर, मिश्री में घुली निबोली सा, मधुर व्यंग्य भरा, स्वर निकाला उसने—

"दाशराज ! और क्या मूर्खता की राजपुत्र ने ?"

"बहुत बड़ी मूर्खता की कुमार देवव्रत ''' तुरन्त बोला मल्लाह—

"उसने, गुस्से से तमतमा कर हक् किया न धक्, निर्दोष ऋषि की मुश्क बांध ली और खींच कर अपने पड़ाव की ओर चल पड़ा ।

मैं बहुत चिन्तित था और लज्जित भी । निरपराध ऋषि को, मेरे कारण, यंत्रणा भोगनी पड़ रही थी । मेरा खून उबलता था, पर महर्षि के आदेश और मत्स्यगन्धा का ध्यान रख, मैं खून की घूंट पीकर रह गया । मेरी कष्ट पूर्ण स्थिति को देखकर, गाँव के लोगों ने सहानुभूति प्रदर्शित की और सूचना दी कि—पास के परशी गाँव में आजकल परम पराक्रमी महर्षि परशुराम आये हुये हैं । आज तक उनके क्षेत्र में, उनकी अनुपस्थिति में भी किसी को दुष्टता करने का साहस न हुआ था किन्तु लगता है आज मत्स्य की मौत उसे यहाँ खींच लाई है । वे मुझे आगे कर परशु कुटिया की ओर चल दिये । भगवान शंकर के मन्दिर के विशाल प्रकोष्ठ में अतुल-तेजस्वी भगवान परशुराम अपना आसन जमाये बैठे थे । उनके दर्शन मात्र से ही मैं अभय हो गया । दण्ड के समान धरती पर गिरकर त्राहिमाम्-पाहिमाम्, रक्षमाम् पुकार उठा । सम्पूर्ण ग्राम वासी भी अपनी पूरी श्रद्धा से नतमस्तक थे । भगवान ने स्थिति को समझा उनकी आँखें लाल हो गईं । ब्राह्मण की मुश्क बाँधे जाने का समाचार सुनकर उनकी भृकुटियाँ तन गईं । क्रोधावेश में उनका गौराङ्ग शरीर अग्नि की भाँति प्रदीप्त हो उठा । उन्होंने अनुचरों को आदेश दिया—

"तुरन्त उस नराधम को बाँधकर, हमारे सम्मुख लाओ।"

व्रात्य वनवासी, कोल किरात, नाग, किन्नर और अघोरियों की पूरी सैना उनके आदेश का पालन करने के लिये दौड़ पड़ी।" मैं भी पूरे जोश अपना वदला चुकाने के लिये, उनके साथ ही दौड़ पड़ा। किन्तु खेद उस दुष्ट ने धर्माधिकारी के न्याय को पक्ष में लेकर विना सोचे समझे ऋषि शूली पर टंगवा दिया था। भगवान परशुराम की वाहिनी को पहिचान कर उन्होंने अपने थोड़े से सिपाहियों के साथ मुकाविला करना ठीक न समझा। वे नगरों की ओर भाग गये। पर न्यायकर्त्ता धर्मदेव पकड़े गये और हम उन्हें पकड़ कर परशुराम के सम्मुख ले आये। गरज उठे उसे देखकर परशुराम "ब्राह्मण मेरे लिये तुम अवध्य हो किन्तु नीच नराधमों की चाकरी और चापलूसी करते हुये तुम शूद्रता को प्राप्त हो गये हो। आज से तुम न्यायकर्त्ता का कार्य न करोगे, यह मेरा आदेश है। तुम्हें अपने पाप का प्रायश्चित करना होगा। नारकीय कीट! मेरा मन कहता है कि तूने केवल पक्षपात पूर्ण निर्णय ही न किया, वरन, व्यक्तिगत द्वेष के कारण उसे शूली पर लटकाया है। अवश्य ही अपने शैशव काल में ऋषि से तुझे कोई कष्ट पहुंचा होगा जिसका वदला, तूने प्रभुता पाकर, उसकी निर्धनता की स्थिति में लिया है। दुष्ट! क्या तू त्यागी माण्डव्य को पहिचान न सका था? मैं तुझे क्षमा न कर सकूँगा। आज से तुझे सपरिवार शूद्र बनकर शान्तनु की पाशविक यंत्रणाओं को भुगतना होगा। तू पक्षपात पूर्ण निर्णय देकर अधर्म कर चुका है। जा तूही जा और मेरा सन्देश शान्तनु को दे कि आकर मुझसे मिले। मैं मत्स्य जैसे दुष्ट व्यक्ति का परिचय कराऊंगा उसे। मुझे आशा है कि यदि वह धर्मज्ञ हैं तो मेरी वात पर विचार करेंगे।—धर्मदेव उस आदेश को मानकर शान्तनु के पास प्रयाण कर गये।"

इससे पहिले कि मल्लाह आगे की कहानी कहता महर्षि शक्ति ने अत्यन्त उतावलेपन में पूछा--

"दाशराज! क्या यह भी बता सकोगे कि पूज्यपाद परशुराम अब भी परशुपुरी में ही है या जा चुके?"

"हाँ महर्षि जब मैं इधर आ रहा था तो मार्ग में कुछ व्यक्ति मिले थे जो उनके दर्शन करके लौट रहे थे।"

"मेरा एक काम कर दो निषादराज! कोई बाधा तो नहीं?"

"आज्ञा करें प्रभु! प्राण चाहिये क्या? मैं सहर्ष प्रस्तुत हूं।"

"धन्य हो दाश। तुम्हें अनार्य कहने वाला, स्वयं ही अनार्य होगा? ईश्वर ने चाहा तो निश्चय ही आर्यों में प्रतिष्ठा पाओगे तुम?"

रोमांचित हो उठा निषाद और हाथ जोड़ झुक गया मनस्वी मुनि के सामने। उन्होंने आज्ञा की —

"दाश यह किशोर देवव्रत, गंगापुत्र गांगेय है। मेरा शिष्य और शान्तनु का वैध पुत्र है। इसे लेकर तुम्हें भगवान परशुराम की सेवा में जाना है। विनती करना

मेरी ओर से, कि वह इसे शस्त्र-निपुण करें इसके ब्राह्मणोचित आचरण है और ब्रह्मबुद्ध बालक है यह । मैं—समझता हूं इसके द्वारा कभी ब्राह्मणों का अहित नहीं हो सकता । इसकी वृत्ति त्याग मयी है और हर प्रकार की तृष्णा से दूर है ?"

निषाद की बाँछें खिल गई ! वह फूला न समाया । उसने दौड़कर, देवव्रत को गोद में ले कन्धों से ऊपर उठा लिया और अत्यन्त उत्सुकता में खुशी से चिल्लाया--

"क्या यह गंगा का पुत्र है ?"

"हाँ देवी गंगा का । भगवान परशुराम से कहना कि यह दैवीय अंश है इस पर अवश्य ही कृपा करें ।"

मल्लाह ने तुरन्त परशुपुरी की तैयारी की, एक क्षण मत्स्य गन्धा की ओर मुड़कर देखा--

"मत्स्यगंधा, मैं परशुपुरी जा रहा हूं । जब तक मैं लौटूँ यहीं रहना तू···ऋषि की सेवा में···यदि चाहे तो अपने कृष्ण द्वीप पर लौट जाना । कोई निषाद छोड़ आयेगा नौका में ।······अब तो पराशर ने तुझे वहाँ की स्वामिनी घोषित कर दिया है न ?"

मत्स्यगन्धा ने देवव्रत की ओर निहारा, पुत्र की ममता उसके हृदय का ज्वार बनकर उबल पड़ी । वियुक्त पुत्र की स्मृति घनी भूत होकर पीड़ा के रूप में उभरने लगी और आँख के आँसुओं में शैशव की छवियाँ उभरने लगी । एक शीतल निश्वास अदृश्य प्राण के बन्धन खोल निकल पड़ा जैसे कह रहा हो, "लज्जा यदि तू न होती तो आज महर्षि को कृष्ण का परिचय देने में इतना संकोच क्यूँ होता ?" अपनी उद्दीप्त भावनाओं को अन्दर ही समेट लिया उसने और मन ही मन कसमसा कर रह गई ।

भोजन का समय हो गया । घंटी बजने लगी । सब शाला की ओर जा रहे थे ।

जिस दिन, देवव्रत के साथ दाशराज परशुपुरी पहुंचा वहाँ कोई बड़ा उत्सव मनाया गया था, कोई अनुष्ठान किया गया था, भंडारा भी था। भूखों को भोजन और याचकों को धन देकर सन्तुष्ट किया गया था। परशुराम स्वयं ब्राह्मणों को दान से सन्तुष्ट कर रहे थे।

इनके वहाँ पहुँचने से पूर्व एक ब्राह्मण युवक उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। अखण्ड तेज से दीप्तिमान, सूर्य जैसे करुणा से विगलित हो गया हो, भगवान परशुधर ने, इधर उधर देखा और प्रणाम करते युवक से कहा—

"द्विज श्रेष्ठ ! मैं तो सर्वस्व लुटा चुका शेष कुछ न रहा, तुम्हें क्या दूं।"

युवक तब भी विनत होकर बोला—

"आपका आशीर्वाद चाहिये प्रभु ! मेरे लिये वही परम धन सिद्ध होगा ?"

"धन्यास्तु ! बोलो मैं तुम्हारा क्या उपकार करूं ?"

"करुणा सिन्धु ! महर्षि भारद्वाज के कुल में उत्पन्न ब्राह्मण हूं मैं। पूज्यपिता से वेदवेदाङ्गों की शिक्षा मुझे प्राप्त हुई है तो भी अकिंचनता ने मेरे मन की शान्ति को भंग कर दिया है मैं स्वयं को संयमित कर सकता हूं किन्तु पत्नी कृपी और अश्वत्थामा को भूख से बिलबिलाता देखना सीमा से बाहर हो चुका है।"

"तो क्या पुरुवंशी मुद्गल के कुल में, गौतम पत्नी-अहिल्या सुत, मिथिलाधिपति जनक के कुल पुरोहित, शतानन्द के, वंश में उत्पन्न कृपाचार्य, तुम्हारे साले हैं ?"

"हाँ प्रभु कृपाचार्य की भगिनी ही पत्नी है मेरी ?"

"किन्तु कृपाचार्य तो कुरुवंशी शान्तनु के सम्मानित पाल्य सामन्त हैं ?"

"तो वह क्या कर सकते हैं ?"

"हाँ जो स्वयं ही दूसरे से टुकड़े की आशा करता है वह तुम्हें क्या देगा ?"

"ऐसी बात नहीं दीनबन्धु ! मैं उनसे याचना नहीं कर सकता। उन्होंने मुझे कन्या-रत्न दिया कृपी ने पुत्र-रत्न दिया। इससे बड़ा और क्या उपकार होगा कन्यादान करने वाले का ? इससे आगे कन्यापक्ष से, कुछ अपेक्षा रखना याचकत्व से भी अधिक कमीनापन कहा जायेगा। जिसने अपनी बेटी दे दी उसने क्या नहीं दे दिया। इससे आगे तो जो नहीं हो सका वह मेरे भाग्य की कमी है।"

"भाग्य की नहीं, पुरुषार्थ की। स्वयं को भाग्य के भरोसे मत छोड़ो युवक ! पुरुषार्थी बनो। भाग्य का सूरज तो सदैव चमकता रहता है पुरुषार्थ हीन उससे स्वयं पीठ फेरकर दुर्भाग्य की कल्पना कर अवसर से हाथ धो बैठता है।"

"पुरुषार्थ तो प्रभु ! बहुत किया था विद्याध्ययन में ?"

"तो सफलता भी मिली होगी उस क्षेत्र में ? जो जिस क्षेत्र में श्रम करता है

उसे सिद्धि भी अवश्य मिलती है। तुम्हारा अध्ययन आध्यात्मिकता की साधना के लिये था और उलझ गये थे लौकिक प्रपंचों में। नारी को भोग्या समझ सन्तति विस्तार प्रारम्भ कर दिया जबकि कौडी भी अर्जित करने की क्षमता नहीं बनाई तुमने ?"

"महाराज ! मुद्गल-सुत-दिवोदास-कुलोत्पन्न-द्रुपद, महान ऐश्वर्यशाली और मेरा बाल्यावस्था का सहपाठी है।"

"...तो क्या हुआ ? राजा का सहपाठी होने से. कोई राजा हो जाता है क्या ?"

"उसने मुझे वचन दिया था कि स्वयं राजसिंहासन पर बैठने के बाद, मुझे आधे राज्य का अधिकारी बनाकर अपनी मित्रता को अधिक प्रगाढ़ करेगा ?"

"युवक ! राजनीति से तो शून्य हो ही, व्यवहार से भी शून्य लगते हो मुझे ? यूँही दूसरों पर विश्वास करते गये तो एक दिन प्राणों से भी हाथ धो बैठोगे।...राज्य माँगने पर नहीं मिला करते, शक्ति से प्राप्त किये जाते हैं। समृद्धि और प्रभुता जितनी बढ़ती है लोभ और महत्वकांक्षा उतनी ही प्रबल होकर भडकती है। राजा देंगे नहीं, तुम्हारा सर्वस्व अपहरण कर लेंगे, अपना धर्म भी खो बैठोगे तुम ! राजनीति में धर्मराज का भी यकीन न करना। तथाकथित धर्मात्मा राजा भी अपनी झोली से कुछ नहीं देता। प्रजा को जो कुछ देते हैं उसी से खींचकर देते हैं। राजा का कौशल सूर्य की तरह है; किरणों से जल चुराता हुआ दिखलाई नहीं पड़ता, बरसाता हुआ सबको दीखता है।

ब्राह्मण ! देने की क्षमता पैदा करो, लेने की नहीं दर दर पर नाक न रगडनी पड़ेगी अनेक द्रुपद तुम्हारे चरणों पर आकर नाक रगड़ेंगे। सामर्थ्य पैदा करो; समर्थ को दोष का पातक नहीं लगता शक्तिवान को कलंक का ग्रहण नहीं सताता, सब कुछ सुयश और कीर्ति का गायन हो जाता है। इतिहास विजयी का प्रशंसक होता है पराजित का नहीं।

राजाओं के आगे घुटने न टेको द्विज श्रेष्ठ ! राजा बनाने और मिटाने की शक्ति प्राप्त करो। पुरुषार्थ की अग्नि से क्रान्ति की ज्वाला जलाओ।"

"इसके लिये तो बड़ा प्रपञ्च जोड़ना पड़ेगा ?"

"प्रपञ्च तो उसी दिन शुरू हो गया था बन्धु ! जिस दिन कृपा से विवाह रचने चले थे। नारी स्वयं में माया का सबसे बड़ा प्रतिनिधि है; न जाने कितने युद्धों की जननी रही है यह। महामाया का प्रपञ्च ही यह संसार भी है जो इसे नमस्कार कर लेता है बच जाता है; जो भोगने की चेष्टा करता है, महामाया के जाल में फँस जाता है; फिर तो जितना सुलझना चाहता है, उतना उलझता चला जाता है।

"क्या पितृ ऋण से उऋण होने के लिये सन्तान......?"

"यह दूसरा प्रपञ्च है मानव ! नारी तो सहगामिनी होकर समान स्तर पर गाड़ी चला भी लेती है किन्तु सन्तान के लिये पापड़ बेलना अनिवार्य हो जाता है।"

"क्या सन्तान पिता की अनुगामिनी नहीं हो सकती ?"

"हो सकती है किन्तु माँ के अनुगमन पर। महामाया गर्भ में ही हजारों सपनों का जाल बुनकर तैयार रखती है। दूध की धार में मोह की मदिरा घुलती रहती है और रूप का आकर्षण कुछ भी सोचने की शक्ति छीन लेता है; फिर तो प्याज के छिलकों की तरह प्रपञ्च का जन्म होने लगता है। मातृ शक्ति को प्रणाम है द्रोण। महामाया कृपा करे तो मानव का अस्तित्व है, माँ न चाहे तो सब कुछ स्वाहा। पहिला गुरु है वह, उसकी कोख, पहिली पाठशाला है पुरुष की। वह जैसा चाहती है बनाती है हमें······।"

"भगवन! आप तो पिता के······!"

तर्क के प्रवाह में ब्राह्मण युवक भूल गया कि क्या कहना चाहिये और क्या नहीं! सावधान होगया बीच में ही जीभ काट कर। भृगुकुल भूषण भगवान परशुराम, भास्कर से उद्दीप्त हो उठे। तपते हुये लाल लोहे सा तमतमा उठा उनका वदन, तो भी ब्राह्मण पुत्र को सम्मुख पा किसी प्रकार संयत किया स्वयं को और टूटते स्वरों में बोले—

"हाँ मुझे पितृ भक्त मातृ हन्ता की उपाधि से अलंकृत किया जाता है···। ब्राह्मण! तुमने मेरे सबसे कोमल मर्म पर आघात किया है······और यह तुम ब्राह्मण लोग ही, कर सकते हो······जिनके लिये मैंने अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया··· ठीक ही कहते होगे तुम···अधिकार है तुम्हें···पुकार पुकार कर कहो, यदि इससे तुम्हारा कुछ भला हो सकता हो···मैं तैयार हूं···मैं अपनी कीर्ति को तुम्हारी हितसाधिका बनाऊँगा···किन्तु हटूँगा नहीं अपने संकल्प से···किन्तु इतना सुन लो, समझ लो, जान लो···माँ में मेरी कितनी श्रद्धा है, कितना प्यार है मुझे उनसे···मैं अपनी जिह्वा से······अपने मुँह से स्वयं कैसे कह सकूंगा,···मैं···कहना भी चाहूं तो सिद्ध कैसे करूँगा भला? सिद्ध भी करना चाहूं तो प्रबल प्रत्यक्ष के सामने कौन विश्वास करेगा मुझ पर?···छोड़ो इसे···इसे तो मानोगे···जिस पिता का अनुगामी कह रहे हो मुझे, वह एक ऐसी क्षत्राणी का पुत्र था जिसके मन में अपने समाज के प्रति भयंकर आक्रोश पल रहा था। पिता ने मुझे जो कुछ कराया वह चन्द्रवंश की देन थी। मैं स्वयं भी राजर्षि रेणु की कन्या का पुत्र हूं जो मेरे पिता जमदग्नि के क्रोध से प्रताडित होकर अन्दर ही अन्दर कसमसाती रहती थी और आज मैं जो कुछ हूं उसकी अन्तिम छटपटाहट का ही प्रतिफल हूं···कार्त्तवीर्य के बेटे ने जब मेरे समाधिस्थ पिता का सिर का काट लिया तो प्रति हिंसा से छटपटाती उस अग्नि की प्रतिमूर्ति ने अपने पति के हत्यारों को नेस्तनाबूद करने का वचन मुझ से लिया······उसने बदले की ऐसी आग भर दी है मुझ में······ वह अग्नि आज तक शान्त नहीं हो सकती है······और उसी आग में एक छटपटाहट और जुड़ गई है मेरे अन्तर्तल पर सुगलती हुई अग्नि की ज्वाला मेरी आत्मा की पीड़ा ···ब्राह्मणत्व के लिये छटपटाती कसक···मैं शान्ति पूर्वक जीना चाहता हूं···ब्राह्मणत्व की साधना करना चाहता हूं···और इसी साधना की बाधा ऐश्वर्य दी राशि को लुटा देता

हूं संचय नहीं करता···सब कुछ तुम लोगों को समर्पित कर देता हूं भूदेव !···शायद इसीलिये कि तुम समय समय पर मुझे प्रताडित कर सको······तुम्हें क्षमता है ब्राह्मणों ······तुम्हें क्षमता है······तुम सत्य कहते हो······धन्य हो तुम···।"

जैसे कठोर पर्वत की छाती से कोई उत्स फूट पड़े उनकी आँखों में आँसुओं की बून्दें उभर आई···वह आकाश की ओर मुँह करके उन्हें अन्दर ही अन्दर पी जाने का उपक्रम करने लगे। पर जाने क्यों ? शक्ति न जुटा पाये, उनके संयम का बाध तोड़ कर आँसू, बाहर ढुलक पड़े और दमकते हुये आभामय कपोलों पर लाल किरणों की लड़ी में पिरोये से आसके मोतियों की चमक बिखेरने लगे······रुलाई फूटने को तैयार थी जाने कैसे रोक रहे थे शब्दों को जबरदस्ती सन्तुलित करते हुये अन्तरिक्ष में बैठी किस अदृश्य छाया से बात करने लगे—

माँ तुम्हीं साक्षी हो···मैंने तुम्हें कितना प्यार किया, कितनी प्रतिष्ठा दी··· ? तुमने तो मुझे क्षमा कर दिया था······जबान पर तो क्या कभी स्मरण में भी न लाई शायद···पर ये लोग···? पर उन्हें क्षमता है कहने दो इन्हें······। इन्होंने एक ब्राह्मण ऋषि शृंगी के सहारे राम को उत्पन्न कर मेरा दर्प चूर्ण कर दिया···? ब्राह्मणों!तुम्हें क्षमताहै···क्षमाहै मेरी···करो जो करना चाहो···खूब करो···कहो जो जी में आये कहो क्षमा है तुम्हें···विना तुम्हारी प्रताडना के माया का मैल कैसे कटेगा···?' मोह का जाल कैसे टूटेगा···? महामाया ही प्रेरित कर रही है तुम्हें···जगज्जननी मुझ पर कृपा कर रही है···निष्पाप कर रही हैं मुझे···।"

सम्मुख खड़े ब्राह्मण युवक नें उनकी दशा देख अत्यन्त भाव विह्वल हो उनके चरण पकड़ लिये···? और पश्चाताप भरे स्वरों में चिल्लाया

क्षमा करें गुरुदेव ! मुझसे बडी भारी भूल हो गई अनजाने में···तर्क ने स्वयं मुझे ही छल लिया···मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूं संसार ने आपको समझने में बहुत बड़ी गलती की है···वह कठोर पाषाण में छिपी, पावन गंगा के, दर्शन करने में असमर्थ रहा है···मैं धन्य हो गया—मैंने आपका करुणार्द्र रूप देख लिया है आपने जो कुछ कहा मेरे हित के लिये कहा। एक एक शब्द अक्षरशः सत्य कहा।···मैंने ऐश्वर्यशाली परिवार की कन्या से नाता तो जोड लिया किन्तु उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहा···वही अपने पुत्र को आधार बनाकर मुझे ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये प्रेरित कर रही है, वरना अपने ही मित्र के द्वार पर याचक बनके कभी भी यूँ अपमानित न होता मैं। भगवन ! आपने मेरा सुप्त अभिमान जगा दिया। पुरुषार्थ की प्रेरणा दी है मुझे, मैंने आपके मुँह से निकले एक एक अक्षर का भाव ग्रहण किया है। मुझे क्षमा और कर दो प्रभु ! मैं अपने पुरुषार्थ और शक्ति से द्रुपद को राज्य देने पर विवश कर दूँगा। आप मुझ पर प्रसन्न हों और शस्त्र संचालन की शिक्षा दें······मैं यही दान चाहता हूं आपसे ? आशा है निर्धन ब्राह्मण बालक समझ कर "ना" न कहेंगे ?"

तब तक स्वस्थ हो चुके ? भृगुकुल गौरव श्री परशुराम शीघ्र प्रसन्न हो गये आसुतोष—

"उठो महर्षियों के यशस्वी वंशज । उठो···अप्रसन्न नहीं हूं तुमसे । तुमने तो उस प्रायश्चित में सहयोग किया है जिसके लिये मैं प्रयत्नशील हूं मैं तुम्हें शस्त्र विद्या दूँगा । आज मैं मानापमान से तटस्थ ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि शस्त्र की चोट से तुम कभी न मर सकोगे···किन्तु शब्द की चोट···कितनी भयंकर होती है हाय···काश कि यह अनुभव होता तुम्हें···एक दिन समझ जाओगे तुम इसे ··।"

वत्स ! हमारी छोडो. देवी गंगा के विषय में संभवतः जानते हो, राजवंश से अलग अपने पथ का सारथी बना कर ही अपने पुत्रों को वसुओं का स्थान दिलाने में समर्थ हुई वह, पर आठवें को शान्तनु के ऐश्वर्य की धधकती ज्वाला में ढकेल दिया है उसी में देखें उसका क्या होता है ?······।"

बहुत देर से उत्सुक देवव्रत अपने को रोक न सका, अत्यन्त व्यग्रता से झपटकर चरणों में जा गिरा—

"मुझे अकारण शापित न करें भगवंन ! मैं आपका आशीर्वाद लेने आया हूं······।"

"आयुष्मान भव ! कौन हो बेटे ?" इस अप्रत्याशित आगमन से चकित थे प्रभु 'किशोर बालक के मुख पर दैवीय तेज और ब्राह्मणोचित आभा देखकर मुग्ध हो उठे । ·—मैंने तुम्हें तो कुछ नहीं कहा, इतने आकुल क्यों···?'

"मैं गांगेय देवव्रत हूं, जो कुछ आज हूं मां का प्रसाद ही हूं । शान्तनु को पहिचानता भी नहीं···माँ ने आपकी सेवा में भेजा है मुझे ।"

सन्तुष्ट हुए उसकी विनम्र वाणी से परशुराम । साथ आये, निषाद पर प्रश्न वाचक दृष्टि गड़ा दी, उसे बोलने का अवसर मिला । दूर से कर वद्ध प्रणाम कर बोला—

"प्रभु ! इन्हीं के साथ आया हूं, आप तक पहुँचाने, महर्षि शक्ति का आदेश हुआ था······यह शस्त्र संचालन में निपुण होना चाहते हैं ।"

धर्म संकट में पड़ गये परशुराम—

"ऋषियों के मनोरथ को मैं टाल नहीं सकता, देवी गंगा की सन्तान है यह और अपने मृदुल व्यवहार से मेरे आशीर्वाद का अधिकारी भी हो गया अब यह···।"

उनके मुँह से शब्द फूट पड़े—

इच्छा मृत्यु······बड़ी प्रबल इच्छा शक्ति है तुम्हारी······जब तुम चाहोगे तभी तुम्हारी मृत्यु होगी अन्यथा नहीं, चाहे शस्त्र तुम्हारे शरीर का एक एक रोम बींध डालें पर मार न सकेंगे, जब तक तुम स्वयं न चाहो ।···तुम अवरोध को तोडकर बिना आज्ञा मेरे पास चले आये यह तुम्हारी आत्मशक्ति और साहस का परिचय है पर कुछ न कुछ उद्धतता कहा ही जायेगा इसे···।"

"क्षमा कीजिये महात्मन् ! आपकी बात में, अपने प्रसङ्ग को आता देख, घबरा गया धैर्य न रख सका।"

"चलो अच्छा ही हुआ शान्तनु के स्मरण ने किसी शंका को जन्म दिया था इस चित्त में. निर्मूल हो गयी वह तुम्हारे आने से, जाने क्या अनर्गल कह डाला मैं··· किन्तु दो व्यक्तियों की बात चोरी से सुनना बुरा है तात। शरीर को बींध कर रक्त सी फूट कर बाहर निकल आती है सारी की सारी···क्योंकि कहने वाला उसका साक्षी नहीं रहता और सुनने वाला उसके मनोनुकूल अर्थ लगाता है और बिना समझे अनर्गल प्रचार पर उतर जाता है···बेटे ! बिना समझे तो आँखों देखा भी झूठ हो जाता है··· छोड़ो मैं अप्रसन्न नहीं तुमसे, मेरा आशीर्वाद तो तुम्हें प्राप्त होगा ही किन्तु···।"

"किन्तु क्या महाप्रभु ?"

"शान्तनु के संस्कार···?"

"मुझ में मेरी माँ के संस्कार प्रबल हैं।"

"क्या वंश का विस्तार ?"

"नहीं करूंगा, किन्तु किसी भी शर्त पर मुझे आपसे विद्या प्राप्त करनी है।" द्रोणाचार्य वाली गलती को तो कम से कम मैं न दोहरा पाऊंगा—।"

ठठाकर हँस पड़े परशुराम किशोर की प्रगल्भता पर। बोझिल वातावरण में हँसी की खुशबू भर उठी···हँसी ही हँसी में शब्दों से चिकोटी काटी पूज्यपाद ने···।

"पैत्रिक संस्कारों का त्याग, स्वयं के वश की बात नहीं वत्स ?······फिर भी तुम से पूर्व, जो यह ब्राह्मण युवक आया है, गुरु शिष्य सम्बन्ध जोड़ चुका है, मुझसे इसे मैं शिक्षा का समर्थन कर चुका हूं···प्रथम यह हुआ···इससे पूछ लो यह अपना समय तुम्हें देने को प्रस्तुत है या नहीं···।"

कातर देवव्रत ने द्रोण की ओर प्रश्न भरी दृष्टि से ताका···द्रोण गर्व से फूल उठा, तो भी औपचारिक शालीनता निर्वाह करते हुये. विनय युक्त होकर बोला –

"गुरु देव ! मुझे व्यर्थ में महत्व दे रहे हैं, मुझे क्या आपत्ति होसकती है भला ? मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूं।"

परशुराम मुस्करा पड़े—

"तनमन एक होना चाहिये द्रोण। शस्त्र संचालन में मन भटका तो तन का पता नहीं पाता। गुरु के शब्दों में तनिक भी शंका का स्थान नहीं; मैं अन्यथा नहीं बोलता, सत्य ही कहता हूं।···एक और भूल कर दी आज फिर तुमने···(देवव्रत की ओर उन्मुख हुये परशुराम)···किशोर। शिष्यत्व तो इससे ले लिया, विद्या तुम इसकी ओट से ले लो तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मैं इतना तो कर ही सकता हूं······किन्तु तुम्हारे क्षत्रियोचित संस्कार किसी दिन परशुराम से ही न टकरा जायें······?"

"आप क्षत्रियों से, इतना भय क्यूं मानते हैं प्रभु शुद्ध क्षत्रिय तो ब्राह्मण का आज्ञाकारी सेवक है······लगता है पिता के साथ घटित दुर्घटना ने आपके मन को विचलित कर दिया है ? अन्दर ही अन्दर एक आवश्यक भय को पाल लिया है आपने ···? मैं निर्मूल कर दूंगा उसे आप मुझे चरणों में स्थान दें···।"

परशुराम को छू गई बात, वजाय क्रोध करने के उन्होंने पवित्र गंगा का स्मरण कर निष्पक्ष स्नेह दिया गंगा पुत्र को—

"तू आत्म शक्ति का धनी और संकल्प का भीष्म दिखलाई पड़ता है रे !··· मनोविज्ञान भी पढ़ा दिया है शक्ति ने···ये ब्राह्मण जरा प्रसन्न होते ही सब कुछ लुटा देते हैं। कब आयेगी इन्हें अक्ल ?

निषाद को हँसते हुये देख पूज्यपाद ने उधर दृष्टि घुमाई और आदेश दिया—

"जाओ दाशराज ! किसी दिन आकर ले जाना अपने दोहितृ को···?"

दोनों चकित होकर देखने लगे प्रभु की ओर—ऋषि ने समाधान किया–अरे समझा नहीं क्या ? गंगा को गंगा तटवासी मल्लाहों ने पाला था कि नहीं ? तब तेरा धेवता हो गया कि नही···जा जब तू आयेगा तभी तेरे साथ कर दूँगा इसे मैं।

मल्लाह को कुछ कहते न बना, प्रणाम कर चल दिया। मन ही मन सोच रहा था। प्रचण्ड क्रोध के प्रतीक, कठोर हिमालय से वर्फ की फुहारों की तरह यह विनोद के छींटों की बौछार कैसे हो रही है ?

———

महाराज शान्तनु को अपने चरों से गुप्त समाचार ज्ञात हुआ कि गंगा ने उनके पुत्र देवव्रत को शक्ति के हाथों में सौंप दिया है और शक्ति उसे परशुराम की सेवा में देना चाहते हैं। शान्तनु के कूटनीतिक मन को, राजनीति की गंध आई, इसमें। उन्हें लगा, जैसे उनके पुत्र को उनके विरुद्ध ही खड़ा करने का प्रयत्न किया जा रहा हो। क्योंकि इसी प्रकार प्रह्लाद को हिरणकश्यिपु के विरुद्ध प्रयोग करने का षडयंत्र, देवताओं द्वारा, कभी रचा जा चुका था। उनका चित्त अनागत् की आशंका से विचलित हो गया। वह अपने पुत्र को लौटा लाने के लिये लालायित हो उठे। उन्होंने अत्यन्त विकलता के साथ, चरों को सूचना एकत्रित करने के निर्देश किये। उन्हें पता चला कि शक्ति अपने पुत्र पराशर से मिलने के लिये, यमुना के किसी टापू की ओर गये हैं, जिसे पराशर के पुत्र कृष्ण के नाम पर कृष्ण द्वीप ही कहकर पुकारने लगे हैं। उन्होंने मृगया के बहाने, यमुना के कछारों की ओर प्रयाण किया।

दाशराज देवव्रत को छोड़कर अपने निवास स्थान गङ्गुह (गंगावासी मल्लाहों के दुर्ग) में आया तो पता चला कि शक्ति तो अपने पुत्र की खोज में बद्रीवन की ओर प्रयाण कर गये हैं और मत्स्यगन्धा कृष्ण द्वीप पर पहुँच गई है। माँ बाप को पूंजी से अधिक बेटी की चिन्ता सताती है क्योंकि पूंजी की अपेक्षा रूप और यौवन, अधिक आकर्षित करते हैं चोर और लुटेरों को। दाश, तुरन्त यमुना के किनारे पहुँचे और अपना बेड़ा खोलकर कृष्ण द्वीप पर जा पहुंचे। योजनगंधा शीघ्र ही मिल गई उसे, क्योंकि अब तो उसके तन की गन्ध ही पतंग की डोर बन चुकी थी, सबके लिये गंध के सहारे उस तक पहुंचना और भी सरल हो जाता था किन्तु इसी सुगन्ध के कारण पिता और अधिक चिन्तित भी था कि इसकी मनोहिनी गन्ध पर आकृष्ट होकर न जाने कौन मृगया प्रेमी शिकारी कब इधर खिंचा चला आवे? और कामुक मन की वासना उसके जीवन का शिकार न कर बैठे। उसने योजनगन्धा से तुरन्त लौट चलने के लिये कहा। पर उसकी कौन सुन रहा था, वह तो न जाने कहाँ २ खो गई थी। पेड़ के तने से पीठ लगाये, शून्य की ओर ताकती हुई, जाने क्या देख रही थी। मल्लाह ने उसे कंधा पकड़ कर झिझोंड़ा और कहा- –

"अरी दिवा स्वप्न देख रही क्या? कब से चिल्ला रहा हूं सुनती क्यों नहीं?"
चौंक कर हड़बड़ाई—
"हुं···? क्या बात है बाबा!"
"खड़ी खड़ी भी सो रही है क्या?"
"नहीं तो उस बालक के विषय में सोच रही थी···कितना प्यारा था वह?"
"कौन?"
'कृष्ण!"

'हाँ था तो वहुत प्यारा। रंग तो निषादों का जरूर मिला पर मोहकता तो बिष्णु में भी न होगी इतनी ? लाडली ! तेज भी ऋषियों का मिला था मानों, उसे। ठीक वैसे ही जैसे लावण्य किसी अप्सरा ने भर दिया हो। वेटी! पर गन्धतो तेरे शरीर की ही लगती थी उसमें जाने क्यूँ···क्या, ऋषि ने, तेरे साथ ही, उसके तन में भी भर दी थी वह गन्ध ?

मल्लाह की अनसुनी कर अपनी कही उसने—

"छोटा सा ही कैसा साफ बोलने लगा था वावा···यह तुतलाया क्यों नहीं भला ?"

"किसी देवी, अप्सरा या ऋषि कन्या का पुत्र होगा, लोक लाज से छोड़ गई होगी निष्ठुर ?"

मल्लाह की तृष्णा को देख अन्दर तक सिहर उठी वह। अन्तर्मन अदृश्य वेदना से चीख उठा अजाने ही अस्फुट शब्द फूटे उसकी वाणी से···।

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"

"हो क्यों नहीं सकता ? विश्वामित्र नाम का एक ऋषि था। मेनका नाम की अप्सरा से उसके अवैध सम्वन्ध थे। परिणाम स्वरूप शकुन्तला नाम की कन्या का जन्म हो गया कायर ऋषि लोक मर्यादा के भय से उसे छोड़ कर भाग खड़ा हुआ और वह, उसे, देवलोक में इन्द्र के भय से अपने साथ न ले जा सकी और कण्व के आश्रम के पास ही विलखता छोड़ गई।"

निषाद की बेटी चंचला उठी अन्य मनस्कता में उसके मुख से निकला—

"नहीं···मैं, इतनी निष्ठुर नहीं हूं···।"

"तू ऽऽ ?"—चकरा गया मल्लाह। क्या कह रही है यह ? उसने पूछा -

"मैं उसकी बात कर रहा हूं···क्या तू उसकी माँ है ?"

पगला सी गई योजनगन्धा ?

"हाँ मैं उसकी माँ हूं।"

सहम गया दाश, जैसे आसमान से गिरकर खजूर में अटक गया हो।

"पगला रही है क्या ? दूसरे बच्चे को अपना कहती है।"

तड़पी वह—

"वह दूसरे का नहीं मेरा बच्चा है वावा...!"

मल्लाह की तनी भृकुटियाँ देख वह सम्हली—

"वह मुझे माँ ही कहकर पुकारता था वावा, बिल्कुल अपनी असली माँ करके पहिचानता था मुझे···उतना ही प्यार करता था मुझ ममतामयी से···।"

मल्लाह की त्यौरियाँ उतरी और ठठाकर हँस पड़ा वह—

"अच्छा, तभी तू उससे इतना प्यार करने लगी है ?"

"हाँ"—हँसी यह भी। क्षण भर को चेहरे की रौनक लौट आई।

"पर दूसरे की सन्तान तो दूसरे की ही होती है न बेटी ? जल्दी ही तेरे हाथ पीले कर दूंगा···।"

"नहीं बावा ! मैं किसी और से ब्याह न करूँगी···।"

फिर चकरा गया बेचारा--

"किसी और से···क्या मतलब···किसी से···?"

"तुम सोचते हो कि नारी केवल स्वार्थ के लिये प्रेम करती है···?"

"तो क्या तू क्या पराशर से···।"

लजा गई बाला। उसने अपने मुख को हथेलियों से छिपा कर पलकें झपका लीं।···मल्लाह अप्रत्याशित को आशंका से चिन्तित हो उठा—"हे भगवान। क्या गुल खिल गया यहाँ ?" वह शीघ्राति शीघ्र अपनी कन्या के हाथ पीले कर देने की बात सोचने लगा ?"

प्रकट में उसने सान्त्वना के साथ युक्ति को आजमाया—

"पर अब क्या लौटेगा वह ?"

"अवश्य लौटेगा वह" –दृढ़ता से उत्तर दिया उसने--"मेरा कृष्ण मुझ से कहता था, माँ ! तू जब भी पुकारेगी मैं दौड़ा चला आऊँगा।"

"तो फिर पुकार···।"

मल्ला की झुंझलाहट पर भी उसने सहज उत्तर दिया 'अभी नही, अभी नहीं बावा ! अभी तो वह योग्य बनेगा, वेदवेदाङ्गों का पंडित बनेगा, महान योगी बनेगा, बहुत बड़ा वैज्ञानिक···पराशर से भी बड़ा···हाँ···?"

"भूत चढ़ गया है तेरे सिर पर···? चल गंगुह के किले में···।"--क्रोध से चिल्ला पड़ा बूढा, वह भी उसी तरह चिल्लाई –

"नहीं जाऊँगी यहीं रहूंगी, यहीं जीऊँगी, यहीं मरूँगी···वहाँ मदिरा की बू से···मेरा दम निकलता है·····।"

"भूखी मरेगी यहाँ···?"

"यहाँ फलों की कमी है क्या ? गैया है यहाँ तैर कर आती हैं तो रोज दूध दे जाती हैं, जब तुम नहीं थे तो क्या तब भूखी मर गई थी यहाँ···फिर सुमन की जैसी सुगन्ध यहाँ वैसी गङ्गोह में कहाँ···?"

जैसे प्रेम की कस्तूरी मन में सामने लगी हो, तन की सुध न रही नशा सा छा गया, पलकों पर न जाने कितने स्वप्न तैरने लगे···मल्लाह चिल्लाया—

"अरी पगली ! मैं खाली खाने पीने की नहीं कह रहा···कमीने शिकारी आयेंगे यहाँ और तुझे नौंच ले जायेंगे···।"

वीर रमणी का अहंकार फूत्कार उठा—

"क्या कायरों सी बात करते हो बाबा ! मलाई की बरफी समझा है क्या ? है किसी की हिम्मत जो तेरी मेरी मर्जी के बिना मुझे छू भी ले···आँखें न निकाल लूं···?"

मल्लाह का सोया दर्प जाग उठा और वह आश्वस्त हुआ, तो भी उसने झुंझला कर कहा--

"तो मर यहाँ...।"

सचमुच लौट पड़ा वह--सोचा-- "दो चार दिन में अपने आप लौट आयेगी।' --फुसफुसाया अब बेकार की बकत्रास में कौन पड़े' उसने गङ्गोह पहुंच, योजन भर तक, अपने आदमियों को, उसकी सुरक्षा के लिये, नियुक्त कर दिया और स्वयं भी वारुणी पीकर, अद्रिका के स्वप्न देखता हुआ, सो गया।

एक दिन, शान्तनु, मृगया के लिये, नदी किनारे तक चले आये, एक मनोहारिणी सुवास ने उनका मन मुग्ध कर लिया। उन्होंने इधर उधर देखा सामने यमुना के प्रवाह में द्वीप की भूमि पर किसी अप्सराणी रमणी की छाया को इठलाते पाया उन्होंने अनुमान किया --हो न हो इसी सुन्दरी की कमनीय देह से निकली सुवासित सुगन्ध ने वन कान्तार का कोना कोना महका रखा है।

गंगा के वियोग ने शान्तनु के मन में, जो उदासी का मरुस्थल खड़ा कर दिया था, सुन्दरी की सौरभमयी छाया को निहार कर क्षण भर में, हरहरा उठा, मन चंचल हो उठा, पल भर में उसे अपनी बना लेने की चाह कसक उठी। उन्होंने, द्वीप पर पहुंच जाने के प्रयत्न में, घाट पर, नाव की टोह ली, किन्तु मल्लाहों ने, वहाँ जाने में, अपनी क्षमता प्रदर्शित कर दी। उनका राजकीय दम्भ उद्दीप्त हो उठा। काम का व्यवधान, क्रोध का उद्दीपन हो गया। फिर भी, उस समय, वहाँ, अपनी और मल्लाहों की शक्ति के तुलनात्मक अनुमान से सन्तुलित रहे वे। बड़े सुन्दर ढंग से प्रशासकीय कौशल ने व्यवहार की तिक्तता को आत्मसात् कर लिया। कूटनीति का सहारा लिया उन्होंने स्वर को संयत कर, रहस्य से पर्दा उठाने के लिये, बड़ी मधुरता से द्वीप की उस रमणी के विषय में पूछा। मल्लाहों द्वारा उनके अनुमान की पुष्टि हो जाने पर, वह काम विह्वल हो गये। किसी तरह मन को रोक कर वह वापिस हो लिये किन्तु अत्यन्त कूटनीतिक संकेतों में, अपने चरों से, तट पर अपनी वाहिनी संघटित करने का आदेश देना भी वह न भूले। कुछ ही समय में, असंख्य सैनिक, वहाँ आ जुटे। एक फौजी छावनी का दृश्य उभर आया।

संभावित की आशंका से, केवट समुदाय घबराया, उन्होंने तुरन्त गुह नायक को सूचना दी। दाशराज ने नशे की अवस्था में गर्वोक्ति की--"कौन जन्मा है माई का लाल जो दाश की......।" किन्तु वास्तविकता का अनुमान कर, सारा मद, कपूर की तरह, उड़ गया। वह बहुत चिन्ता में पड़ गया। कुछ सोच न पा रहा था। उसने देखा औरदेखकर विस्मित रह गया--

महाराज शान्तनु, स्वयं ही, उसके निवास की ओर आ रहे थे। वह भय से काँपता हुआ भी, अपनी अहो भाग्यता, प्रदर्शित करने पर विवश था। उसने दौड़कर अर्घ्यादि का प्रबन्ध किया और अत्यन्त विनय का प्रदर्शन करते हुये महाराज का

स्वागत किया। उनके लिये, आसन्दियों की व्यवस्था कर, उन्हें बैठाया और स्वयं हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया--बोला --"मेरे अहो भाग्य महाराज ! स्वामी ही दास के घर पधारे, मैं कुरुकुल भूषण धर्मरक्षक नृप श्रेष्ठ महाराज शान्तनु का क्या प्रिय कर सकता हूं···?"

शान्तनु, अपनी योजना की सफलता पर, मन ही मन, प्रसन्न हो रहे थे। उन्होंने थोड़ा और कौशल दिखलाया --

"दाश तुम्हारा क्षेत्र है यह······?"

"कैसी बात करते हैं महाराज ! मेरा क्या···? आप राजा हैं···।"

"हम तो भूमि के राजा हैं, भूमि पर शासन करते हैं किन्तु यहाँ की प्रजा के हृदय पर तो, तुम ही शासन करते हो ? हृदय सम्राट कहते हैं इस क्षेत्र के निवासी अपने नेता को···।"

"क्यों लज्जित करते हैं महाराज।··· किसी ने व्यर्थ ही आपके कान भरे होंगे······।"

"सुनकर नहीं······अपनी आँखों से देखकर आया हूं दाश ! तुम धन्य हो, निर्धन होकर भी तुमने वह कमा लिया जो ऐश्वर्यशाली होकर, शासक प्राप्त नहीं कर पाते······।"

फूल कर कुप्पा हो गया दाश; पर न जाने क्यों ? अन्दर से हिया काँपकर, किसी अनागत की सूचना दे रहा था। उसके मनोविज्ञान पर शान्तनु असंभावित की कुशल कुटनीतिक दृष्टि गड़ी थी वह मन ही मन मुस्करा पड़े--

"······ऐसी सबल वाहिनी जिसके पास हो, उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है दाश !"

सकपकाया निषाद किन्तु सन्तुलन नहीं खोया उसने भी थोड़ी बहुत कूटनीतिक चातुरी का परिचय दिया--

"ये अकिंचन सर्वहारा हैं बेचारे; इन्हें तो धन का लोभ देकर कोई भी फोड़ सकता है।"

"ऐसा सम्भव होता तो मत्स्य ने फोड़ लिया होता इन्हें···।' छक्का मारा शान्तनु ने।"

"क्या महाराज को सब पता है ?"---उसका दुख आक्रोश में घुलने लगा ?"

"उस दुष्ट ने, हमें भी, तुम्हारे विरुद्ध, भड़काने का प्रयत्न किया था; वह तो भगवान परशुराम की प्रेरणा से बच गये हम···व्यर्थ का द्वेष बढ़ जाता।"

कुछ न बोला मल्लाह शायद आश्वस्त होने लगा था, महाराज नें कनखियों से परखा और स्वयं ही मौन को तोड़ा--

"हम तुम्हें सम्मान देना चाहते हैं, गुहराज !"

"मुझे सम्मान······?

"हाँ हम दाशराज को राम-मित्र-निषादराज की सी मित्रता देना चाहते हैं और अपना प्रायश्चित......"

भोला निषाद फँस गया, राजनीति के चतुर खिलाड़ी की, शतरंजी चाल में। उसे लगा धरती पर फिर रामराज्य उतर आया है। वह अत्यन्त भावुकता मे विनत हो कर बोला--

"कैसी बात करते हैं महाराज! आप काहे का प्रायश्चित करेंगे...कौन सा पाप किया है आपने...कोई अत्याचार......?"

मूर्ख दाश का पिछला आक्रोश, जाने कहाँ बह गया था। महाराज ने पिघलते हुये मोम को थोड़ी और आँच दी—

"नहीं दाश! हम जानते हैं—हमने क्या किया है? कोई अपने कृत्यों को भूल नहीं सकता, विस्मृति की मदिरा में डुबाकर सन्तोष कर सकता है। हमारे पाप अत्याचार बनकर सामने आये हैं......हम कष्टों से सिसकती अपनी प्रजा को थोड़ा सा प्यार भी न दे सके हम! समाज के उस वर्ग को इतना भी अधिकार न दे सके कि वह अपने आँसू पोंछने के लिये तो हाथ ऊपर उठा सके, जबकि अपने श्रम की आधार शिला पर उसने समाज के सम्पूर्ण उत्पादन का भवन थाम रखा है; सदियों से अपने ही भाइयों को दलित, अछूत पिछड़ा, गंवार जंगली और नीच कहकर पुकारते रहे हम! कितने कृतघ्न हैं हम—इन दुष्कर्मों के अपराधी' क्या व्यवस्था दी है हमने। ...हम राजा कहलाने के अधिकारी हैं दाश! नहीं, हम पंडित पुरोहितों की झूठी चापलूसी में पड़कर, अपने कर्त्तव्य को भूलते रहे......अपनी अवस्था के अनुसार हमें अब तक घर दर छोड़ कर जंगल में चला जाना चाहिये था किन्तु हम सिंहासन से चिपटे पड़े है......आज, तुम्हारे आदमियों ने, हमारी आँखे खोल दीं...हम अन्धकार में ही जीते रहे सदा, खुली रोशनी में निकल कर न आ सके...मैं अपने पापों का प्रायश्चित करूँगा......यह छुआछूत, भेदभाव की दीवारें गिराकर ही दम लूंगा अब......।"

दाश के साथ ही, समस्त उपस्थित-शोषित-पीड़ित-निषाद समुदाय की आँखों में, जल भर आया। करुणा का कृत्रिम व्यवहार भी सुगन्ध का झोंका बनकर निष्प्राण पीड़ितों में कैसे प्राण का संचार कर देता है, जानते हुये भी शासक अपने बन्द प्रासादों की खिड़कियों से झाँक कर नहीं देखते; शायद इसलिये कि कहीं दृष्टि, बाहर के घिनौने दृश्य देखकर, मैली न हो जाय। शान्तनु के दो प्रीत भरे शब्दों ने सारा आक्रोश धो दिया, निषादों का। राजा को इस तरह बिलबिलाता देख विह्वल हो गये वे। पश्चाताप से रूँआसे, महाराज को, सान्त्वना दी मल्लाह ने—

"घबराइये नहीं महाराज! हम आपके साथ हैं...।"

फिर अपने समुदाय की ओर मुँह करके नारा दिया—

"महाराज शान्तनु की......।"

"जय ऽ ऽ ऽ ऽ।" सबने एक साथ पुकारा।

शान्तनु आश्वस्त हुए, शिकार पूरी तरह फँस चुका था, बस हलाल करने का काम बाकी था। महाराज ने कहा —

"दाश ! आजकल, हम मृगया से थके हैं, तुम्हारे यहाँ कुछ दिन विश्राम लेना चाहते हैं ?

गद्‌गद् हो गया, निषादों का भोला नेता—

"हम अपने झौंपड़े, अस्त्र शस्त्र और उपकरण बेचकर भी आपका आतिथ्य करने में, अपना गौरव समझेंगे, पुरराज।"

अन्धा क्या चाहे दो आँखें। महाराज को और क्या चाहिये था ? आम के आम और गुठलियों के दाम। मल्लाह की बेटी के दर्शन से, मन की तृप्ति भी और सेना के खाद्यान्न की समस्या का भी हल। शासन की नीति सफल हुई, शोषित स्वयं ही अपना खून चटा कर शोषकों की आत्मा को शान्ति देने के लिये प्रस्तुत थे ! धन्य है भारत माँ ! तेरे भावुक बेटे, तथाकथित नायकों के इन दाँव पेंचों को कब समझेंगे ? कब इन तथाकथित राजनीतिकों की, चौसर चाल से, मुक्त हो सकेंगे ?

महाराज शान्तनु ने सहसा बात का रुख बदला—

"कब तक खडे रहोगे पुण्य भाग ! बैठ जाओ, मैं तुमसे एक बात करना चाहता हूं। महाराज ने, शेष खड़े हुओं की ओर देखा और खड़े हुओं ने अपने नेता की ओर। दाश किंकर्त्तव्यविमूढ़ था। उसे न जाओ कहते बना, न आओ। अनुयायी उदास से हो गये। राजा ने, अपनी कूटनीतिक दृष्टि से, परखा, तीर निशाने पर था। उनके हृदय की शंका, उनके नेत्रों में, लगी थी। दाश, साथियों की आशंकित दृष्टि से, हिल गया; उन्हें वितृष्ण जान उसने कहा—

"इन्हीं के सामने कह दीजिये नाथ·········।"

"आक्रोश से गरजने वाला सिंह, जाने किस लोभ से, तनिक सा सम्मान पा कर ही. कुत्ते की तरह, पूँछ हिलाने लगा था। राजा कुशल राजनीतिज्ञ की तरह सब कुछ समझ रहा था और किसी भी गोट को, अपने हाथ से खिसकने न देना चाहता था। उसने जान बूझ कर कुछ छिपाने का अभिनय किया जिससे उसके और उसके साथियों के बीच, भेद की गहरी दरार, चौड़ी होती चली जाय ताकि वह पुनः प्रबल शक्ति न संचित कर सके। राजा, एक ही तीर से, दो शिकार कर रहा था— विद्रोही दाशराज को स्वयं ही पंगु हो जाने पर विवश कर रहा था और उसकी प्यारी पुत्री पर अपनी वासनामयी गृद्धदृष्टि पैनी करता जा रहा था······जानबूझ कर कानों के पास मुँह ले जाकर वह जोर से फुसफुसाया—

"अरे इन मूर्खों के सामने······? दाशराज ! तुम तो बुद्धिमान हो सब समझते हो······क्या कहा······ठीक, अच्छा फिर सही······" प्रकट में जोर से बोला —इस इस समय रहने दो फिर सही······समय मिलेगा ही; कर लेंगे दो बात······।"

अचानक बोलते बोलते वह रुक गया—शायद दाश कुछ कहे, किन्तु उसे चुप देख, स्वयं उसने ही मौन तोडा……और बात को घुमाने का अभिनय किया—

"दाश ! देवव्रत को देखा था तुमने ?"

"देखा ही नहीं महाराज ! मैं कुमार को स्वयं परशुपुरी छोड़ कर आया हूं।"

"क्या स्वीकार कर लिया क्षत्रिय कुल ध्वंसी परशुराम ने उसे ?"

"हाँ महाराज ! कुमार स्वयं ही इतने योग्य और गुणवान हैं कि किसी भी गुणज्ञ को उनका सान्निध्य आनन्द देगा……पूरे ब्राह्मणों जैसे संस्कार हैं उनके…… पूर्ण ब्रह्मचारी हैं……कामना तो लेश मात्र भी नहीं उनमें……मार्ग में सुन्दरतम रूप दिखाई पड़ने पर भी अपनी दृष्टि फिरा ली उन्होंने। चन्द्रवंश का एक भी कलंक नहीं निष्कलंक चन्द्र देवव्रत में।"

महाराज झेंपे और तिलमिला गये, "कहीं पूरा ब्राह्मण ही न हो जाये वह ? राजकाज ही न छिनवा बैठे। दाश ! मेरी तीव्र इच्छा है किसी भी प्रकार मेरी सन्तान को मुझसे मिलादो, मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानूंगा।"

"इसमें उपकार की क्या बात है महाराज। यह तो मेरे बायें हाथ का खेल है। स्वयं महर्षि परशुराम ने, किसी भी समय आकर अपने साथ लेजाने की अनुमति दी है मुझे।"

'तो जाओ दाशराज ! तुम उसे ले आओ। पुत्र के लिए मेरी आत्मा विकल है। मार्ग में जो भी व्यय हो चिन्ता न करना। दास दासियों, नौकर चाकरों, रथ वहनी; अश्व-वाहनों को लेकर जरा ठाठ से जाना ताकि बिरादरी वाले भी समझलें कि दाश क्या है ? मैं सब प्रबन्ध किये देता हूं। परशुराम तो दान दक्षिणा लेते नहीं, उनके ब्रह्मचारी और आसपास के ब्राह्मणों को मेरा नाम लेकर खूब धन बाँटना।"

राजा बुद्धिजीवियों में भी वही तीर छोड़ना चाहता था जो अपढ़ भोले निषादों और बनवासियों में छोड़ चुका था। लोभ का कीड़ा बुद्धिजीवियों के मन मस्तिष्क और विवेक बुद्धि को भी तो चट कर जाता है न ?"

"जो आज्ञा कहकर" गुह चलने को हुआ। राजा उठ खड़े हुए और बोले—

"ठहरो निषादराज ! हम अपने मित्र को स्वयं विदा करके आयेंगे।" और अपने साथ ही उसे बाहर की ओर लेकर चल दिये। वह साथियों से कुछ भी न बतिया सका, न ही उन्हें सन्तुष्ट करने का कोई अवसर पा सका।

महाराज शान्तनु की विशालवाहिनी को देख, निषादराज थर्रा उठा। उन्होंने ओठों पर मनोहर मुस्कराहट लाकर उससे कहा—

"यहां का जलवायु बड़ा सुहावना है, न जाने कैसी मनभावन सुगन्ध सर्वत्र छाई हुई है। हम चाहते हैं ऐसी खुशबू हमारे महलों में भी महक उठे……।"

बात के पूरी होने से पूर्व ही, दोनों सिहर उठे। एक भय से दूसरा काम की उद्दीप्त वासना से। निषाद कुछ कहता सुनता तो क्या ? अविश्वास प्रकट करने की

सामर्थ्य भी उसने खो दी थी। दुश्चिन्ता के पग नापता हुआ आगे बढ़ गया।

उसके विदा होते ही, महाराज की बाँछें खिल गईं और वह खुशी से झूम उठे।

अपने शिविर में पहुंच, उन्होंने विशेष आसव का पान किया और मखमली शैया पर लेट स्वप्नों के रंग महल में विहार करने लगे। जहाँ, कल्पनाओं की अप्सराएं, धरती पर उतर उतर, उनके तन मन को गुदगुदा, उनके साथ किल्लोल करने लगी। वह अकुला उठे और स्वयं को संयमित न रख सके। एक अनिन्द्य सुन्दरी पंखा झल रही थी, पलकें खोल वह उसकी ओर देखने लगे। जाने एकाएक कैसा स्फुरण हुआ है ? इन्होंने उसकी बाँह पकड़ छाती पर खींच लिया और बाँहों में भर व्याकुल हृदय को सान्त्वना देने का प्रयत्न करने लगे। एक जिन्दा लाश जैसे बाँहों में गिलगिलाई हो, विवश तरुणी उनके वक्ष पर लुढ़ककर रह गई।

राजा ने कई दिन तक प्रयत्न किया किन्तु कृष्ण द्वीप के सफेद कुहरे में भटक कर लौट आये। रूपसी की छवि खोज करने पर भी उन्हें न मिली। पर कामिनी की गन्ध काम विह्वल को, इतना व्याकुल कर रही थी कि कस्तूरिया हिरण की तरह वार वार वह इधर उधर हाथ पैर मार रहे थे। उन्हें भ्रम हुआ, कहीं मृग पिपासा में तो नहीं भटक गये वह। स्वयं पर इतनी झुँझलाहट होने लगी कि उन्होने चाहा कि वाहिनी को कृष्ण द्वीप रौंद डालने की आज्ञा दे दें। पर बुद्धि ने पैंतरा बदल दिया—क्या कहेगा समाज ? देवता लोग हँसी न उड़ायेंगे ? कि शान्तनु कितना कदर्य है कि एक रूपसी को प्राप्त करने के लिए कितना बड़ा अभियान छेड दिया और यदि वह मात्र माया निकली तो मेरी मूर्खता पर कौन न हँसेगा और यदि वह अस्तित्व में है तो इतने बड़े संहार को देखकर स्वयं भी क्रुद्ध हो सकती है। अब तक नीति से, निपादों के मन में, अपना स्थान बनाकर, निषादों के विद्रोह की अग्नि को शान्त करने का जो प्रयत्न किया गया है क्या सब निष्फल न हो जायेगा ? उधर वनवासी और ऋषियों का सम्मिलित आन्दोलन छिड़ा कि परशुराम में सशस्त्र क्रान्ति का उद्घोष किया। एक नया युद्ध व्यर्थ में ही खडा हो जायेगा। शक्ति और उनके पुत्र की वैज्ञानिक शक्ति उनके साथ हुई तो मैं कहाँ तक लोहा ले पाऊँगा ? उनका मन स्वयं आशंकित हो उठा कहीं किसी प्रपञ्च का शिकार तो नहीं बनाया जा रहा उन्हें ? वह जाने क्या सोच रहे थे कि इसी बीच में एक हवा का झोंका आया और एक असाधारण सुगन्ध वातावरण में महक उठी। उनका मन आलोडित हो उठा। वह तड़प उठे लगा जैसे वह बहुत निकट आई हों।

राजा अकेले बैठे थे। मन की उदासी को छिपाने के लिए वह एकान्त का सेवन कर रहे थे। उन्होंने सैनिकों को दूर रहने की आज्ञा कर रखी थी। पर यह एकान्त काट खाने को आ रहा था उन्हें। उनके मन का उद्वेलन, सुगन्ध का आश्रय पाकर तीव्रतर हो गया, उन्होंने एक छाया को देखा और चौंक पड़े, दौड़े उधर किन्तु

फिर लज्जित होकर इधर उधर झांकने लगे। विशाल साम्राज्य का अधिपति कामी पशु की तरह उन्मत्त हो रहा था, भयभीत श्वान सा आशंकित हो रहा था और शिकारी बिल्ली की तरह दाँव लगा रहा था। रमणी की गन्ध ने उसके चित्त को विलोकर रख दिया। काम की ज्वाला, चित्त के नेह को पीकर और अधिक भड़क उठी। काम ज्वर से शरीर तपने लगा। चित्त की शान्ति के लिए, उसने पानी में डूब लेना उचित समझा। उसने, शरीर के आच्छादन उतार फेंके और कूद पड़ा यमुना के जलप्रवाह में। अशान्त की शान्ति है प्रकृति की सुरम्य क्रोड। जल के शीतल स्पर्श से चित्त ही शान्त न हुआ, तन की तपन भी जाती रही।

स्थिर चित्त में शुद्ध विचार पनपा —रमणी को पाने से पूर्व, उसका हृदय जीतना आवश्यक है। किन्तु बेचैनी ने कहा, वह हो भी कहीं, तभी तो कुछ करूँ? सोचते सोचते, उसने पानी में डुबकी लगाई और सिर पानी से बाहर निकाल कर जो सामने देखा तो निहाल हो गया, यह देखकर कि वह अनिद्य सौन्दर्य अपनी अनुपम सुगन्ध फैलाता, मन की सी गति से, जल पर दौड़ता हुआ सा उसी की ओर चला आ रहा था। वह आनन्द से पगला उठा क्योंकि उसे यह पता न था कि उतनी ही तेजी से इसके पीछे मगर के रूप में मौत उसकी ओर दौड़ी चली आ रही है। उसने रूप के सम्मोहन में हाथ उधर उठा दिये और पलक झपकते ही नौका पर बैठी, नारी के हाथों ने पकड़कर उसे खींच लिया। नाव डगमगाई, किन्तु क्षिप्रता से, युवती ने, उसे सम्भाल लिया और द्वीप की ओर भगा ले गई। मगरमच्छ जबड़ा फाड़े लप-लपाता रह गया। मृत्यु की कल्पना से सिहर उठे शान्तनु। रूपसी ने नाव में पड़ा फटा वस्त्र उन पर फेंक दिया—

"ओढलो इसे, तुम्हारा नंगापन ढक जायेगा?"

राजा को 'नंगापन' चुभा और उसकी चेतना लौटी। कटीफटी मैली चदरिया ने किसी मर्यादा का आश्रय लेकर, नंगी कामुकता को ढकने का, असफल प्रयत्न किया।

दोनों पतवारों से नाव खेती, योजनगन्धा, हंसवाहिनी सी, जल की फुहारों में दोनों हाथों से, मोती बिखराती सी लगती थी मानों कोई अप्सरा सुनहरे पंख लगाकर. नीले आसमान में तैरती हुई आकाश गंगा की सड़क पर आरही हो। उसके उन्नत उरोजों के बीच में पड़ी मोती मूंगों की माला, प्रातःकालीन अरुणिमा से प्रतिबिम्बित पर्वतीय चोटियों के बीच बहती निर्झरिणी की तरह किसी भी रसिक हृदय को मोह लेने में सक्षम थी। कनखयों से देखते नरपति की चोरटी कामुक दृष्टि पयोधरों के बीच, बहती, उसी पयस्विनी में डूबने उतराने लगी। उच्छ्वासों से भरे, गिरते उभरते वक्ष का उभार, कामुक के धड़कते मन की कामनाओं का ज्वार बनकर उससे टकराने को आतुर हो रहा था। चमेली के गजरे, चम्पा के भुजबन्ध, केतकी के कंकण, कमलों का करधन और मोटे मोटे नलिनों की बक्षमाला से भूषित,

कामिनी का वदन, किसी वनदेवी का स्मरण करा रहा था किन्तु संगेमरमर में तराशी, ताजे कदली के स्तम्भों सी चिकनी सुपुष्ट अर्द्धनग्न जंघाएँ, हौले हौले; हिल हिलकर मन में सरसराहट पैदा कर रहीं थीं। गोरे अंगों में झलकती खून की लाली, जाने कैसे अंगारों को सजाकर, सामने कर देती थीं कि दृष्टि पड़ते ही, मन मोम की तरह पिघलकर रपटने ही लगता था।

राजा और न सह सका. हृदय तन के पिंजरे को तोड़कर, बाहर आने के लिए फड़फड़ा उठा। अंग अंग जलने लगा उसका। उसने अपने आप को बचाने के लिए आँखें मूंद ली, पर पलकों के आरपार होगया उसका रूप और पुतलियों में समा गई उसकी छवि; सांसों को रोककर खड़ी होगई तन की गन्ध। शिकारी खुद शिकार होगया था। कामना के उस कामुक जाल में जकड़ा गया था जिससे निकलना कठिन था। कुरंग की तरह तड़फाता रहा उसका जीव। जड़ हो गई चंचल जिह्वा, स्वर हो गये मौन। हृदय आलिंगन को तरस उठा, ढकी देह में नंगा मन मचलने लगा। दृष्टि बँध न सकी, कुलमुला उठी, ध्यान टूट गया। आँखें खोल दी। देखा तो लगा जैसे समुद्र में लगी आग. रूप में मदमाता यौवन. प्राणों को खींचता आकर्षण सारी सृष्टि को जला रहा हो। जलने लगा तन बदन। अद्‌भुत कसाव से ऐंठने लगा अन्तर्तल। मीठे मीठे दर्द ने, मूर्छा को आमन्त्रण देना प्रारम्भ कर दिया।

वासन्ती पवन का स्वर वाहक एक कोकिल जाने कहाँ कूक उठा? वह चौंक उठा। मौन वाणी को स्वर मिल गये उसके अधरों ने सहज ही उनके शब्द चूम लिये—

"कौन हो तुम···?"

प्रश्न का सही उत्तर न दे, मदमत्त ने मदभरी मुद्रा में, मन में तैरते प्रश्न को पूरा किया—"······क्या कोई अप्सरा······?"

वह समझ न पाई यह किस अवस्था में है मन का चिन्तन अजाने ही ओठों से फूटा पड़ा—

"किसी नशे में हो या पागल···?"

उन्मत्त राजा, अन्तिम शब्द की डोर पकड़, झूल गया, बहती भाव धारा में—

"·········पागल···? हाँ पागल कर दिया मुझे तुम्हारे प्यार ने···।"

वह अपनी सोच रही थी, "हाय राम! यह तो गले पड़ गया, तू किसे बचाने आ गई।"

"·········हाँ, तुम्हें ईश्वर ने देवदूत बनाकर भेजा है, तुम प्राण रक्षिका ही नहीं, मेरे प्राणों की संपोषिका हो······।"

"उन्मत्त······!"

"हाँ उन्मत्त ही कर दिया था, तुम्हारे तन की गन्ध ने······।"

"डूब मर······।"

"मर ही जाता, यदि तुमने दर्शन देकर न उबारा होता···।"

"यही तो भूल की······।"

' यह भूल बहुत मधुर है······।"

"बहुत कडवी हो जायेगी, अगर मैं अपनी पै आ गई···?"

"अगर तुम आ गई तो मेरा भाग्य खुल जायेगा······।"

"मेरा तो फूट जायेगा, अभागे।"

"अभागा नहीं सभागा हूं तुम्हें पाकर······सारा राज्य न्यौछावर कर दूँगा, एक बार मेरी होकर तो देखो सौभागिनी।"

"······तन पर कपड़े नहीं और राज्य न्यौछावर कर देगा······?मदान्ध !"

हँसी छूट पड़ी उसकी –

"राज्य ही नहीं, यह हृदय चीर कर तुम्हारे सामने रख दूँगा······। "

हाथ फैलाकर, वक्ष खोल कर दिखलाने की चेष्टा में चादर गिर गई और ना समझ नंगा हो गया···चिल्लाई वह।

"निर्लज्ज······!"

"अपने प्यार के पर्दे से ढक दो इसे, सलज्ज !"

वह उसकी ओर लपका और उसने अत्यन्त क्षिप्रगति से नाव को पलट, पानी में धकेल दिया उसे और चंचल मछली सी तैरकर द्वीप के दूसरे किनारे पर निकल गई वह किनारे पर आकर दौड़ती दौड़ती कौंधती हुई विजली की तरह घिनके वृक्षों में समा गई। वह आँखे मिचियाता ही रह गया —जैसे स्वप्न देखा हो। उसका मोह भंग हुआ तब, जब दूर से चिल्लाते अंगरक्षकों की पुकार सुनाई दी।

"महाराज ! घबराइये नहीं, हम आ रहे हैं······।"

शर्म से सुर्ख हो गया वह, घबरा कर पानी पर बहता कपड़ा खींच लिया उसने और उसे वदन पर ढकने का उपक्रम करके तैरते हुये कहा——

"कपड़े लेकर आये हैं महाराज।" चिल्लाये वे।

"आँखे बन्द कर कपड़े दे दिये, अंगरक्षकों ने। झटपट बाहर निकल कपड़े बदल रौब से गुर्राया——

"आँखें खोलो।"

"क्या बात है महाराज, कौन दुष्ट था······?"

"दुष्ट नहीं मगर मच्छ था···।"

"मगर मच्छ······।"

"नहीं बहुत बड़ी मछली···।"

"मछली···? क्या शिकार कर रहे थे प्रभु !"

"हाँ तुम जाओ मैं उसे जंगल में खोजता हूं···!"

"मछली ? और जंगल में ?"

"पर आदेश आदेश था, वे अपनी गुत्थी सुलझाने के प्रयत्न में, विचारते हुये, अपनी नौका पर लौट गये।

चरों के लौट जाने पर महाराज शान्तनु, कुछ आश्वस्त हुये उनका चित्त स्थिर हुआ। पता नहीं राजकीय वेशभूषा का प्रभाव था या कि स्थिति टकराव का ? वे कल्पना के वादलों की गोद को छोड़, यथार्थ के धरातल पर उतर आये। बुद्धि जागी और ग्लानि ने विवेक को जगा कर उठाया। अपने कृत्य पर विचार करते हुये, मन ही मन उन्होंने स्वयं को धिक्कारा—

"शान्तनु ! काम ने कितना विह्वल कर दिया तुम्हें ? एक शासक की गरिमा को धूल में मिला दिया तुमने। अपने वरदान को स्वयं ठुकरा दिया ? उपकार का वदला कृतज्ञता से न देकर, पशुवत व्यवहार से दिया तुमने ! प्राकृत मानुष का सा यह आचरण किस सभ्यता और संस्कृति का साक्षी बन सकेगा ? क्या अंगरक्षक मेरी अटपटी वाणी का अर्थ न समझें होंगे ? शासकीय प्रभाव के कारण पलटकर न देख सके तो क्या ? मन ही मन तो हँस रहे होंगे न तुझ पर ? अब वे काना फूँसी न करेंगे यह कैसे मान लूँ मैं ? बात पराई हुई तो प्रचार को आग पकड़ते कितनी देर लगेगी ? क्या सोचेगी प्रजा, इन आचरणों के परिप्रेक्ष्य में ? किस मुँह से उसे विधि और धर्म का नाम लेकर शासित कर पायेगा शान्तनु ?

नारी जो पूजा और प्रणय की मूर्ति है उसे मात्र वासना की कठपुलती समझ लिया। वह एकान्त, वह रूप, और वह गन्ध क्या नाम लेकर कोई अपने कृत्य पर आवरण डाल सकता है ? शत्रु के कौशल का नाम लेकर क्या आक्रमण की दी हुई पराजय को स्वीकार किया जा सकता है। हाय ! क्या हुआ सिन्धु से उद्दाम, मेरे असीम वल का ? संसार जिसकी जय जयकार करता है, वह एक रमणी के सामने घुटने टेक कर बैठ गया और उसे पानी में डूब मरने के लिये धकेल गयी। असभ्य मल्लाह की बेटी सभ्य कुरुवंशी को गौरव गरिमा को पलीता लगाकर चली गई। चट्टान सी छाती से ढका मेरा अटल संकल्प, पलभर में डगमगा उठा। सूर्य किरण सी दीप्ति को कामना का अन्धकार पल भर में चाट गया। कुण्डलीक काल का व्याल जिसकी भुआओं के गरुड़ वल से काँप उठता था, उसकी फूत्कारों ने, पल भर में, निश्वासों का रस ले लिया। छाती पर वज्रों को झेलने वाला, सिंह से पंजा मिला कर खेलने वाला, विकट योद्धा, फूल की पाँखुरी सी उस रमणीयता के सामने, घायल होकर गिर पड़ा। वादलों के सिर पर विमान लेकर दौड़ने वाला, समुद्रों के अतल जल में पनडुब्बी की तरह डुबकियाँ लगाने वाला, शक्ति के रहते निरुपाय क्यों हो गया ? मानवीय सभ्यता का अग्रदूत, नारी के वंकिम नयनों से विंधकर, प्राकृत पशु ही वन बैठा।" रूपसी की मुस्कान किसे उन्मत्त नहीं कर देती ?···पर कहाँ है मुस्क्यान··· यहाँ कोप की विजली कौंध उठी, क्यों···? क्योंकि किसी का हृदय जीते विना आगे बढ़ने वालों की यही गति है। हाय कितना असंयमी हूं···गङ्गा। तेरे विरह ने, मेरी क्या दशा कर दी। अब तो लौट आ···क्या सचमुच लौट आयेगी तू···? नहीं, कैसे

लौट आयेगी ? जो अपनी कोख को चीर कर उससे उत्पन्न होने वाली सन्तान को भी स्वयं गंगा की लहराती क्रोड़ को सौंप सकती है, वह कैसे लौटेगी···फिर कहाँ जायेगा काम विरही ? कैसे कह दूं कि यह अग्नि मुझे उदीप्त न करेगी ? क्या बार बार, इसी प्रकार का पाशविक आचरण होगा मुझसे ? नहीं और परिहास का पात्र न बन सकूँगा मैं। पुरुवंश की गरिमा यूँ हँसी न करायेगी अपनी । जैसे भी होगा योजनगन्धा को ही अपनी बनाऊँगा, उससे विवाह करूँगा, पर हाय क्या वह मान जायेगी ? दाश पर दबाव डालू, क्या बलपूर्वक अधिगृहण न होगा यह ?···पर रत्न होती है नारी, क्या राज्य से रत्न चुनने का अधिकार नहीं है राजा को ? क्यों नहीं, श्रेष्ठतम वस्तु उसी के संरक्षण में सुरक्षित रह सकती है।···पर प्रजा तो सन्तान होती है ?······सन्तान तो नहीं वह मेरी, वह तो गंगाघाट के मल्लाहों ने पाली है। चेदि नरेश उसे अद्रिका की जारज सन्तान कहते हैं। किन्तु वह निर्धन शरणार्थी की पोषित पुत्री है ?······निर्धन कहाँ दाशराज ? वह तो मल्लाहों का अधिष्ठाता है, क्या उससे मेरा सम्बन्ध राज्योचित न होगा ? हाँ उससे मैं समानता स्तर पर बेटी का हाथ मांगूंगा। ···क्या मान जायेगा ? मेरी उम्र क्या है ? उम्र से क्या होता है, पुरुष साठे पर पाठे होते हैं, न जाने कितने युवक वेश के अभाव में अल्पावस्था में ही वृद्ध हो जाते हैं। मेरे पास अनन्त ऐश्वर्य है। क्या उसे सुख का लोभ आकृष्ट न करेगा ?······ किसी कद्दावर मल्लाह के बेटे से अनुराग तो नहीं उसका ?······नहीं ऐसी तो कोई सूचना नहीं, फिर एकाकी यहाँ रह पाती क्या ? संस्कार भी ऊंचे हैं उसके पूरी गंगा की तरह दीखती है, मैं उसका वरण अवश्य करूँगा······पर देवव्रत······? क्या मान जायेगा गांगेय ? मानेगा क्योंकि नहीं पुरुवंश की मर्यादित सन्तान है वह ······न माना तो···?···न माने, वह गंगा का बेटा है, गंगा ने मुझे कौन सा सुख दिया है ? बिछोह से तड़पा, वियोग में दहका हूं मैं······अब दिखाना है कि शान्तनु का ऐश्वर्य जाने कितनी गंगा सी रूपसियों को अपना बना सकता है। उसके कृत्य का दण्ड भी इसी में छिपा है······मैं योजनगन्धा से विवाह अवश्य करूँगा यह मेरा अटल निश्चय है—एकान्त के भावावेग में, सम्भवतः आस पास का ध्यान न रहा था, अन्तिम शब्द बाहर आ गये और ऊंची आवाज़ ने वायुमण्डल को गुंजा दिया—उसे ध्यान ही न था कि देवव्रत, दाश, और सैनिक कितना निकट आ चुके हैं योजनगन्धा की गन्ध तो अब हर पल उसके मस्तिष्क में समाई रहती थी अतः उसकी उपस्थिति का वह अनुमान न कर सका।

चाटुकार अधिकारियों ने तुरन्त आगे बढ़कर हाँ में हाँ मिलाई––

"हाँ, क्यों नहीं महाराज ? आपको, अब तो विवाह कर ही लेना चाहिये, इसमें निषादराज को तो गौरव ही प्राप्त होगा······?"

"किन्तु मुझे नहीं होगा······।" चीख उठी सत्यवती योजनगंधा।

राजा को उद्दीप्त अंगारे ने छू दिया, उछल पड़ा सामने देवव्रत को देख,

लज्जित हो गया······झेंपते हुये बोला—"आ बेटे आ······कितना बड़ा हो गया तू ? आज तक तो तेरे उन्हीं चित्रों से खेलता रहा जो चोरी से, यदा कदा कोई चित्रकार, पहुंचा देता था। आज तुझे पाकर धन्य हो गया मैं······तेरी माँ·······? क्या नहीं आई······नहीं आयेगी वह······मैं जानता था दृढ़ संकल्पवती है वह। तुझे पालकर बड़ा कर देने भर का वचन दिया था उसने······वह वचन पूरा हो गया······अब क्या आयेगी···आज अन्तिम आशा भी समाप्त हो गई···कभी न आएगी···।"—राजा सिसक पड़े—

"मैं सोचता था दो सन्तान तो हों कम से कम ? एक भाई दूसरे की मुसीबत का साथी हो···भगवान न करे, एक को कुछ हो जाये तो···?···राजा दशरथ के भी चार थे······एक कन्या भी······पर मैं तो कन्यादान का पुनीत यज्ञ भी न कर पाऊंगा······चलो कोई बात नहीं, किसी ब्राह्मण की कन्या का विवाह कर कन्यादान का पुण्य प्राप्त कर लूँगा।······पर पुत्र···?···पुत्र···एक···? एक ही सही···गुणी है मेरा बेटा, चाँद सा अकेला, हजारों नक्षत्रों में दमकेगा······।"

वह प्यार से, उसका मस्तक चूमने के लिये, आगे बढ़े। पिता की मनस्थिति को परख लेने वाला कुशाग्र बुद्धि देवव्रत, बीच में ही चिल्ला पड़ा—

"······नहीं पिता जी ! यह विवाह आपको करना ही होगा।"

राजा सकपकाया, स्वयं को झुठलाने का अभिनय करने लगा।

"कौन सा विवाह करना होगा बेटे ? बेटा। तेरे जैसा बेटा पाकर भी किसी को कुछ और पा लेने की इच्छा शेष रह जायेगी ?"

"मुझे झुठलाने का प्रयत्न न करें पिता श्री ! मैंने प्रथम दर्शन किये हैं आपके आज, और आज ही अमंगलकारी हो जाऊँ आपके लिये ? पौरव हूं मैं, क्या पिता की इच्छा पूरी न कर सकूँगा मैं, मुझे आज ही धिक्कार का पात्र सिद्ध कर देना चाहते हैं क्या ? मेरे पूर्वज ने तो पिता के लिये अपना यौवन भी दे दिया था···उत्तमश्चिन्ततु कुर्यात् उत्तम बेटे को पिता के मन में आये कार्य सिद्ध करना चाहिये। मैं इतना भी नहीं कर सकता क्यों ?"

राजा के नयन भीग गये, आनन्द से गलदश्रु होकर वह कृतकृत्य हो गया गंगा के प्रसाद से; मन ही मन, गंगा की स्तुति करने लगा; गर्व से तन गया उसका सीना, उत्तम बेटा पाकर। सीना फूलने लगा···पर तभी वज्र प्रहार हुआ उस पर—

"यह विवाह नहीं होगा······।" चिल्लाई मल्लाह की बेटी। किन्तु गांगेय की गर्जना ने दबा दी वह आवाज—

"यह विवाह होगा, होकर रहेगा, यदि मेरे धनुष की डोरी किसी भी बाण को अपनाने की शक्ति रखती है तो कोई मेरे पिता को 'ना' कहने का साहस कैसे कर सकेगा ?"

'क्या अपहृण करेगा तेरा बाप ?···याद रख यहाँ मल्लाहों ने भी चूड़ियाँ नहीं पहिन ली हैं। सिंहनी के गर्जन पर त्यौरियाँ चढ़ गई वीर बाँकुरे ब्रह्मचारी की

……मल्लाह परशुराम के आश्रम में उसका कौशल देख चुका था। वह गांगेय को कन्धे से धनुष उतारता देखकर सकपकाया, और बड़े जोर से बेटी को डाँटा--

"चुप रह दम्भिनी ! क्या कभी भी विवाह न करेगी ? एक दिन तो हर बेटी को पराई होना पड़ता है बावली ! फिर यह सौभाग्य कहाँ मिलेगा तुझे ? क्यों अपने भाग्य को ठोकर मार रही है…शान्त हो जा।

फिर देवव्रत की ओर मुँह करके बोला

"बेटा देवव्रत ! अनुभवहीन है, कुमारी है, किशोरी यह लड़की, इसकी बातों पर न जाना। बिल्कुल अकेली रहती है. किसी तपस्वी की छाया पड़ गई है इस पर …तपस्विनी होने का रंग चढ़ गया है, विवाह से विराग हो गया है……मैं समझा लूंगा इसे……।"

कुलमुला कर रह गई मत्स्यगन्धा, कैसे उन्हें बता दे या समझा दे कि वह कुमारी नही एक पुत्र की माँ है… कहाँ है पराशर ? आ क्यों नहीं जाते अब ? प्रकट होकर मेरी सन्तान को प्रत्यक्ष क्यों नहीं कर देते ? अकुलाकर सिसक पड़ी परवशा…उसकी अकुलाहट को पिता ने परखा और देवव्रत से बोला--

"बेटा पुरुवंश को कन्या देकर निषादों को कौन सा गौरव मिल जायेगा ? आप लोगों को बेटी देकर बहुत खुशी होगी मुझे…किन्तु…।"

"किन्तु क्या, हिचकिचाइये नहीं मुँह से साफ साफ कहिये दाशराज पिता की इच्छा पूर्ण करने के लिये धरती और आकाश एक कर दूँगा मैं कुछ भी करने को प्रस्तुत हूं मैं ? आप बोलिये, कितना धन चाहिये आपको ?

निषाद की भवें टेढी पड़ गईं, किन्तु किसी तरह पी गया आक्रोश को वह। स्वर को संयत कर, विनम्रता से बोला--

"क्षमा करना राजकुमार ! गरीब मल्लाहों के टोले में, राजा गाधि की तरह, कन्याओं का विक्रय नहीं किया जाता।"

'फिर क्या चाहते हो, मुँह से तो फूटना ही होगा… ।"

"महाराज की उम्र…?"

"राजा की उम्र नहीं देखी जाती दाश !"

"तुम ही, क्यों न, इसे स्वीकार कर, राजवंश की वृद्धि करो…?"

"दाश ? चुप रहो…जरा होश में बोलो।…क्रोध के आवेश में चिल्ला पड़ा कुमार…किन्तु पिता का कार्य सिद्ध करने के लिये ठण्डा पड़ गया, और उसके स्वर में अप्रत्यक्ष कातरता झलक उठी।

"नहीं निषाद राज ! अनर्थ न करो ऐसा न बोलो, क्षत्रिय होकर भी मैं तुम्हारे पैर पकड़ने को तैयार हूं……किन्तु वह नही हो सकता जो तुम कह रहे हो। जिस स्त्री पर मेरे पिता की दृष्टि पड़ चुकी है, वह मेरी माँ है और उसके लिये

'पत्नी' शब्द पुकारना तो क्या सुनना भी अधर्म है मेरे लिये में प्राण दे सकता हूं किन्तु धर्म नहीं।"

सम्पूर्ण समाज स्तम्भित था, इसे सुनकर 'धन्य धन्य' कर उठा एक ओर से आवाज आई--राजकुमार देवव्रत की···?

"जय ऽऽऽ।"– सारा वायुमंडल गूंज उठा--देवव्रत चीख पड़ा··"

"नहीं, जय नहीं पराजय है···जब तक यह कन्या मेरे पिता की सहधर्मिणी न बन जाय, देवव्रत के संकल्प की पराज्य है यह।"

मल्लाह ने देवव्रत के अटल संकल्प का अनुमान लगाया और विवश हो गया, तो भी स्थिति को संभालने का प्रयत्न करते हुये, अत्यन्त करुण स्वर में बोला—

"मैं पूछता हूं, आखीर क्यूं मेरी बेटी के भविष्य को उजाडने का संकल्प ले रहे हो तुम ? क्या अपराध किया है उसने तुम्हारा ?"

"भविष्य उजाडना नही, बनाना चाहता हूं और इसके लिये मैं कुछ भी बलिदान देने के लिये कृत संकल्प हूं।"

मल्लाह का स्वर उग्र हो गया—

"कैसे बन जायेगा भविष्य, राज्य पर तुम्हारे अधिकार के रहते हुये ?···क्या तुम भावी राजा नहीं हो ? क्या मेरी लाडली को एक मामूली दासी के रूप में जीवन बिताने पर बाध्य न होगा पड़ेगा ?

राजकुमार गरज उठे—

"नहीं ऽऽ। तुम्हारी बेटी दासी नहीं राजमाता बनेगी···मैं प्रतिज्ञा करता हूं, तुम्हारी बेटी की सन्तान ही पुरुवंश की भावी शासक होगी ?

उपस्थित सम्पूर्ण समुदाय के साथ शान्तनु भी अकुला उठे। वे चिल्लाये—

"नहीं ऽऽऽ, मैं अपनी इच्छा पर तुम्हारे अधिकार का बलिदान नहीं कर सकता······ना, इतना नराधम नहीं हूं मैं ऽऽ···मैं कहता हूं यह नहीं होगा···नहीं होगा यह···नहीं हो सकेगा मुझसे ऽऽ। मुझे क्षमा कर दे मेरे बेटे !···मेरे लाल···!"

अत्यन्त दृढ़ता से बोला; गांगेय—

"यह होगा, मैं कहता हूं यह हो चुका···पिता जी। मैं गङ्गा का बेटा हूं, गङ्गा आगे बढ़ती है पीछे नहीं हटती···मेरी प्रतिज्ञा झूठी न होगी···मैं हस्तिनापुर के राज्य को अब अंगीकार न कर सकूंगा।"

मल्लाह ने फिर भी उसे हतोत्साहित करने के लिये शंका रखी—

"किन्तु तो भी, तुम्हारी सन्तान तो, अपने खोये हुये अधिकार के लिये संघर्ष कर सकती है ?"

देवव्रत उसी दृढ़ता से बोले –

"मैं प्रतिज्ञा करता हूं···कभी भी विवाह न करूंगा और आजन्म ब्रह्मचारी रहूंगा जब सन्तान ही न होगी, तो कौन अधिकार मांगेगा ?"

सबके चेहरे फक पड़ गये, पसीने चुचियाने लगे माथे पर। राजा स्वयं को कोस रहा था—देवव्रत गरजा—

"शीघ्र बोलो दाशराज ! क्या कहते हो ? क्या इसके बाद मुझे शस्त्र उठाने का अधिकार न होगा ?"

विवश होकर मल्लाह को स्वीकृति देनी पड़ी। घिसटती सी एक आवाज निकली थरथराते गले से—

"मैं अपनी बेटी योजनागंधा को, कुरुवंश की पटरानी के रूप में, राजा शान्तनु को, सहर्ष समर्पित करता हूं।"

दौड़कर पुत्र ने पिता के चरणों को छुआ, किन्तु पिता ने ज्यों ही उसे आलिंगन में भरना चाहा, बाँहे फैली की फैली रह गयी क्योंकि पुत्र तब तक, छिटककर सत्यवती के चरणों में जा पहुँचा था और उसकी चरण रज अपने मस्तक पर धारण कर रहा था—

"माँ। मुझे क्षमा करना, दया कर अपना मातृत्व प्रदान करो···माँ मेरी माँ अब तक स्वर्गपुरी के लिये प्रयाण कर चुकी होंगी···मुझ मातृहीन को माँ की ममता चाहिये···सच कहता हूं माँ···मैं तुम्हारे पादारविन्दो का सेवक बनकर अपना जीवन काट दूंगा···मुझे कोई अधिकार नहीं, आपका आशीष चाहिये। आशीर्वाद दो माँ ! माँ आशीर्वाद दो···दो आशीष···माँ, माँ···

जाने वाणी में किस ओज का आग्रह था, करुणा स्वयं विगलित होकर फूट पड़ी। यंत्र चालित से, माँ सत्यवती के 'ममतालु' हाथ अपने धर्म पुत्र देवव्रत के शीष पर स्वयं वरद छाया करने लगे।

सबकी आँखों से टपटप आँसू पड़ रहे थे। आसमान में, उमडती घुमड़ती भावनाओं की तरह मेघ घिर घिर कर सिमटने लगे। टपटप बूंदें पड़ने लगी। शायद आसमान की छाती तडफडा उठी थी। कहीं भयंकर गर्जना हुई और अचानक किसी तडपती प्रकाश पंक्ति की तरह विजली कौंध कर उसी में समा गई।

लोग अब भी फुसफुसाते रहे थे—

"भीष्म प्रतिज्ञा है यह···भीष्म है देवव्रत···।"

जाने किस कोने से एकाएक कोई चिल्ला पड़ा—

"देवव्रत भीष्म की ऽऽऽ···?"

"जय ऽऽऽ······।" वायुमंडल गूंज उठा, और सारा जंगल चीखने लगा—जय जय जय ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ।

———

यौवन के क्रन्दन में हृदय का आक्रोश और प्रतीक्षारत आँखों में आँसुओं की अखिल धारा लिये, योजनगन्धा सत्यवती नारी जीवन की विवश कथा दोहराती हुई, हस्तिनापुर के राजमहलों में समा गई। कर्मशील दायित्व का भार ढोने वाला मल्लाह, अपनी छाती पर अनुबन्ध का पत्थर धरकर, ऐसा टूटा कि असमय ही बूढ़ा दिखाई पड़ने लगा। देवव्रत के उदार चरित्र की उजली चादर और जय जयकार के घटाटोप आवरण में महाराज शान्तनु का वीरोचित व्यक्तित्व, अपकीर्ति और उपरामता के अन्धेरों में खोकर रह गया। मधु कामी भ्रमर की सम्पूर्ण कामना, एक विकसित कली के सौन्दर्य पाश में, आबद्ध हो गई और विलासिता ने राज्य कार्य के विशाल प्रबन्ध का भार किशोर-वय-कुमार के कोमल कन्धों पर डाल दिया। शक्ति से शास्त्र और परशु भूषण से शस्त्र की शिक्षा लेने वाला, ऋषि परम्परा में पला सरल क्षत्रिय युवक, ज्ञान, पौरुष और न्याय के चिन्तन में तो अग्रगन्य रहा किन्तु प्रशासन के कूटनीतिक प्रपञ्चों में पिछड़ने लगा। दीर्घ काल से नारी के विलासी शरीर से वियुक्त, राजा की वासना, मत्स्यगन्धा के मांसल रूप को पाते ही, भूखे भेड़िये सी भड़क उठी। मदमाती जुल्फों के घने अन्धेरों में उनका मन उसके यौबन का रक्त चाटने लगा। वह पिता के हारे हुये वचन की जंजीरों से जकड़ी 'ना' कहने का अधिकार खो चुकी थी, बस एक सन्तान की आशा में वह रात दिन अपना शरीर नुचवाती रही, पर उसका मन उसके तन का साथी न था और चित्त जाने कहाँ उड़ा उड़ा फिरता था। वासना की उद्दीप्त शिखा पर मंडराता पतंगा, यह भूल गया था कि भोक्ता भोगने का दम्भ कर सकता है किन्तु भोग भोक्ता को ही भोग जाते हैं; तृष्णा कभी शान्त नहीं होती हाँ तृषित को चिरशान्त कर देती है, काल स्वयं सतत प्रवाह शील रहकर अनन्त जीवधारियों का निपटारा कर देता है।

राज्य और प्रजा सदैव राजा का अनुकरण किया करते हैं। शान्तनु की प्रजा मिथ्याचार की दिशा और राज्य अनाचार की ओर अग्रसर था। भीष्म देवव्रत का संयम भी दुराचार के वेगवान प्रवाह को रोकने में असमर्थ था क्योंकि लोगों को उसका अस्तित्व ज्ञात था। उन्हें पता था कि न वह भविष्य का शासक है और न वर्तमान का अधिकारी। कुवृत्त एवं कुकृत्य की निशंकता के लिये इतना पर्याप्त था। सामन्तों और सैनिकों में शूद्रों की कन्याओं से रास रचाने का चाव पैदा हो गया था। निर्वन्ध कामाचार की एक नई रूढि, एक नये फैशन ने जन्म ले लिया था। अवैध और वर्णशंकर सन्तानों से समाज की आत्मा टड़प उठी। वासना के ज्वार में, क्षत्रियों की कामना ने, ब्राह्मण कन्याओं के वरण का समाचरण भी किया, जिससे सूत नाम की एक

विशिष्ट जाति का जन्म हुआ, किन्तु जाति च्युत वह सन्तान, न तो क्षत्रियोचित कर्म में ही प्रवृत्त हो सकती थी और न ही ब्राह्मणोचित यज्ञादिक कर्म की अधिकारिणी हो पायी · आक्रोश और करुणा, नैराश्य और तपस्या तथा ज्ञानदान और अभिमान के द्वन्द्वों से पीडित उनकी आत्मा, सन्तोष और ईश्वर चिन्तन को निमित्त बना भक्ति की आधार शिला पर अध्यात्मिक कथाओं का शरीर लेकर खड़ी हो गई जो असुरों की आस्था और अन्धविश्वास का मधु लेकर, प्रेम और अहिंसा का करुणामय पुष्प बनकर खिली थी। सूतपुत्र रथ हाँकते, कथा वार्त्ता कहते और कभी कभी हथियार भी चला लेते थे। कुछ नैमिषारण्य की वनस्थली में ब्राह्मणों जैसे आचरण भी करने लगे थे। उनके साथ कुछ निषाद भी, शक्ति की कृपा से, ब्राह्मण बन, आ मिले थे। यादवों में यदुवंशी क्षत्रिय, जाट, अहीर, गूजर, कुषाण, हूण तथा विदेशी, पणिकों, नन्दों, मौर्यो माँगलिक मन चौरों नव विस्थापितों की ऐसी गुप्त जातियाँ विचर रही थी जिनका पेशा, पशुचारण और दुग्ध उत्पादन था। ये मस्त रहते और शरीर सौष्ठव की ओर विशेष ध्यान देते थे। इनमें रूपसी नारियों और सौन्दर्यशाली पुरुषों का आकर्षण, देवदानव और ऋषिमुनियों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था किन्तु इनकी गणतन्त्रात्मक व्यवस्था और आपसी संगठन इतना दृढ था कि प्रबल से प्रबल शत्रु को भी मुँहकी खानी पड़ती थी क्योंकि इनके छोटे २ दल छिप छिप कर अकस्मात वानरों एवं गुरीलों के झपट्टे की तरह वार करते थे। अनेक नट नागर तो उनमें चुस्ती, स्फूर्ति और शक्ति के लिये प्रसिद्ध हो गये थे। कर्म साङ्कर्य के कारण ही ययाति के ब्राह्मणत्व और के क्षत्रियत्व का अद्‌भुत सम्मिश्रण था।

यदुवंशियों का एक वर्ग क्षत्रियोचित व्यवहार भी करता था। गुर्जराष्ट्र के आस पास इसने भी अपने राज्य स्थापित कर रखे थे किन्तु राज्य परम्परा निरंकुश नहीं थी और उनका सम्बन्ध प्रायः मथूरा के भोजवंशियों से बना रहता था। इनके धर्मविरुद्ध आचरणों के कारण देवताओं और वसुओं के नाम पर विशेष अनुराग था। अपनी विभूति और ऐश्वर्य के कारण कुछ इनमें वसुदेव भी कहलाने लगे थे। यथा समय भगवानविष्णु भी इनकी सहायता को तत्पर रहते थे। ययातिके पक्षपात से राज्य भ्रष्ट होने पर शत्रु की सन्तान निर्वासित होकर आर्यावर्त से बाहर, दजला फरात की घाटी के देशों, पश्चिम जम्बू द्वीप चली गई। जार्डन नदी के तट पर जुडाई राज्य की स्थापना की गई फिर भी प्रभास पट्टन और द्वारिका के बन्दरगाहों से यह आर्यावर्त्त में प्रवेश करती रही।

अंशु के पुत्र सात्वत ने दासी पुत्र नारद से भागवत् धर्म की दीक्षा ली। ज्ञान, कर्म और भक्ति के समुच्चय की साधना ही भागवत धर्म की आधार शिला थी। उस समय १६ जनपदों में गहरी स्पर्द्धा दीख पड़ती थी। कुरू पांचाल, शूरसेन, वत्स, कौशल, मल्ल, काशी, अंग, मगध, वृज्जि, चेदि, मत्स्य, अस्मक, अवन्ती, गांधार और काम्बोज समृद्ध थे, शाक्य ममसुमर गिरि, भग्गा और पावापुरी तथा कुशी आदि

कुछ छोटे छोटे राज्य थे।

जिस दिन मत्स्यगन्धा के गर्भ से राजा शान्तनु को दो पुत्र प्राप्त हुए थे उस दिन मल्लाहों के टोले में पूरा आनन्द मनाया गया। वे मस्ती से छककर सारी रात यमुना के रेतीले कछारों में रास रस का हुडदंग मनाते रहे। प्रातः सबने बूढ़े दाश के घर के सामने तरह तरह की भेंटों, मूंगे, मोती, शंख शीप, मगर-खाल, रंगीन थैलों, कौडियों की मालाओं, स्वर्ण कंकणों, अनोखे खेल खिलौनों: लकड़ी पत्थर की मूर्तियों, आदि का ढेर लगा दिया। रंग विरंगे कपड़ों में बना ठना बूढ़ा पूरी सज धज के साथ माल का छकड़ा भरं छूछक लेकर हस्तिनापुर की ओर चल दिया।

मार्ग में उसे अनगिन मत्स्य बालाओं ने घेर लिया। उन निषाद कन्याओं को उस रूप में देखकर मल्लाहों का नेता बूढा दाश चकित रह गया। उनमें अनेक ऐसी थीं जो काफी समय ले टौले से गुम थी जिनके माँ बाप आज तक सिसकियाँ लेकर रोते रहते थे। इन लड़कियों में अधिकांश की गोद बच्चों से भरी थी किन्तु उनकी ठठरियाँ फटे वस्त्रों की मैली गन्ध उनके भिखमंगे स्वरूप और निर्धनता की करुण कहानी कह रही थी। दाश को घेर वे आर्त्त स्वर से रो पडीं। उससे रहा न गया उनकी हीन दशा देखकर वह विह्वल होगया और छकड़े से नीचे कूद पड़ा। बड़े प्यार और सहानुभूति से उसने पूछताछ की--

"बेटी! तुम यहाँ क्या कर रही हो इस हीन दशा को कैसे पहुँची तुम?"

"हमारी महत्वाकाँक्षा हमें ले डूबी दादा! बड़ी दीदी की तरह हमने भी राजमहलों के स्वप्न बुन लिये थे। अनेक सामन्तों और सैनिकों ने हमें प्रलोभन दे देकर लुभाया और कुछ काल तक हमारे मांसल सौन्दर्य से खेल खेल कर ये जीवित खिलौने, हमारी कोख में घुसेड़, जाने कहाँ खिसक गये। हम इन्हें दूध कहाँ से पिलायें, हमें भी दो जून रोटी प्राप्त नहीं? अपना और इनका दोनों का पोषण करने में असमर्थ हम दर दर की भिखारी होगई। हमारी मजबूरी का फायदा उठाता है आदमी,हमदर्दी का ढोंग रचाता जो भी आता है, अपनी साँसों में हविश की बदबू लिये; धातु के दो टके सामने डाल शरीर को नोच खसोट कर गायब हो जाता है......।"

"बस बन्द करो ऽऽऽऽ।" जोर से चीख पड़ा मल्लाह, आगे सुन न सका--

"क्या सुनाती हो मुझे, यही सब सुनने के लिए जिन्दा हूं क्या मैं......आगे सुनने को और क्या रह गया? हे भगवान! यही सब सुनवाने के लिए क्या इधर भेजा था मुझे? जिस नेता के अनुयायियों की यह दुर्दशा हो, उसे स्वर्ग तो क्या घोर नरक में भी स्थान न मिलेगा, वह कीड़े मकौड़ों की शक्ल में सिसकेगा नालियों के मल में पड़ा हुआ। मैंने जनता के विश्वास को धोखा देकर अपना घर भर लिया अपनी सन्तान का शृंगार कर दिया, अपने सम्मान का पक्ष प्रबल कर लिया, कितना कृतघ्न, कितना नीच और कितना विश्वासघाती......और जिम्मेदार हूं......।"

क्षोभ से उसका सारा शरीर काँप उठा, उसे चक्कर आगया उसने अपनी छाती की खाल को पूरे पंजे से चौंटते हुये, किसी तरह, तडपकर बाहर निकल आने को आतुर, हृदय को सम्भालने का प्रयत्न किया किन्तु बरसों से बने अनगिन घावों के उभरते दर्द को दवाने में असमर्थ रहा वह। मूर्छित होकर गिर पड़ा। तथाकथित सभ्य नागरिकों के नृशंस विश्वासघात और बेटी के असीम दुःख की कल्पना कर वह आगे बढने का साहस न जुटा सका। उसकी आशा टूट चुकी थी और उसके स्वप्नों की भांति उसकी सांसें भी बिखर कर रह गईं। सुख के बाद प्रबल दुःख का संघात वह बूढा शरीर सह न सका और विश्वासघाती संसार की दुःख भरी कैद को छोड़ तथा गरीबी की क्रूर जंजीरों को तोड़कर, सुख दुख की अनुभूतियों से दूर द्वन्द्वातीत अदृश्य लोक के मुक्ति पथ पर निकल पड़ा। जाने क्या देखकर छकड़े के बैल डकरा उठे और जुआँ तुड़ा कर भाग निकले। सारे उपहार टूटी हुई माला के मोतियों की तरह, बिखर गये। बालाएँ देखती रह गई। रोक न सकी। चीत्कारों से भरा आसमान ऐसा लग रहा था जैसे परमात्मा अपनी सृष्टि की दुर्दशा देखकर डकरा उठा हो।

सैनिकों ने बूढ़े दाश का शव जब मत्स्यगन्धा के द्वार पर रखा तो विश्वास न कर सकी वह, चिल्ला पड़ी--

"नहीं ऐसा नहीं हो सकता? बाबा! मुझे छोड़कर नहीं जा सकते।······मैंने तुम्हारा वचन निभाया है तुम्हें मेरा वचन निभाना पड़ेगा······नहीं बाबा, नहीं, ना······इस भीड़ भरे एकान्त में तुम्हारा बीता हुआ प्यार ही तो मेरा सम्बल था ······तुम्हारी शक्ति के बल पर तो मैं यमुना की कछारों में उन्मुक्त घूमती थी······ इन शरीर के भूखे भेड़ियों के बीच, अपने खूंटे से बंधी काली गैया को, धकेल कर तुम अचानक कहां चले गये बाबा······।"

शान्तनु ने सान्त्वना के लिए उसका कन्धा दबाया अचानक झटके साथ, सिंहनी सी पलट पड़ी वह। उसकी प्रतिहिंसक दृष्टि से राजा सहम गया। दृष्टि न मिला सका। उसकी साँसे फफक फफक फूत्कार रही थी जैसे चण्डिका काले काले मेघों में कड़क कर अट्टहास कर उठी हो—

"तूने मेरा सब कुछ लूट लिया शान्तनु! मैं नारी जाति के अपमान का बदला लूँगी तुमसे, नारीके अन्तर्विद्रोह की प्रतिमूर्ति बनकर जीऊँगी, जीवन भर अदृश्य संघर्ष करूँगी विश्वास से ही विश्वासघातियों को चोट दूँगी।"

अकस्मात उसकी दृष्टि चित्रांगद और विचित्रवीर्य के नवजात शरीरों पर पड़ी, उसने वितृष्णा से ऐसे मुँह फिरा लिया, जैसे प्यार की सौगात नहीं शरीर का मल हो।

राजा काँप उठा, अकुलाकर बोला--

"मैं वचन देता हूं देवि ! एक एक आततायी का पता लगाऊँगा, कठोर दण्ड देकर तुम्हारे पिता की आत्मा को शान्ति दूँगा।"

अचानक कठोर होगई वह जैसे राजा की बात पर उसे तनिक भी विश्वास न हो। क्रोध से थूक उठकर चलदी। राजा के पौरुष को खा गया उसका तिरस्कार। वह पग-पग पर, मृत्यु के पल गिनता हुआ, जल्दी-जल्दी जीवन के पृष्ठ पलटने लगा। अतीत की परछाइयों में बैठा भविष्य वर्तमान के चित्र अंकित कर रहा था।

वद्रीवन में अपने पुत्र पराशर की तलाश करते हुये, महर्षि शक्ति भटककर, पूरी तरह थक चुके थे। निराश होकर उन्होंने, योग समाधि में चिन्तन करना उपयुक्त समझा और पहाड़ की चोटी पर कोई एकान्त सुन्दर स्थान खोजने लगे। जिधर देखो उधर ही वर्फीली चोटियों को चूमते, धुँआले वादल और तन को झकझोरते, वर्फीली हवा के झोंके, मन को स्थिर रखना कठिन लगा उन्हें। सहसा हिमानी चाँदी में, लालमणि की आभा फूटने लगी औंर स्वर्णिम दीप्ति उसको घेरकर इठलाने लगी। चमचम करती रूपहली किरणों में, इन्दधनुषी छटा, छिटककर, रोमाँचित तनमन को अपूर्व आनन्द से आप्लावित कर उठी। कहीं दूर पर पहाड़ियों में गूँजती हुई किसी मनमोहक वंशी की ध्वनि ने उनके चित्त को वरवस आकृष्ट कर लिया। लगता था जैसे वादक की संगीत लहरी में, सामवेद की अपौरुषेय ऋचाएँ, उभरकर, वायुमंडल में घुलकर, धीरें २ मधुर तरंगे वना रही हैं। वह ध्वनि के उद्गम की ओर यंत्र-चालित से स्वतः ही खिंचते चले गये औंर जव उन्होंने देखा, तो देखकर चकित रह गये, उस अभिराम मनोहारी दृश्य को।

स्वर्णिम-पीताभ-पिंगल-जटाओं से घिरे दीप्तिमान सौम्यमुखमण्डल पर, प्रस्फुटित होते हुए वाल सौन्दर्य का, दिव्यालोक। साँवले शरीर में सहज सुलभ तेजस्विता, उदयकालीन नील घन युक्त आकाशीय श्रृंगार से फूटती सूर्य की अरुणिमा का आभास करा रही थी। साँवले शरीर पर तुषार कणों से आवृत्त, पीला आच्छादन ऐसा लगता था जैसे हरे भरे छोटे से शाल के वृक्ष पर, पीले फूलों से भरी लिपटी हुई कोई मदमस्त लतावल्लरी हो। लाल अधरों पर, संगीत का स्रोत बनकर, इठलाती मधुर मुरलिका, नाचती थिरकती पतली पतली उंगलियों के बीच, मानों प्रकृति को मोहने के लिए विराट वाल पुरुष का अद्भुत सम्मोहन वनकर, प्रकट हो रही थी। वालसुलभ सौन्दर्य की कान्तिमय कमनीयता के सहज मृदुल प्रवाह में आकर्षण की डोर से वन्धे शक्ति संगीत की मूर्च्छनाओं में डूव उतरा रहे थे। क्षण भर में भूल गये, वह कौन हैं, कहाँ हैं, कहाँ से किस लिए वहां आये हैं? उनकी ध्यान समाधि भङ्ग हो गई, जव उन्हें देखकर, वालक के वाँसुरी ओठों से अलग कर दी औंर खिंची वीणा के टूटे तार सा, उनका मन अकस्मात झनझना उठा। देखा गुलावीं ओठों पर अलसाई मधुर मुस्कान आ बैठी थी······न जाने कौनसी अप्रत्यक्ष शक्ति वालक की गोद में ललचा रही थी। उनके वात्सल्य युक्त ममतालु हृदय को? वैरागी का मन, संयम का वाँध तोड़कर किस मोह से मुग्ध हो रहा था, वह समझ न पाये? वाणी की पीयूषी धार, स्वतः ही प्रश्न वनकर, फूट पड़ी, उनके वृद्ध मुख से—

"कौन हो तुम ?"

"जो आप हैं ?"

सुप्तहृदय की आनन्दमयी वीणा के तार झनझना उठे। उत्तर स्वयं प्रश्न चिन्ह बनकर उनके सम्पूर्ण चिन्तन को आलोडित करने लगा। निरुत्तर थे, तो भी बालस्वभाव की तुलना में अपने अनुभवों का साहस संजोकर, कुछ न बोले--

"जो मैं हूं······?—कहाँ से सीखा है यह उत्तर ?"

"आपने यह प्रश्न कहाँ से सीखा था ?"

"प्रश्न तो स्वाभाविक जिज्ञासा का परिणाम है।"

"और उत्तर उसका स्वाभाविक समाधान···।"

'जो कहा, उसका अर्थ जानते हो तुम ?"

"अर्थहीन कोई बात नहीं, कहते हैं मेरे पिता श्री······।"

"······तो तुम्हारे पिता ने सिखाया है यह उत्तर······?"

"बोलना सिखाया है पिता ने, बात करना, भाषा का ज्ञान······कोई न कोई तो करायेगा ही······पिता ने सार्थक बात करना सिखलाया है।"

"इसका मतलब हुआ कुछ निरर्थक भी······।"

"आज जैसे अनुभवी सन्त जनों के लिए······। हमारे लिये सब कुछ सार्थक सुन्दर है वसुधा पर, हमारी खोज का प्रारम्भ ही है न अभी ?"

अपने अनुभव से नहीं, तुम, पिता का विश्वास लेके बोल रहे हो। हो सकता है तुम्हारे पिता भी······।"

अत्यन्त शान्तभाव से बीच में ही बोल उठा वह—

"आप मेरे बाबा जैसे लगते हैं, निश्चय ही कोई अनुभव शील ऊँचे ऋषि हैं फिर, पिता से मिले बिना, उनके विषय में, ऐसी धारणा बना लेना क्या मनस्वियों को शोभा देता है ? मेरे पिता मेरे गुरू हैं, मेरे गुरू के प्रति क्यूँ अनास्था जगाना चाहते हैं आप ? क्या श्रद्धा के बिना कोई कुछ भी सीखने में समर्थ हो सकता है ?"

हतप्रभ थे शक्ति उसकी स्वतः सिद्ध प्रतिभा से किन्तु तो भी मधुर वार्त्ता का लोभ उन्हें उकसा रहा था--

"किन्तु संभावनाएं तो हो सकती हैं वत्स !"

"सम्भावना कुछ भी हो बाबा ! मैं इतना जानता हूं कि मैं अपने पिता के हाथों में हूं और निश्चय है कि कोई भी पिता अपनी सन्तान का अपकार नहीं चाहता।"

"यह तुम्हारी भावना ही तो है कि वह तुम्हारे पिता हैं। हो सकता है कोई तुम्हें यहाँ अल्पवय में उठा लाया हो और तुम उसे पिता कहने पर विवश हो, तुम्हारी माँ भी तो होगी, माँ ही तो पिता के अस्तित्व की साक्षी होगी······।"

"आपकी शंका उचित हो सकती है शोभनीय नहीं। तर्क से भावना को खंडित करना चाहते हैं आप ? संभवतः भावना की शक्ति से अनवगत हैं पूज्यपाद। भावना ही वह शक्ति है धरा पर जो पाषाण को भी भगवान बना सकता है। भावना ही सम्बन्धों की आधार शिला है। अन्यथा आप बतलायें क्या माँ की साक्षी पर भी, जो बाप में भावना न करे––बाप को बाप न कहे, तो क्या बाप, बाप रह जायेगा ? मेरी माँ यहाँ नहीं है, जहाँ है पिता के प्रति पूर्ण निष्ठावान हैं, यहाँ न होने से क्या माँ, माँ नहीं ? मेरी माँ शिक्षित चाहे न हो किन्तु निष्ट हैं और पिता के साथ शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा है माँ ही ने (उसने मस्तक झुका, करबद्ध निवेदन किया) क्षमा कीजिये छोटा मुँह बड़ी बात न हो, मेरी माँ ने वह नहीं सिखाया, क्या आपकी······ मैं आपको प्रणाम करता हूं। पूज्य अतिथि ! शायद आप इसके लिए रुष्ट हैं कि वंशीवादन में मग्न, मैं आपको यशोचित सत्कार न दे सका, अभिवादन में भी प्रमाद कर बैठा। माँ ने जिसके साथ यहाँ भेजा है, उसे मेरा पिता कहा है अगर उसके शब्द अन्यथा हो सकते हैं तो उसके स्तन का दूध पीकर पले, रस प्रमादी भौतिक शरीर का परिचय ही व्यर्थ है ?···फिर तो जो आप हैं वह मैं हूं और जो मैं हूं, वह आप···।"

चारों खाने चित्त आ पड़े वूढे शक्ति, उसके सहज स्वाभाविक उत्तर से। अपने ही तर्क जाल में उलझ गये थे शायद ? फिर भी संभलने का प्रयत्न किया—

'क्या तुम्हें पता है मैं कौन हूं ?"

"दम्भ रूप में ज्ञानी, शरीर रूप में कुछ तत्वों का मिश्रण; मन के रूप में भावना का आधार, जीव रूप में अहंकार और आत्म रूप में मैं······।' मन ही मन नत मस्तक हो चुके थे शक्ति––'इस वय में यह ज्ञान ? यह प्रगल्भता यह प्रतिभा कैसे सम्भव है ? क्या बाल रूप में कोई देवता मेरी परीक्षा तो नही ले रहे ? उन्होंने अपने मन की शंका को प्रकट कर ही दिया––

"क्या तुम कोई देवता तो नहीं······?"

"देवता, दानव, यक्ष, पितृ, गन्धर्व, ऋषि, मनुज, कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी या मिट्टी के अणु परमाणु कितने भी रूपों का भ्रम करलो सब मेरे ही अंश हैं······।"

अनुभवी वृद्ध ऋषि की प्रतिभा बौखला उटी –

"तुम मुझे छल रहे हो······?"

"कोई किसी को नहीं छलता, व्यक्ति स्वयं अपने आपको छलता है। आप स्वयं को छल रहे हैं मुझसे प्रश्न करके, आप बता सकते हैं आप कौन हैं? क्या, शरीर, मन, प्राण, चित्त, अहंकार ? क्या हैं आप ? पंडित हैं आप तो, कहिये आपको अपने से अलग क्या नजर आता है ? जो नजर आता है, पानी का बुलबुला है; क्षणभर में समाप्त हो जाने वाला······फिर वह तो आप नहीं हो सकते ? आप, आप ही हैं और कुछ नहीं। आप वही हैं जो मैं हूं, मैं वही हूं जो आप हैं।"

पता नहीं कैसे बेबस हो गये ऋषि? उनकी आत्मा को छू लिया, अल्पवय बालक के, असंभावित ज्ञान ने। वह भ्रमित हो गये। पता नहीं भगवान वासुदेव किस रूप में अवतरित हो गये हैं? क्यों उनकी परीक्षा लेना चाहते हैं? कहीं पुत्र मोह में भटकते प्रमादी पर कुपित तो नहीं हो गये? हो सकता है मोह तोड़ना चाहते हो। मन ही मन अपने अपराध को स्वीकार कर श्रद्धाभाव से आयाचित हो उठे। वह डंडे के समान धरती पर गिरकर त्राहिमाम् पाहिमाम् चिल्ला उठे--"प्रभु! मुझे क्षमा करें, मैं आपकी माया से मोहित हो गया था......।"

बालक पहिले तो खिलखिलाकर हँस पड़ा। मोतियों की दीप्ति श्वेत आभा का झरना बनकर फूट पड़ी मानो। किन्तु दूसरे ही क्षण वृद्ध को हतोत्साहित देख उसे ग्लानि हुई। उसकी विनय जाग उठी उद्बुद्ध हुआ वह तुरन्त दौड़ पड़ा और अत्यन्त करुणा से वृद्ध महर्षि को उठाने लगा। कोमल स्पर्श ने अलौकिक चेतना जगा दी उनमें, अपूर्व आह्लाद भर गया उनके मन में, अकस्मात हृदय भर आया। ममता के आँसुओं ने आँखों में छलछला कर कपोलों को भिगोना शुरू कर दिया; जब बालक ने कहा—

"बाबा! मुझे क्यों पाप में डुबाना चाहते हो?......मैं तो अबोध बच्चा हूं क्षमा कीजिये, ऐसा न कीजिये।"

ऋषि का कौतुहल जाग उठा और विनोद के मिश्रित रस में उन्होंने स्वाभाविक प्रश्न जड़ दिया—

"आपको पाप-पुण्य भी लगते हैं.........? आप बच्चे और बूढ़े भी हो जाते हैं क्या...?"

"हाँ जब भावना से अभिभूत होकर मैं प्रपञ्च में पड़ता हूं या करुणा विगलित होकर शरीर सीमाओं में उतर आता हूं तो रिश्ते नाते भी हो जाते हैं तब तो एक वृद्ध का बालचरण स्पर्श, बालक को दम्भ मुक्त कर, पथ भृष्ट भी कर सकता है, अवतार का भ्रम हो जाता है। बाबा! मैं फिर कहता हूं, उठिये आप! आपको यह शोभा नहीं देता। आप किसके सामने झुक रहे हैं? आप वही हैं जो मैं......अब आँसू पोंछिये......मेरे अच्छे बाबा!...देखिये आप हँस पड़िये...हंसेगे तो बंशी की दूसरी धुन सुनाऊँगा......सुनना चाहते हो क्या? सुनोगे? बोलो सुनाऊँ? सुनो...... एक तो यह सुन लो कि मैं ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के कुल में उत्पन्न महर्षि शक्ति का पौत्र और पूज्य पराशर का प्रिय पुत्र हूं...।"

बात पूरी होने से पूर्व ही शक्ति ने बालक को अपने आलिंगन में इतने जोर से कसा कि कुसमसा उठा...। उसकी कराहट की परवाह किये बिना ही वह चिल्लाते रहे—

"हाँ बेटे तू वही है, जो मैं हूं तू मेरा ही अंश है मैं तेरा बाबा हूं शक्ति पराशर का पिता...।"

बुढ़ापे की आँखों में उमड़े आँसू शैशव को भिगोने लगे । अचानक ही माँ, अरुन्धती-अक्षमाला, मूर्ति बनकर, खड़ी हो गई वृद्ध की भीगी पलकों में--वे हर्ष से चिल्लाये--

"माँ ! मेरे वंश की वृद्धि हुई, तेरी कोख से शुद्र नहीं, ऋषि और स्वयं भगवान वासुदेव के व्यास रूप (समन्वित रूप) की उत्पत्ति हुई है। आज तेरे साथ मैं भी धन्य हो गया। अब तुझे कोई शूद्रा न कह सकेगा और न ही मुझे शूद्रा का पुत्र··· कोई मुझे ताना न दे सकेगा, यह कह कर कि शूद्रा के गर्भसे शूद्र हीं हो सकता है···।'

भावातिरेक से मूर्च्छित हो गये। हाथ का कसात्र शिथिल हो गया। वह एक ओर लुढ़ककर गिर पड़ते किन्तु तभी पीछे से अचानक आये पराशर ने पिता को गिरने से बचा लिया। बालक खड़ा देखता रहा--पराशर ने आँखों में जल भर कर कहा--

"उठ बेटे ! कुटिया में चल, दौड़ कर जल ला··· आज स्वयं तेरे बाबा महर्षि शक्ति ने- मेरे पूज्य पिता ने तेरा नाम करण संस्कार किया है······'व्यास'। महर्षि व्यास बनेगा तू···कृष्ण द्वीप में जन्म लेने वाला कृष्ण द्वैपायन व्यास ।

सत्य स्वयं उद्घाटित होता है किन्तु उसका सहज स्वीकार ऋषित्व की प्राप्ति कराने में सहयोगी होता है। शक्ति को पराशर ने सब कुछ बतला दिया क्षण भर को विचलित हुए वह, किन्तु व्यास से तेजस्वी पौत्र ने उनका मोह भंग कर दिया था। उन्होंने बड़े प्यार के साथ, सहज भाव से स्वीकारा सब कुछ और व्यास को गोद में उठाकर चूमते हुये, अपने ऊपर उसकी शिक्षा दीक्षा का भार लेकर, पराशर को तुरन्त कृष्ण द्वीप प्रयाण कर मत्स्यगन्धा को ले आने का निर्देश दिया। पर फिर भी, ऋषि का हृदय जाने क्यूँ, अन्दर से पत्ते की तरह काँप रहा था ?

शीतल निश्वास के साथ उन्होंने सोचा पता नहीं कितनी देर हो चुकी, काश यह सब पहिले पता हो जाता ? लोक लाज, समय तथा मर्यादा के नाम पर भी, प्रायः कितने अनर्थ हो जाते हैं ? स्वाभाविक सत्य घबड़ा कर कितनी दूर भाग जाता है। पिता की आज्ञा पा, तभी चल पड़े पराशर, मत्स्य गन्धा की ओर। उनका मन उत्साह से भरा हुआ था। किन्तु सामने बिल्ली को रास्ता काटते देख, पराशर सा सुलझा व्यक्ति भी, न जाने किस मोह में, अजानी आशंका से काँप उठा—

मार्ग में अर्थशास्त्र और राज विद्या के ज्ञाता अपने व्यवहारवादी मित्र, गल्वगण का, आश्रय पाकर चित्त को संभाल लेने के प्रयत्न में विश्राम कर लेना उपयुक्त समझा। अपेक्षित कर्म और आहारादि की पूर्ति के बाद दोनों मित्र परस्पर एक दूसरे का दुःख दर्द बाँटने के लिये बात करने लगे गल्वगण ने पुत्र की अध्ययन के प्रति अरुचि और जीविका की साधनहीनता पर चिन्ता प्रकट करते हुये अपने पुत्र सञ्जय का जिक्र किया, तो पराशर बोले —

"पता नहीं, क्यूँ माता पिता, बालक की रुचि और संस्कारों के विपरीत अपने मन की आधार शिला पर बच्चे के भविष्य का निर्माण करना चाहते हैं ? इससे प्रतिभा नहीं कुंठा पनपती है।"

"शास्त्रों के अध्ययन से कुछ लाभ नहीं क्या ?"

"जो लाभ है उसे ही तो रो रहे हैं आप ?"

"रोना तो इसके द्वारा अध्ययन में ध्यान न देने के कारण है।"

"ध्यान भी बलपूर्वक लगवाया जाता है क्या ?"

"तो फिर ?"

"उसकी रुचि को परखिये और उसके संस्कारों के अनुसार उसे ढालिये, वैसी ही शिक्षा में उसे कुशल बनाइये···।"

"उद्धत स्वभाव या शरारती बालक को चोर डाकू बना देना चाहिये क्या ?"

"नहीं, उसके साहस और उत्साह का लाभ उठाकर पर्वतारोहण, अज्ञात समुद्री यात्रा, पर्यटन से नये स्थानों की खोज जैसे साहसिक कार्यों से जोड़ा जा सकता है उसे ?"

"पर सामान्य भाषा ज्ञान तो फिर भी अपेक्षित है ?"

"गलत! भाषा तो मात्र विचारों के आदानप्रदान का साधन है, सभ्यता का आयाम है क्रियात्मक ज्ञान का नहीं। व्यवहारिक ज्ञान कर्म शुद्ध आचरण से बनता है प्रक्रिया और अभ्यास से विद्या का विकास होता है जिससे भौतिक विज्ञान की प्रगति···।"

"भौतिक···?"

"हाँ जीविका की बात की थी न तुमने ? तोता रटन्त श्लोकों से तो जीवन के आवश्यक उपकरण जुटाये नहीं जाते। उत्पादन की सिद्धी वाणी में नहीं कर्म में होती है।"

"अध्ययन कोई कर्म नहीं है क्या ?"

"पर यह कर्म भी कर्म की प्रखरता के लिये है। स्वाभाविक क्रियाशील को सीधे कर्म के ही रास्ते पर ले आना चाहिये, इधर उधर भटकाकर विलम्ब करने से क्या लाभ ?"

"मैं अपना दुःख रो रहा हूं दुःख की समाप्ति का उपाय बतलायें, वादविवाद की झाडियों में क्यों उलझा रहे हो मुझे। सञ्जय के सुधरने की कोई राह है—?"

"क्यों नहीं, मेरी दृष्टि में, यह बालक रट्टू पीरों से अधिक कुशल और श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है ?"

"कैसे ?"

"देखिये, आपने अर्थशास्त्र और राज विद्या का ज्ञान प्राप्त किया पर अभ्यास किसी का नहीं। उन विद्याओं को जंगल में लेकर बैठे रहिये कोई लाभ होगा। विद्या को क्रिया में उतारिये समृद्धि स्वतः दौड़ आयेगी।"

"सन्तोष······?"

"तो मनुष्य को भूखा भी रहना चाहिये। सन्तोष के साथ उपवास का भी महत्व है। भूख की अकुलाहट में बिलबिलाकर मुस्कराइये। पीड़ा को आनन्द तक पहुँचाने की साधना कीजिये चमत्कारी बाबा !"

"कुछ आवश्यकता होती हैं और कुछ वासनाएँ ?"

"आवश्यकता आविष्कार की जननी है जिसकी सीमा निश्चित नहीं, सम्पूर्ण ऐश्वर्य आवश्यकता की पूर्तिका ही परिणाम है। वासना स्वयं आवश्यकता का विकसित रूप है जिसे दबाकर मानव कुंठित हो जाता है।"

"तुम्हारे पिता सत्य ही चिन्तित थे, तुम तो निरे भौतिकवादी हो गये हो ?"

"मैं जो भी कुछ हूं। निश्चित लक्ष्य लेकर है। जो सोचता हूं करता हूं कुंठाओं से त्रस्त नहीं होता।"

"स्वच्छन्दतावादी……।"

"स्वच्छन्दता उस पाखन्ड से अच्छी है जहाँ मुँह में राम और वगल में छुरी लिये घूमते हैं लोग। तन कहीं और मन कहीं……टुकड़े टुकड़े इन्सान मुखौटे वदलने में ही खप जाता है।"

"आत्म नियंत्रण के भी तो कुछ अर्थ होंगे…?"

"आत्म नियंत्रण का मतलव आत्म दमन तो नहीं ?"

"फिर तुम्हीं वोले हैं…?"

"स्वच्छन्दता की चोट खाकर जो स्थिति पैदा होगी वह स्वयं आत्म नियंत्रण का पाठ पढ़ा देगी—सच्चा पाठ। आप किसी से कहिये अमुक वस्तु न खाना, कडवी है, क्या मान जायेगा ? पर जिस दिन कड़वा चखेगा, स्वयं थू थू करता फिरेगा और उससे दूर रहने का संकल्प कर लेगा…।"

"वस्तु विष हुई तो……?

"मरकर दूसरों के लिये ज्ञान का द्वार खोल देगा अन्यथा वचने के उपाय भी खोज लेगा।"

"स्वयं तो मर ही जायेगा न ? आप मरे तो पूर्ण प्रलय।"

"ऋषि कहला कर भी दोहरे व्यक्तित्व में जी रहे हो अर्थशास्त्री ! ईश्वर पर आस्था है…? छोड़ो मौत से बचा है कोई ?"

"किन्तु जान वूझकर साँप के विल में हाथ देना कौन सी वुद्धिमता है ?"

"वहुत बड़ी बुद्धिमत्ता है जो तुम जैसों के लिये सम्भव नहीं। जान वूझकर साँप के विल में हाथ देने वाले वड़े वुद्धिमान होते हैं, काल रूप व्याल का मुँह वाँध कर अपने वश में कर लेते हैं और साथ ही उसके जहरीले दाँतों को तोड़ देने की क्षमता भी पाजाते हैं। वास्तव में हम लोगों ने, मृत्यु का भय दिखला कर, अपनी प्यारी सन्तान को इतना कायर वना डाला है कि कोई भी साहसिक कार्य करने में असमर्थ, पीढ़ियाँ, जिन्दगी से ही कतराने लगी हैं। काम के ऊँचे नीचे छोटे वड़े भेद करके, भूख से विलाविला कर दम तोड़ देंगे, पर कर्म का सूत्र पकड़कर जीवन का सुख लौटाने का प्रयत्न नहीं करेंगे। सज्जनता के आवरण में,सामाजिक प्रतिष्ठा का ढोंग रच कर, संघर्षसे वचने का प्रयत्न करते हुये, समाजके गुंडों के सामने घुटने टेक देते हैं हम, और ये हमारे सामने ही हमारी माँ वहनों को अपमानित करके लौट जाते हैं। जितने भी कायरता पूर्ण कार्य किये जाते हैं सव लाभ हानि का विचार करने वाली वुद्धिमत्ता के आधार पर ही किये जाते हैं। वुद्धिमत्ता कायरता की पोषक है। वुद्धि जीवी सवसे वड़ा कायर होता है कायर की जिन्दगी क्या……कायर तो मौत से पहिले न जाने कितनी वार मर लेता है ?"

"वुद्धि का वल सवसे वड़ा माना जाता है पराशर !"

"किन्तु स्वार्थ और छल सिखलाने के लिये, दूसरों को अपने जाल में फँसाने

के लिये, स्वयं पुरुषार्थ. हीन होकर गुलामी की अपवित्र परम्परा का प्रारम्भ करने के लिये···।"

"नहीं, बुद्धि आत्म रक्षा का पाठ पढ़ाती है ?'

"आत्म रक्षा ?"

"हाँ'

"किससे ?"

"सामने वाले से······।"

"सामने वाला कौन है ? आत्मा से अलग कुछ और है क्या ?"

"फिर निश्चेष्ट होकर सब कुछ सह लें क्या ?"

"कौन कहता है ? आत्मा जड़ नहीं चेतन तत्व है। वह निश्चेष्ट नहीं करता सतत क्रियाशील बनाता है। हम बुद्धि का सहारा लेकर पीछे भागने का प्रयत्न करते हैं या सुख के साधन एकत्रित कर स्वयं ही जड़ जाना चाहते हैं ?"

"तुमने अभी कहा था, ऐश्वर्य मनुष्य की आवश्यकता है फिर सुख से साधनों में जड़ता कैसी ?"

"मैंने ऐसा कहा था, सन्तोष के विरोध में। ऐश्वर्य प्राप्ति का विरोध मैं अब भी नहीं कर रहा हूं किन्तु ऐश्वर्य के साधनों पर कुण्डली मारकर बैठ जानें और सम्पूर्ण प्रक्रिया को जड़ बना देने का विरोध मैं कर रहा हूं। जिसमें साहस नहीं, वह सुख के साधन जुटा नहीं सकता, जो सुख साधन प्राप्त नहीं करता, वह सुख नहीं पा सकता जो स्वयं सुखी नहीं, वह दूसरों के सुख साधन में सहयोगी नहीं, जो दूसरों को सुख नहीं पहुँचा सकता वह समाज के लिये कल्याणकारी नहीं, जो कल्याणकारी नहीं, उसे जीने का अधिकार नहीं। निष्क्रिय का जीवन से क्या सम्बन्ध ? उसे तो ब्रह्मलीन हो जाना चाहिए। न वह खेल खेल सकता, न खेल देख सकता, न खेल खिला सकता और न खेल दिखा सकता। सृष्टि के मैदान में, दृष्टा खिलाड़ी से प्रसन्न होता है निष्क्रिय पत्थर से नहीं। इससे अच्छा तो है तड़पें, करुण रस की अभिव्यक्ति देने वाला नट भी दर्शक को प्रसन्न कर लेता है पर पत्थर······।"

"पत्थर का भी एक सौन्दर्य होता है ?"

"पर सौन्दर्य चेतना के बिना कहाँ ?"

"पत्थर में मूर्ति उभर आती है।"

"शिल्प से, क्रिया से, निष्क्रियता से नहीं। मानवीय चेतना से भी जड़ चेतन होता है प्रबुद्ध।"

"क्रिया, प्रतिक्रिया को जन्म देकर, संघर्ष का बीज बो देती है न ?"

"संघर्ष जीवन का नाम है, निर्माण की शपथ है। उससे बच नहीं सकते हम, बाहर से नहीं अन्दर से शुरू हो जायेगा वह; उसे दिशा देनी ही होगी।"

"कौन सी ?"

"यह स्वयं से पूछो; अपनी रुचि, अपने संस्कारों को अपनी वृत्ति से समझो।"

"उलझा दिया न वहीं लाकर......अच्छा छोड़ो मित्र, मेरे सञ्जय के विषय में बोलो न ?"

"भेजो मेरे साथ......।"

"स्वच्छन्द बनाने के लिये ?"

"मेरी स्वच्छन्दता ने तुम्हें कुछ हानि पहुंचायी है ?"

"मुझे न सही तुम्हें तो हुई है, समाज को हुई है।"

"कैसे ?"

"समाज की मर्यादा भंग हुई है वह तुम्हारी निन्दा करेगा, तुम्हारे वंश की भी ?"

"क्या किया है मैंने ?"

"दाई से पेट छुपता है क्या ? मित्र, मित्र के विषय में कुछ तो पता रखता होगा ?"

"आखीर कुछ कहो तो......?"

"निषाद कन्या पर पौरुष प्रकट कर चुके हो न ?"

"तुम मेरे समागम को बुरा समझते हो ?"

"अविवाहित और अनमेल समागम को......।"

"अनमेल समागम स्वेच्छा से नहीं हुआ करते काम का वेग रोकना किसके वश में है ?"

"प्यास लगे तो नाली का पानी पी लेना चाहिये क्या ?"

"निषाद कन्या की ओर संकेत कर रहे हो ?"

"नहीं उस प्रणाली की, जो तुमने अपनाई।"

"गन्धर्व विवाह नहीं सुना आपने ?"

"गन्धर्वों के देश में श्रुति मर्मज्ञों में नहीं। गन्धर्वों की संस्कृति लाना चाहते हो यहाँ। गन्धर्व विवाह या नियोग, पशुवृत्ति को सभ्यता का जामा पहिनाकर सामने लाने के जैसा मानता हूं मैं।"

"क्या देवों में यह परम्परा नहीं ?"

"देवों की व्यवस्था भी भिन्न है।"

"क्या ?"

"वहाँ कोई सन्तान अवैध नहीं होती और सन्तान उत्पन्न करने वालों पर उसकी कोई जिम्मेदारी भी नहीं और सन्तान उत्पन्न करने वाला भी उसे अपनी कहने का अधिकारी नहीं। वहाँ उत्तरदायित्व शासन वहन करता है। शिशु को भी यह ज्ञात नही कि वह किसका वीर्यज है। उसके निर्माण का निर्णय दम्पत्ति नहीं राज्य लेता है और उसकी प्रतिभा बुद्धि और बल का अपने निर्णय के अनुकूल उपयोग

करता है। अग्नि, वायु, जल, सूर्य की शक्ति पाकर भी निश्चित नियंत्रण में चलना होता है जैसे उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। स्वतन्त्र यौन विहार के लिए अप्सराएँ वहाँ स्वच्छन्द हैं पर उन्हें सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार नहीं करें भी तो अपना नहीं कह सकतीं, अपना कहें तो देवलोक में नहीं ला सकतीं, ले भी आयें तो अपना कहने और अपने साँचे में ढालने का अधिकार नहीं। है कहीं मौलिकता। स्वच्छन्दता वहाँ मात्र छलावा है सब देवराज के हाथ की कठपुतली है। निजी मत व्यक्त करना संघर्ष का कारण बन जाता है। क्या ऋषि परम्परा अप्सराओं की परम्परा स्वीकार ले। बतलाओ, क्या आर्ष परम्परा निकृष्ट हो गई अब ? पूर्वजों का सब श्रम व्यर्थ गया। मनन से मन्त्र प्राप्त करके भी प्रस्तर युग में पहुँच जायें, ब्राह्म पद्धति को निकृष्ट घोषित कर दें। स्वयंवर के बाद समाज को साक्षी ही उसे मर्यादित करती है ब्रह्म (समाज) की अवहेलना कर कोई उसका प्रिय नहीं हो सकता। असुरों की भाँति अपनी वासना को तृप्त कर, दासी की भाँति तिलांजलि दे देने वाले, पलायनकर्त्ता नर पशु को, नारी की पावन देह से खेलने का कोई अधिकार नहीं। अनाचार से बचने के लिए समाज की साक्षी और अवैध सन्तानों को दारुण सन्ताप से बचाने के लिए एक नाम चाहिए जो पति पत्नी के साथ रहने, परस्पर उत्तरदायित्व निभाने और प्रेमपूर्ण व्यवहार में निहित है। ऐसा ब्राह्म विवाह में ही सम्भव है।

"तुम्हारी बात कुछ अंशों में सही गलब्द ! तुम चिन्ता न करो, पुत्र को मैं अपना चुका और पिता की आज्ञा से मैं तुम्हारी भाभी को भी लेने जा रहा हूं अब तो समाज की साक्षी हो जायेगी न ? तुम भी तो प्रसन्न हो जाओ।

"मैं अप्रसन्न कैसे हो सकता हूं तुमसे स्वार्थ सिद्ध करना है इस अर्थशास्त्री को, तुम ठहरे भावनावादी और मैं बुद्धिजीवी······?" (उपहास किया मित्र ने)

"असुर कहो, भावनावादी तो वही होते हैं न ?"—व्यंग्य को स्पष्ट किया पराशर ने।

"अबकी बार भाभी को लाओगे न यहाँ ? हाँ कहोगे या ना ? मुझे जाने क्यूं डर लग रहा है, पता नहीं अब कब आना हो।"

"अच्छा बाबा ! चोंच बन्द कर, अब जा रहा हूं तो आ भी जाऊँगा।"

"पर खाली हाथ न आना ?······हाँ सञ्जय को भेज रहा हूं तुम्हारे साथ कहीं बीच से ही न लौट आओ।"

"मैं खाली हाथ लौटने वाला नहीं······।"

"इसका क्या भरोसा ?"

"सम्भावना शुभ हो तो······।"

"क्या शंका का स्थान नहीं रहता ?"

"शुभ कहो मित्र, अशुभ की आशंका क्यों करते हो ?" जाने क्या सोचकर ऋषि की आँखें डबडबा आई। गल्वद्गण ने अंकपाश में कस लिया उन्हें और विदा की इस बेला में जाने क्यूँ दूसरे की आँखें भी नम हो गईं।

पराशर जा रहा था और भविष्य का दिव्य द्रष्टा उसके पीछे पीछे चल रहा था।

११

पराशर के आगमन का समाचार सुन मल्लाहों के आबाल वृद्ध नर नारी कृष्ण द्वीप की ओर दौड़ पड़े। मत्स्यगन्धा और दाशराज के विषय में पूछने पर प्रसन्नता उदास मौन में बदल गई, गीली आँखों में निराश क्रन्दन पढ़कर, चिन्तित ऋषि ने आतुरता के साथ, कई लोगों को झिझोड़ दिया--

"आप बोलते क्यों नहीं, कहाँ है मत्स्यगन्धा दाशराज क्यों नहीं आये ?"

बड़ी मुश्किल से, थूक गटक कर, धकियाते से दो शब्द, कहने चाहे मल्लाहों ने किन्तु उससे पूर्व ही हिचकियों में फूट कर टूट गये, तो भी पराशर की आत्मीयता ने, उस मर्माहत भाव को पकड़ लिया और ऐसे बिलखे जैसे उनका अपना संरक्षक, उनसे रूठ गया हो। ज्यूँ त्यूँ करके चित्त को शान्त कर, जब मत्स्यगन्धा के विषय में, पुनः प्रश्न किया तो एक बूढ़ा कातर स्वर में चीख उठा—

"कुछ न पूछो ऋषि पुत्र। यह सब उस हतभागिनी···।"

बीच में ही चिल्ला पड़े पराशर—

"ऐसा न बोलो बाबा। वह हतभागी नहीं परम सौभागिनी है, मैं उसे लेने आया हूँ······पिता ने भेजा है उसे ले जाने के लिये।"

"पर अब उसे कैसे ले जाओगे, वह तो अब ऐसी जगह है जहाँ पंछी भी पर नहीं मार सकता।"

"क्या पहेलियाँ बुझा रहे हो, ··· साफ कहो न ? कहाँ है योजनगन्धा···?"

"वनकोटर या झोंपड़े में न मिलेगी अब वह, महलों का सुख भोग रही है न? सौन्दर्य की गन्ध ने अन्तरिक्ष के झूले में बैठा दिया है उसे, किन्तु मल्लाहों को तो पाताल के गर्त्त में ढकेल दिया है उसने। दर दर का भिखारी बनाकर रख दिया है मल्लाहों को उसके चहेतों ने। मल्लाहों की इज्जत को सरे आम नीलाम कर दिया है उसने। उसके कारण पिता अपनी पुत्रियों से और भाई अपनी बहिनों से आँख चुरा लेते हैं। भिखारिणी वैश्याओं का जीवन जीने पर विवश हो गई हैं मल्लाहों की कन्याएँ और तुम उसे सौभागिनी कहते हो?

"हाँ वह सौभागिनी है, मैं खड़ा हूं उसका सौभाग्य। क्या कष्ट हुआ मुझसे तुम्हें? मैं हूं उसका चहेता, बोलो कौन सा दुःख दिया है मैंने तुम्हें या तुम्हारी सन्तान को?

इतने जोर से चीखे पराशर कि सब सहस गये, ठगे से खड़े रह गये, समझ न पाये क्या कहना चाहते हैं ऋषिपुत्र? वह ऐसे उनकी ओर देखने लगे जैसे अकस्मात पागल हुये व्यक्ति को देखा जाता है। कोई फुसफुसाया—बेचारा हम से कितनी सहानुभूति रखता है दाश को चाचा ही माना इसने सदा। उसकी बेटी को क्या से क्या बना दिया? कितना हँसमुख था? हमारे लिये हर सम्भव सहायता को? तैयार रहता था, पर दाश के दुःख ने पागल कर दिया है इसे······।'

दूसरा स्पष्ट सान्त्वना देने लगा—

"बस भैया बस अब दुःख मानने से क्या होता है? जो होना था सो हो गया होनी के आगे किसकी चलती है? चिन्ता न मानों भैया! हम भी तुम्हारे हैं, उतने ही जितने दास के थे, एक बार संकेत तो कर देखो, क्या नहीं कर दें हम। तुम्हारे पसीने पर खून बह जायेगा हमारा।"

आज, पहिली बार, विद्वान को भाषा की असमर्थता का आभास हुआ। कैसे समझाए उन्हें—स्वर को बदल कर बोले वे—

"मैं जानता हूं आप मेरे लिये कुछ भी कर सकते हैं पर इस वक्त मैं दाश की बेटी का पता पाना चाहता हूं···।"

खीझ पड़े लोग और क्षोभ भरी आवाज उभरी—

"···और हम कह रहे हैं नाम न लो उस कलंकिनी का···।"

तिलमिला उठा ऋषि पुत्र, आवाज को दबाता हुआ उससे भी उच्च स्वर में चिल्लाया—

"और मैं कहता हूं मैं उसके बारे में कठोर शब्द नहीं सुन सकता···वह मेरी पत्नी है······।"

स्तब्ध रह गये सब सुनकर। दाँतों तले उंगली दबाली उन्होंने। समझ गये कि इसका उपचार असम्भव है, फुसफुसा कर बतियाने लगे आपस में —

"देखा भैया! एक स्त्री क्या क्या गुल खिला देती है कितने परिवारों को एक साथ ही बर्बाद कर दिया उसने। दास को खा गई, हमें बर्बाद कर दिया और

आज ऋषि को पागल दीवाना बना दिया···हे परमात्मा ! तू ही बचा, कहने को अवला, जलाने को ज्वाला···।"

दुर्भाग्य की चोट से आहत दीवाने की बुद्धि का परिहास भी किसी किसी को सूझने लगता है एक ने व्यग्य कसा–'अरे कुटिया की कुहनी या पथ की भिखारिणी नहीं अब वह महलों की महारानी है······।

क्रोध से खून उतर आया ऋषि की आँखों में उसने दौड़कर व्यंग्यकार युवक की गर्दन पकड़ ली और दोनों हाथों से झिझोडने लगा। भय से काँपते वृद्धों ने बचाया उसे—

"क्षमा कीजिये ऋषिवर ! इसमें हमारा कोई दोष नहीं हम निर्बल हैं। शरण हैं आपकी। आपका सम्मान करते हैं। किन्तु असभ्य ठहरे हम, हमें न भाषा आती है न व्यवहार। हमारी समझ में नहीं आता, क्या कहें क्या न कहें ? पर यह तो सत्य ही है कि मत्स्यगन्धा अब हस्तिनापुर की राजरानी है। स्वर्गीय दाशराज ने स्वयं सबके सामने उसे महाराज शान्तनु को सौंप दिया था।"

शिथिल हो गये गर्दन को दवोचने वाले हाथ, सकने में आकर। समझ न पाये क्या करें ? वह निढाल से होकर रेत पर बैठ गये। हाँफते हाँफते बोले--

"किन्तु दाश प्राण रहते यह नहीं कर सकते थे······।"

"आप ठीक कहते हैं, मत्स्यगन्धा की सुगन्ध ही उसकी शत्रु हो गई, व्याध सा खींचा चला आया शान्तनु और अपनी वाहिनी से घेर ली सारी कछारी धरती। मल्लाह अपने ही घरों में वन्दी से हो गये, प्रतिकार का प्रश्न ही न था। दाश ने युक्ति से वचना चाहा किन्तु अपने ही शब्दों के जाल में फँस गया —आसक्त राजा ने उसकी शर्त स्वीकार कर बैठे यौवन की बलि भी चढ़ा दी···।"

"क्या शान्तनु की पुत्रवधु हो गई वह ?"

"नहीं बूढे शान्तनु की······।"

बज्रपात सा हुआ ऋषि के मन पर––

"बूढ़े की···? क्या प्रतिकार न किया था योजनगंधा ने ?"

"ऐश्वर्य किसे बुरा लगता है मुनिवर ! हमारे तुम्हारे साथ क्या मिल जाता उसे ? अर्थ ही ईशत्व पा रहा है जगत में। स्त्रियों को प्यार नहीं अधिकार चाहिये। हमारे टोले की न जाने कितनी कन्याओं ने उसका अनुकरण किया और चुपचाप खिसक गई वन्धु बाँधवों को छोड़कर······।"

"आपको भ्रम हुआ होगा, मुझे विश्वास नही होता ?"

"काश, ऐसा होता ! मत्स्यगन्धा जिस दिन से महलों की रानी बनी है, मल्लाहों ने कोई सुख न भोगा, केवल उत्पीड़न का वोझ ही ढोया है। हाँ यह तो हो गया कि पहिले प्रतिकार को सर कमर कर लेते थे पर अब तो उस शक्ति को भी काठ मार गया। हमारे सम्बन्ध ही हमारे शत्रु हो गये।"

पराशर ने मल्लाहों के दुःख का अनुभव किया। उनका मन क्षोभ से भर गया फिर भी दुविधा थी उनके मन में। एक मन कहता था कि योजनगंधा आज भी उनकी है उनसे प्यार करती है। दूसरा मन कहता था कि मल्लाहों का आक्रोश असत्य नहीं। मत्स्यगन्धा ने उनके ही नहीं मेरे प्यार को भी धोखा दिया है। आखीर प्राण रहते उसने यह सब स्वीकार क्यों कर लिया ? क्या दैवीय सन्तान पाकर भी सन्तोष न हुआ उसे ? ऐश्वर्य की लालसा और भोग की कामना ने उसे कुछ काल तक प्रतीक्षा करने योग्य भी न छोड़ा। नारी में इतना भी संयम नहीं होता क्या ? पर शान्तनु कितना कामुक है···? यह बूढ़ा······गंगा से इसने आठ सन्तानें उत्पन्न की तो भी इसका पेट नहीं भरा ? इसकी पाशविकता से तङ्ग आकर ही तो गंगा इसे छोड़कर चली गई······गंगा जैसी पावन मूर्त्तियाँ भी हैं जगत में ? किन्तु······मत्स्यगन्धा जैसी भी······? क्या यह सच हो सकता है कि कामना की प्रतिमूर्ति बन जाये वह··· हे ईश्वर ! दया करना···क्या मेरा चुनाव गलत था ? पता नहीं क्यों, नारी जाति से घृणा सी होने लगी है ? फिर क्यों पिता शक्ति दादी क्षयमाला को स्मरण कर आत्मविभोर होते रहते हैं ? पितामह वसिष्ठ उन पर कुपित क्यों हो जाते थे ? मुझसे न सही, क्या पुत्र से भी प्यार न रहा उसे ? मेरे लिये न सही, पुत्र के लिये भी बलिदान न दे सकी ? व्यास ने अपनी माँ के विषय में पूछा तो क्या उत्तर दूँगा उसे, अब क्या मुँह लेकर जाऊँगा पिता के सामने ? वह कुछ कहें या न कहें किन्तु मेरे चयन, मेरे प्रेम पर, मन के पागलपन पर मन ही मन हँसे बिना न रहेंगे। नहीं अब नहीं···अब लौट कर न जा सकूँगा मैं······नहीं जाऊँगा···एकान्त बैठकर तप ही करूँगा अब······आखीर रखा क्या है इस दुनिया में ? किसका विश्वास करें ? ······पर व्यास ··? मोह है सब।···उसकी शिक्षा दीक्षा···? स्वतः ही योग्य हाथों में पहुँच गया है वह। अपने बाबा से बढ़कर उपयुक्त और कौन गुरु मिलेगा उसे ? मैं निश्चित हूं···एकान्त तप कर सकता हूं। पर दायित्व ?···इस क्षोभ में कहाँ निभा पाऊँगा ? स्खलित हो जाऊँगा। मन की शान्ति के लिये एकान्त की आवश्यकता है। अब बद्रीवन जाना सम्भव नहीं।···पर किसने लूट लिया मुझे ·····? मत्स्यगन्धा ने ? नहीं, ऐश्वर्य प्रमत्त शान्तनु ने। शान्त न रहेगा वह भी। मैंने प्रेयसी के रूप में नहीं, वंश की अधिष्ठातृ देवी के रूप में, सिद्ध किया था सत्यवती को। अपने प्यार की गन्ध देकर सुवासित किया था वन देवी सी मूर्त्ति को। कामी ने अपवित्र कर दी पावन प्रतिमा। अपने पापी स्पर्श से मेरे दाम्पत्य में अवरोध उत्पन्न किया है उस नराधम ने। नाम शेष हो जायेगा वह। मत्स्यगन्धा को······कैसे शाप दे दूँ ? अपने हाथों से अपनी प्रीति की प्रतिमा कैसे तोड़ दूँ ?···किन्तु जिन महलों ने मेरा प्यार लूटा है उन्हें स्वयं अशान्ति का घर बनना होगा क्रान्ति की अग्नि में जल कर भस्मसात होना होगा मेरी कुटिया में आग देने वालों को। सम्पूर्ण गृह कलह की अग्नि से धधकता रहेगा, मुझे अशान्त करने वाला परिवार शान्ति से कैसे सो सकेगा ?

शान्तनु से उत्पन्न सन्तान भी उसके वंश को न बढ़ा पायेगी। मेरा शाप ही मेरे प्रयत्न की शक्ति बनेगा अब। आखीर शान्तनु को यह तो पता ही चलना चाहिये कि प्रतापी सम्राट भी पाप से बच न पायेंगे। मेरी इच्छा है शान्तनु के परिवार को स्वेच्छा से कोई कन्या न दे। मैं प्रचार करूंगा इसके लिये। शान्तनु के वंश से जन्म लेने वाली सन्तान कामाचारी या अनाचारी न हो, यह कैसे सम्भव है? धर्म की मर्यादा के लिये, इस वंश वृद्धि को रोकना ही चाहिये।...किन्तु यह प्रतिहिंसा क्या एक ऋषि कुमार को शोभा देती है? मुझे सब कुछ भूल जाना चाहिये......क्या रखा है इस बात में? महाकाल जैसे नचा रहा है नाचना चाहिये नाचने में नर्त्तक का क्या दोष? प्रारब्ध पर किस का वश है?...पर आग...इस हृदय की आग को कैसे बुझाऊँ......यदि व्यवहारिक संसार में घुसा तो और अशान्त हो जाऊंगा......अपनी ही प्रतिहिंसा की आग से जलता रहूंगा। मन की शान्ति के लिये द्वन्द्वातीत होकर तप करना ही पड़ेगा। खोई शक्ति को लौटाने के लिये क्षोभ की आग को बुझा देना होगा जिसके लिये वैराग्य साधना होगा कुछ दिन। कुत्सित संस्कारों में उद्दीप्त प्रतिहिंसा का शमन करने के लिये नये शिरे से एकान्त मनन करना ही होगा। स्वयं को विज्ञान के एकान्त अन्वेषणों में खपाकर शायद अतीत को भुला पाऊँ। नहीं जाना है बद्रीवन......क्षमा करना पिता जी......आपको प्रसन्न होना चाहिये......मैं आत्म साधना की ओर जा रहा हूं......मैं तप करूंगा......एकान्त तप......।"

वह कब तक खड़े सोचते रहे, फिर बिना एक शब्द बोले एकाएक अपने स्थान से उठे और अनजानी दिशा की ओर चल पड़े......देखते रहे उपस्थिति प्राणी। किसी को कुछ पूछने का साहस ही न हुआ......जाने कितनी देर बाद कहाँ किस वन के लिए निर्जन स्थान में अदृश्य हो गये, कोई न जान पाया। हाँ निर्विकार भाव से एक छाया उनका अनुकरण अब भी कर रही थी जिसे शायद दिव्य दृष्टि प्राप्त करने के लिये निश्चय ही एकान्त की आवश्यकता थी।

काल का शाश्वत प्रवाह क्षिप्र गति से आगे बढ़ जाता है। लघु लोल लहरों की भाँति न जाने कितने जीवन बनते और बिगड़ते रहते हैं। प्रबल अस्तित्व की गूंज अपने मादक स्वरों को इतिहास के किनारों पर छोड़कर शून्य में विलीन हो जाती है और शेष रह जाती है कसकती हुई स्मृतियाँ, भावनाओं के क्रन्दन में, अतीत की स्वर्णिम धूल उड़ती हुई तभी वर्त्तमान का उद्गाता भविष्य की स्वर लहरी तैयार करने में व्यस्त हो जाता है।

जड़ प्रकृति से विभिन्न अणुओं को मिला कर नये खिलौने गढ़ती रहती है क्योंकि भौतिक विज्ञान की प्रक्रिया में तो निश्चित सृजन अनिवार्य है ही। शान्तनु ने भी, सत्यवती की मिट्टी से, दो पुत्र प्राप्त कर लिये किन्तु देह के अतिरिक्त मानस को छूने का अवसर उसे कभी प्राप्त न हो सका, क्योंकि मन की रचना में भौतिक विज्ञान के सूत्र असफल हो जाते हैं।

शान्तनु का पार्थिव शरीर, चिरशान्त हुआ, तो चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य ने जीवन की आधार शिला रखी। सत्यवती को देखकर तो तब भी ऐसा लगता था जैसे न कोई हर्ष है न शोक। बंदिनी की सी मनस्थिति थी उसकी।

माता की उदासीनता और वंश से प्राप्त निरंकुश स्वेच्छाचारिता के कारण स्वच्छन्द चित्राङ्गद ने गन्धर्वों से टकरा कर जीवन की आहुति दे दी। सत्यवती की मानसिक स्थिति को बिगड़ती देख, कार्यवाहक भीष्म को बड़ी चिन्ता हुई। चिकित्सा करने पर भी सूखी आँखों से जल की बून्द न निकल सकी। छाती पर पत्थर रखते रखते हिया भी पत्थर का हो गया था मानो। वैद्यों ने मानस रोग की घोषणा की और तीर्थाटन को उपचार बतलाया। सत्यवती की स्वीकृति पर, भीष्म ने रथ की शिविका में बैठा सैनिकों की सुरक्षा के साथ कारवां काशी की ओर रवाना कर दिया।

निर्धनता के लिये, राज भवन के स्वप्न देखना कितना सरल है किन्तु ऐश्वर्य की बलिदेवी पर, स्वाधीनता की आहुति देकर, तथा कथित मर्यादा के वचनों और परम्पराओं की आस्था के बोझ को ढोते हुये तथा विषमता की भीड़ में एकाकीपन का गरल पीते हुये, जीवित रहना कितना भयावह है? इसे कोई मुक्त भोगी ही समझ सकता है, या बन्द पिंजरे की फुदकती वह मैना, जिसे सोने के पिंजरे में ढालकर दिन में बढिया भोजन दे, रिझाया जाय, और हर सांझ विष भरी कील से कुरेल कर फड़फड़ाया जाय कैसी विडम्बना है विष देकर जिसे सुलाते हैं। प्रातः अमृत देकर उसे ही जगाने का प्रयत्न भी करते हैं। जल की प्यारी मछरिया ऊसर के तालाव में दम क्यूँ तोड़ देती है? लगता है विष के संसर्ग से अमृत भी विष ही हो जाता है।

न जाने कितने सुरम्य दृश्यों को रौंदकर शाही काफिला आगे निकल गया तो भी उदासीन घूंघट ने, झांक कर कुछ न देखा'''।

जीवन के सतत् प्रवाह की भाँति, सरिता का प्रवाह भी अपने अन्त को प्राप्त करने के लिये व्याकुल बना रहता है। चितकवरी चट्टानों और हरे भरे वृक्षों की परछांइयों से खेलती नाचती, ठुमकती-धमकती, खुशी से उछलती कूदती, गोमुखी गंगा, किशोर वय होते ही, अपने पीहर हिमालय के छोड़कर, समतल मैदानों में उतरने को विवश करती तो पता नहीं शैशव की ठिठोलियाँ कहाँ छूट जाती हैं। चौड़े पाट वाली गंगा गम्भीर शांति में डूब जाती है। एक दिन समदुःख कातर सी रामगंगा, गड्ढों, छिछले किनारों और ऊंचे नीचे ढलानों में वहती, न जाने किस मौन क्रन्दन का संगीत उभारती है ? प्रयाग के त्रिवेणी संगम पर, मलिन चित्त लिये, मैले जल में, सरस्वती की दुग्ध-धवल श्वेत धारा मिलाकर, उसे अद्भुत प्रवोधन करती सी लगती है और रागविराग रहित-चित्त की तरह वह, फिर शुद्धमना होने लगती है। तभी स्वच्छन्द नीले जल वाली यमुना प्रेम से उसका आलिंगन करती है तो मानो वह रोमांचिता हो झूम उठती है। उसका उमड़ता प्रवाह, पृथ्वी की कोख को संवारता हुआ, आगे बढ़ जाता है। भक्ति भाव से अनुप्राणित गंगा, जब गद्गद होकर विश्वनाथ की चरण भूमि का स्पर्श करती है, तो वरुणा और असि अपनी पुष्पवत् फेनिल फुहारों से उसका अभिनन्दन करती है। ज्ञान-भक्ति और कर्म का पवित्र प्रवाह, सत्यंशिवं सुन्दरं का पावन रूप धारण करके, मानो शैवागम के आनन्दवाद का शंख निनादित कर देता है।

उत्साही लोगों के कल कल निनाद से, सचेत होकर, मत्स्यगन्धा के उदासीन हृदय ने, एकाएक अंगडाई ली थी, या आशुतोष की कृपा ने ही उसके चित्त को, अचानक, गुदगुदाया था ? उसका मन, अचानक, अप्रत्याशित आनन्द से आन्दोलित हो उठा। उसने अनुचरी से पुछवाया--

"मालूम करो यह भीड़, इस उमाह से किधर जा रही है।"

परिचारिका की सूचना से ज्ञात हुआ कि कोई अत्यन्त तेजस्वी युवा सन्त, काशी के पार्श्व क्षेत्र के वन कान्तार में, निवास कर रहा है जो अपनी ज्ञान गरिमा और अद्भुत प्रवचनों के साथ, अलौकिक सिद्धियों के प्रकाश से अमित-जन-मानस को आकृष्ट कर रहा है। कहते हैं उसके स्पर्श मात्र से बड़े २ रोग दूर हो जाते हैं। सन्तानहीन को सन्तान प्राप्त होती है। निर्धनों को धन, अपढों को शिक्षा और साधकों को सिद्धियाँ उपलब्ध हो रही हैं। वाणी में उद्भुत ओज है। साधना होते हुये उपनिषदों में उसकी समता कठिन है। थोड़ी ही वय. विलक्षण प्रतिभा दिखलाई पड़ती है उसमें। काशी ही नहीं, सम्पूर्ण आर्यावर्त के विद्वान, प्रसिद्ध ऋषि मुनि, उसके सम्मुख, विनत हो चुके हैं तो भी उसकी निरभिमानता और सहज मानवीयता ने सामान्य जनों को

अपने प्रेम से आप्लावित कर दिया है। दूर दूर से जनमानस उसके दर्शनों को उमड़ा पड़ता है। जंगल में मंगल हो रहा है। एक मेला सा भर रहा है क्योंकि उसके सम्पर्क भाव से प्राणियों को शान्ति की सुगन्ध मिल जाती है।

राजमाता, उत्सुकता से, इस समाचार को सुन रही थी किन्तु चौंक पड़ी यह सुनकर कि कुछ तथाकथित कुलीन वंशी और परम्परावादी पंडित उस तपस्वी के विरुद्ध कुचक्र भी रच रहे हैं क्योंकि उसने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात किया है। वेद का विषय, जन सामान्य के लिये, सुलभ कर दिया है। वैदिक रूपकों को, पौराणिक आख्यानों में ढालकर, अत्यन्त रोचक रूप में, जन जन के मानस तक, पहुँचाया जा रहा है। सम्पूर्ण भारत को एकता के अखण्ड सूत्र में बाँधने के लिये, ऊँच नीच के भेद भाव को मिटाकर, भक्ति का वह अमृत बाँटा जा रहा है, जिसे पी पीकर "हरि को भजे सो हरिका होई"—मंत्र, लेकर लोग आत्मिक विकास की सीढी पार कररहे हैं। पुराण प्रवचन का कार्य उसने सूत पुत्रों और निषादों को भी सौंप दिया हैं ताकि वे दूरदूर घूमकर, कथा कहानियों के रोचक माध्यम से, भारत ही नहीं विश्व के कोने कोने तक, भारतीय संस्कृति का प्रचार प्रसार कर, राष्ट्र की एकता के लिये कामगर सिद्ध हो सकें। पुराणों में, भारतीयों के गौरवपूर्ण इतिहास के साथ, दर्शनों के सुलझे हुए विचार संजोकर, ऐसी रोचक कथाएँ तैयार की गई हैं कि सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी उन्हें हृदय में उतार सकता है, आत्मसात् कर सकता है। दलितों के प्रति उसकी करुणा का अखण्ड स्रोत, इस तरह फूट चला है कि वे उसकी रक्षा के अक्षय कवच बनकर खड़े होगये हैं। सुना है, इस समाचार से तो काशी राज भी काँप उठे हैं कि उनके वास स्थान में जाने वालों को शंकर की कृपा सहज ही प्राप्त हो जायेगी। भला फिर काशी कौन जायेगा ? व्यास काशी ही में पुण्य के लोभी पहुँच जाया करेंगे। व्यास के स्थान को काशी पुकारना, पंडे पुरोहित और पुजारियों की नींद हराम करने लगा किन्तु उसकी तेजस्विता और अस्मिता के विरूद्ध शक्ति संजोने का साहस न जुटा सके वे। पिता को चिन्तित देख, काशिराज की कुमारी कन्याओं ने, उन्हें इस भय से मुक्ति दिलाने की प्रतिज्ञा की है। और आज इसी उद्देश्य से वे व्यास काशी में पधार रही हैं। राजमाता के मन में अत्यधिक कुतुहल, जागरित हुआ और उन्होंने स्वयं भी उस तपस्वी के दर्शन की इच्छा प्रकट की किन्तु जब उन्हें पता चला कि वाहनों को उधर नहीं जाने दिया जाता, पैदल ही जाना पड़ता है तो उन्हे चन्द्रवंशियों की पर्दाप्रथा पर एक बार पुनः क्षोभ हुआ। पर आज न जाने कैसा उन्माद, उन पर छा गया कि अत्यन्त साहस से रथ की शिविका को छोड़कर नीचे कूद गईं और सामान्य जनता के साथ कदम मिलाकर बढ़ चली। जनता, चन्द्रवंशियों के विशाल साम्राज्य की राजमाता के दर्शन कर खुशी से झूम उठी, मानो यह पीड़ित जनता और दलित जनों की विजय का उद्घोष हो कैसे, कुलीन-अकुलीन, ऊंच नीच और राजा-प्रजा के बीच पड़ा हुआ, अन्धा पर्दा यकायक उठा दिया गया है। व्यास

की महिमा इसमें कुछ और निखर उठी, एक तुमुल घोष के साथ, जनसमूह का एक भाग, चिल्लाया--"महर्षि व्यास की......।" उतने ही जोर से दूसरा वर्ग चिल्लाया, "जय ऽ ऽ ऽ ऽ।"

स्वयं ही सत्यवती भी गूंजती दिशाओं के साथ पुकार उठी "जय जय ऽ ऽ ऽ जय ऽ ऽ ऽ।" और ऐसे दौड़ पड़ी जैसे घायल हरिणी जाल तोड़कर भाग निकली हो।

कन्धे छीलती भीड़ की खचाखच और जय जयकार के तुमुल नाद में, सत्यवती अपना रास्ता बना पाने में असमर्थ हो रही थी। अङ्ग रक्षक और सुरक्षा सैनिक भय और आशंका से सिहर उठे। पराये देश में किसी भी प्रकार की कठोरता, अनजाने विप्लव को जन्म दे सकती थी, अतः वे विनय से अपना कार्य सम्पन्न करने की चेष्टा कर रहे थे। शैवों और वैष्णवों का सम्मिलित जन प्रवाह, विशाल समुद्र सा, गरज रहा था "हरि-हर हरि-हर" हरि हरि हरि हरि हर हर हर हर ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ।"

सहसा राजमाता की दृष्टि पड़ी, उस परम तेजस्वी कृष्ण वर्ण सन्त पर, जिसके एक एक अंग की उपमा, नीलोत्पल कमल से देने को मन चाहता था। सिर पर घुंघराली पिंगल जटायें, सूर्य की आभा से दीप्त स्वर्ण के ढेर की तरह दिखलाई पड़ती थी। कर्ण पट को छूते सुदीर्घ विशाल नयनों में, अपूर्व आलोक से चमकती पुतलियां, राशि करुणामय दृष्टि से, अनजानी आशा और आह्लाद की वर्षा कर रही थी। अलक्षित मुस्कान से भरे बिम्बारुण अधरों के बीच, दमकती हीरकणी सी दन्तावली, न जाने कैसी सुवास से, तनमन में, पुलकावली सी भर रही थी। कपोत सी ग्रीवा और नीलकण्ठ आशुतोष से पारदर्शी कण्ठ के नीचे, तने हुए कवन्ध पर उठे हुए वृषभ से स्कन्ध और चक्की के पाटों से उभरे विशाल वक्ष में छिपा, कोमल, करुणार्द्र उदार हृदय, अपूर्व स्नेह से, सबका मन अपनी ओर खींच रहा था। छाती पर लहराती झूमती, मदमाती फूले हुये बड़े बड़े पाटल पुष्पों की माला, श्यामघन के बीच, घुले मिले रुई के गालों से छितरे कपासी बादलों की याद, दिला रही थी और सांवले शरीर पर लहराता पीला दुकूल, मेघाछन्न काले आसमान में कड़कती विद्युत छटा की तरह फड़फड़ा उठता था। राजमाता ने उस रूप को देखा और अजानी हूक से उनका अन्तर कसक उठा। अस्फुट फुसफुसाहट की आह की ध्वनि बनकर, शीतल निश्वासों में घुलने लगी

"मेरा कृष्ण ही है क्या? इतना बड़ा हो गया होगा क्या? क्या, क्या, है ......होगया है कितना बड़ा होगया है, वही तो है, मेरा कृष्ण......कृष्ण ही तो है यह......कैसे कहदूं, किससे कहदूं, किससे पूछूं......? हाय! कितना जकड़ा है कृत्रिम मर्यादाओं ने मुझे? आज भी शान्तनु का तीर बनकर मेरे अन्तर्तल को साल रही हैं ये परतन्त्रता की बेड़ियाँ। कितनी विवश हो गई हूं मैं। देखो तो, अपने हृदय को भी अपना नहीं कह सकती। अपने प्यार पर, ममता का हाथ रखकर भी नहीं

सहला सकती मैं। कितना छला है, मनुष्य की सभ्यता ने, मानव की मानवीयता को, सहज स्वाभाविक संवेदनशीलता को ? क्या हुआ मुझे ? ऐश्वर्य की गरिमा ने वन्दी वना लिया क्या मेरी आत्मा को ? नहीं, आज यह बन्धन तोड़ दूंगा मैं, चुप न रह सकूंगी मैं, उच्च स्वर से आवाहन करूंगी अपने लाल का......मेरे शरीर का भाग ही नही, मेरी आत्मा की छटपटाहट है यह......मेरी क्रोड़ में उभरते पावन प्रेम की पहचान है यह......इसे विसराकर; शान्तनु की निर्मम स्मृतियों को हृदय की विषभरी चुभन वनाकर कैसे जी सकूंगी ? अनिश्चित वरदानों से स्नेहमयी क्रोड़ का विवश शृंगार कव तक होता रहेगा ? हृदय के ज्वालामुखी में उफनती हुयी ममता के लावे को, कव तक दावकर रखूंगी मैं ? नही यूं न जी सकूंगी मैं ...... पागल हो जाऊँगी यूं तो......मैं पागल नहीं हो सकती......पागल नहीं हो सकती ......पागल नहीं हूं मैं......चिल्लाकर कहूंगी चिल्लाकर......पुकारूंगी उसे...... "कृष्ण ऽऽऽ।"—"कृष्ण ऽऽऽऽ।"

इतनी जोर से चिल्लायी राजमाता कि जन समूह की प्रवल गर्जना को चीरती हुई उनकी चीख, व्यास के कानों तक पहुंच गई। न जाने कौन सी करुण कसक थी ? कि चिर परिचित ममतामय स्वर को सुनकर, तुरन्त आवाज की दिशा में दौड़ पड़े, पागलों की तरह चिल्लाते हुए; महर्षि व्यास--

"माँ ऽऽ। मैं आया......आया माँ ऽऽ......।" जन समाज स्तब्ध होगया, समुद्र जैसे दो पाटों में फटकर भूमि छोड़ दे, ऐसा रास्ता वना दिया--स्वतः ही लोगों ने और इससे पहिले कि हाँफती दौड़ती माँ, मूर्छित होकर गिर पड़ती, कृष्ण की सवल वाहों ने, हवा में तैरकर उसके गिरते शरीर को सम्भाल कर, अपने करुणामय हृदय से लगा लिया। अचम्भित था उपस्थित जन समाज, राजमाया के भाग्य को सराह रहा था। मूर्छित होती हुई, निढाल माता के झूलते शरीर को, व्यास ने अपनी सवल भुजाओं में उठा लिया और कुटिया की ओर ले चले। शिष्य, प्रशिष्यों, सूतों, मागधों और आगन्तुक श्रद्धालुओं ने भीड़ को नियंत्रित करने का प्रयास किया। चन्द्र-वंशी सैनिक हताश से देखते रहे, पास न जा सके, राजमाता अकेले ही युवा ऋषि की सुरक्षित वाहों पर, आश्वासन की शिविका वनाकर, लेटी जा रहीं थी।

सामान्य उपचार से ही, राजमाता की चेतना लौट आयी उसकी आँख खुली तो वह चान्द सा मुखड़ा, सामने था रानी माँ ने चकोरी की तरह दृष्टि जमा दी विस्मृत वेटे के मुख पर, लगा जैसे सम्पूर्ण अमृत एक ही साथ जाना चाहती हों। उसकी ममता केवल कुछ स्फुट स्वरों में फुसफुसाई--

"वेटा !.........कृष्णः।

"हाँ, माँ ! वोलो क्या कष्ट है तुम्हें ?" अत्यन्त कातरता में पूछा व्यास ने। क्षत्रिय-वैभव के पालने में झूलने वाली राजमाता, कष्ट क्या वताती ? उसने पुतलियां घमाई ... प्रेम का

मधु लेकर, उभर रही थी। पर जाने कहाँ कण्ठ में आकर अटक गये बोल। गला भर भरा उठा। न जाने कैसे पलकें झपझपाई और नयनों ने वाणी का स्थान ले लिया। आँसुओं की भाषा ने अद्‌भुत दास्तान सुनानी शूरू कर दी थी शायद इससे भी काम न चला था; तभी तो हिचकियों ने उनका स्थान लेना शुरू कर दिया था। विह्वल हो गये ऋषि। उन्होंने, माँ के सिर को गोद में रख, झुक कर, सिर सहलाते हुये कहा—

"विह्वल न हो माँ! अपना कष्ट मुझे बतला, मैं प्राण देकर भी, तेरे दुःख दूर करने का यत्न करूँगा।"

"तेरे पिता कहाँ हैं वत्स।"

"मेरे पिता···?"

बात पूरी न हो सकी—अकस्मात काशी राज की तीनों पुत्रियों ने, अपनी उपस्थिति से, एकान्त भाव सम्मिलन में व्यवधान, उपस्थित कर दिया—

"प्रणाम मुनिवर! क्या हम अन्दर आ सकती हैं?"

मुनि का ध्यान अनायास ही आगन्तुकों की ओर खिच गया—

"आइये, क्यों नहीं? विराजिये देवि! कहिये मैं आपका क्या प्रिय करूँ?"

"हमारा प्रिय···?" लगता है आज तो अपना ही प्रिय करने में असमर्थ हो रहे हैं आप?"

"ऐसा किस लिये कह रहा हैं भगवती?"

उनमें से एक अपने आँचल को सहेजते हुये, किंचित व्यंग्य से बोली—

"लीजिये, पहिले आँख के आँसू पौंछ लीजिये, शायद फिर कुछ समझ में आजाये।"

व्यास को, मानवीय दुर्बलता की अनुभूति हुई। किंचित लज्जा के अनुभव से, उन्होंने आँसुओं को पौंछ डाला और चित्त को एकाग्र कर दृढ़ता से सम्भल गये। माँ को वही छोड़ दीवार से लगी आसन्दी पर बैठ गये। वातावरण की कठोरता से प्रभावित मत्स्यगन्धा की खोई हुई आत्म शक्ति भी, अप्रत्यक्ष चोट पाकर, जाग स्वर को सुन, उसने आँखें खोल दी और तीन रूप सी अप्सराओं को सम्मुख पा, चकित रह गई। राजसी वेषभूषा को देखकर राजकीय सम्मान की मानसिकता भी लौट आई और वह उठकर दूसरी आसन्दी पर विराजमान हो गई। घटना को देखकर, अंचभित सी बोली कुमारियाँ—

"क्या नाटक का दृश्य परिवर्तित हो गया ऋषि राज?"

किसी को क्रोध दिलाने के लिये इतना पर्याप्त होता है। किन्तु क्रोध को काम के समान ही, प्रबल शत्रु समझने वाले व्यास ने, उसे पास न फटकने दिया। सहज स्मित के साथ, उत्तर दिया, उन्होंने—

"पात्रों के बदल जाने पर, दृश्य तो स्वयं ही बदल जाता है देवियों।"

"और जब स्थान भी बदल जाता है, तब तो सब कुछ ही बदल जाता होगा नटनागर ?"

"आप, अपना मन्तव्य स्पष्ट कीजिये···।"

"हाथ पर आँवले की तरह, शास्त्र ज्ञान को स्पष्ट करने वाले, इतने बड़े विज्ञान को, कुछ अबोध बालाएँ दीक्षा देंगी क्या, अब ?"

"यह भी तो आवश्यक नहीं कि एक ही व्यक्ति सभी प्रकार के विषयों में पारंगत हो···।"

"तो यह भी आवश्यकता नहीं कि एक सामान्य व्यक्ति, स्वयं को, देवताओं की भाँति पुजवाने लगे ?"

"पुजवाना, अपने हाथ में नहीं। भगवान विश्वनाथ, जिस पर कृपा करते हैं, वही पूज्य हो जाता है।"

"किन्तु कुछ ऐसे भस्मासुर भी होते हैं जगत में, जो उन्हीं से वरदान पाकर, उन्हीं पर हाथ साफ कर देना चाहते हैं ?"

"हाँ होते तो हैं।"

"पर यह भी जानते होंगे, कि उन्हीं के लिये मोहिनी अवतार भी होता है ?"

ठठाकर हँस पड़े व्यास, उनकी बालवुद्धि व्यंग्यात्मक कर्कश स्वर को सुनकर—

"पर मैं भी तो सुनूँ······यहाँ कौन सा भस्मासुर आ पहुँचा है ? जिस पर एक साथ, तीन-तीन मोहनियों को, कोप की कमान लेकर खड़ा होना पड़ा है।"

परिहास का उत्तर परिहास से देने के बजाय, कर्कशा उठी काशीराज की कुमारियाँ। उन्होंने स्पष्ट आघात किया--

"भस्मासुर मोहनियों के सामने है······आप······आप······हैं वह।"

"आपका मतलब है आप ? कैसे समझेंगी, आप तो आप ही हैं न ?"

मुझे कोई आपत्ति नहीं। मानव सी सुन्दर देह का वरदान पाकर भी जगतप्रिया का स्मरण न करें, इसे दुष्कर्मों से प्रेरित करें, काम से कलुषित और क्रोध से दग्ध करें······क्या यह भस्मासुर का सा कृत्य नही ? इस असुरत्व को भस्म करके ही, भस्म काम होने का प्रयत्न कर रहा हूं मैं······किन्तु मोहिनी होकर भी जो, स्वयं ही दग्ध हो रही हों, तो क्या आश्चर्य न होगा ?"

राजमाता भी विचलित हो चुकी थीं कुमारियों के व्यवहार से। अपनी अवस्था के अनुरूप किंचित क्षोभ के साथ बोली—

"यदि मैं भूल नहीं कर रही, आपके परिधान राजकुमारियों के हैं न ?

सम्भवतः, यह बाधा उनके लिए असह्य थी, भृकुटियाँ कुटिल हो गईं। चाह कर भी स्वर संयत न हो सका उनसे--

"परिधान ही नहीं, देह भी राजकुमारियों की है अनुभव सिद्ध गृहिणी।"

"किन्तु आचरण तो राजकुमारियों से नहीं दीखते मुझे......। दर्प से टकरा कर दर्प फूत्कार उठा--क्या सामान्य शिष्टाचार भी नहीं सिखलाया गया तुम्हें...।"

"आप हैं कौन ?"

"तुम्हें क्या दीखती हूं ?"

"देह से तो एक नारी ही, किन्तु व्यवहार से सास लगने लगी हो......।"

व्यंग्य से खिलखिलाकर हँस पड़ीं तीनों और तिलमिला उठी राज माता। उनकी भृकुटियाँ तन गई। शायद शैशव का औद्धत्यं जाग उठा था अथवा साम्राज्य का गर्व ? उनका मुँह तमतमा उठा। उन्होंने यथा सम्भव स्वर को संयत करके कहा—

"हाँ यह भी हो सकती हूं किन्तु तुम्हें इसके लिए योग्य बनना पड़ेगा......।"

"यह क्षमता है तुम्हारी......?"

"क्षमता तो, तुम्हें, भिखारिणी भी बना देने की है मुझमें, किन्तु तुम तो राजवधू ही प्रदर्शित करना चाहोगी न स्वयं को ?"

"जानती हो हम कौन हैं.....हम काशीराज की पुत्रियाँ हैं ?"

"क्या, धौंस देना चाहती हो मुझे ? जाओ अपने पिता से कहो स्वयंवर रचाएँ तुम्हारा, ताकि युवा तपस्वियों की साधना में विघ्न न उपस्थित हो सकें और लोग तुम्हें शूपनखा कहकर न पुकारने लगें ?"

"स्वयंवर में आप वरेंगी क्या हमें ?"

"तुम्हारे यहाँ, स्त्रियाँ स्त्रियों को वरती हैं क्या ? स्मरण रखो, शक्ति के इंगित पर कार्य सम्पन्न होते हैं सृष्टि के। मुझे स्वयं कुछ करने की आवश्यकता नहीं......।"

"आवश्यकता नहीं, तो क्या इस भुक्खड़ के सम्मुख, आँचल पसारेंगी हम ?"

"यह भी हो सकता है।"

"कैसे हो सकता है, क्या यह हमें युद्ध में जीत लेगा ?"

"यह नहीं तो इसका कोई भाई जीत लेगा, पर याद रखो यह जरूरी नहीं कि दूसरा भी इतना विनयी शान्त या कोमल हृदय हो, कोई भीष्म, भयानक और कठोर भी फँस सकता है तुम्हें .....?"

"आप वय का लाभ उठाकर अपनी सीमा का अतिक्रमण कर रहीं हैं......।"

"यह न भूलो राजकुमारियों। किसी तपस्वी बालक से बात नहीं कर रही हो तुम, जो अपनी शालीनता से चुप रह जाये और क्रोध को वश में करके, संयम का प्रदर्शन करें। यदि व्यक्तिगत रूप से कुछ करने की क्षमता है तुममें तो मल्लाह की बेटी तुम तीनों के लिए पर्याप्त है और अगर राज्य का घमण्ड उद्धत बना रहा है तुम्हें, तो चन्द्रवंश को इतनी क्षमता भी है कि क्षण भर में काशीराज को धूल चटा दे......।"

"आप चित्रांगद और विचित्रवीर्य की जननी हैं ?"

"हाँ और प्रतापी शान्तनु की......।" झिझक गई योजनगन्धा पराशर का स्मरण कर।"

"हाँ, बोलिये, बोलती क्यूँ नहीं ? एक को तो असमय ही परलोक......।"

क्रोध से कंपकंपा उठी राजमाता, वह उठ कर खड़ी हो गईं, उनकी आँखों में खून उतर आया। वे तीनों भी जमकर खड़ी हो गई अपने स्थान पर......।

"अपनी गरिमा न त्यागें राजमाता। आप अतिथि हैं, हम आपका सम्मान करती हैं...पर आपको......।"

'कितना, अतिथियों और सन्तों का, सम्मान होता है यहाँ, वह मैं देख ही चुकी हूं......।"

"आप राजसी वंश की गरिमा खोकर, एक भिखारी के लिये......।"

"चुप रहो, राजकुमारी। तुम उसकी क्षमता को समझ नहीं सकी...उसकी विनम्रता के गलत अर्थ न आँको......।"

"क्या आप उसकी क्षमता को जान गईं राजमाता ? आप तो ऐसे पक्ष ले रही है जैसे कोई माँ अपने पुत्र का......?"

भावनाएँ चरम सीमा पर पहुंच चुकी थीं। राजमाता चीख उठी—

"हाँ, माँ हूं, माँ ऽ ऽ...बेटा ही मेरा यह......।"

और आवेश को दबाने के प्रयत्न में, पुनः मूर्च्छित होकर गिर पडी राजमाता। व्यास ने, झटपट, गोद में उठा लिया, माँ को। उनका स्वर कातर हो गया—

"इतनी कर्कश न बनो राजकुमारियों ! नारी को कमनीयता शोभा देती है, कोमलता और करुणा शोभा देती है...एक वृद्धा को, एक माँ को, यूँ न सताओ... मैं तुम्हारा आशय समझ गया...मेरी उपस्थिति महाराज के पंडितों के लिये असह्य हो रही है...मैं चला जाऊँगा...मेरी गलती ही है यह...हम जैसों की एक स्थान पर टिकना भी तो न चाहिये...महाराज से मेरी ओर से प्रार्थना करना...वे भय न मानें मुझसे...मैंने भारत भ्रमण का व्रत लिया है......मैं भारत के सांस्कृतिक संघर्ष का सिपाही हूं, राजनीतिक संघर्ष का नहीं...मुझे युद्ध नहीं लडना है प्रेम का प्रसार करना है...सम्पूर्ण भारत को एकता के अखण्ड सूत्र में बाँधना है...मुझे वैमनस्य के बीज नहीं बोने हैं......शंकर मेरे आराध्य है और विष्णु मेरे पूज्य...मैं प्रेम का पुजारी हूं—द्वेष या शत्रुता का नहीं...।"

अन्तिम शब्द कहते कहते, वह, इतने विह्वल हो गये थे इतने कातर...कि आँसू तरला उठे उनके नील कंज से कमनीय करुणागत नेत्रों में। न जाने, कैसा प्रभाव दिखाया था, विनयी वाणी ने, कि कर्कश राजकुमारियाँ पिंघल कर मोम होने लगीं। न जाने कौन सी कोमल भावना तीनों के नेत्रों में तरला उठी ? वे केवल इतना कह सकीं......।

"हमें क्षमा कर दें मुनिवर ! हमने समझने में भूल की है, पिता के स्वार्थ और पंडितों के द्वेष ने हमे गलत दिशा दी थी···हमें क्षमा करें।"

तपस्वी के चरणों में नत मस्तक हो गया, राज्यकुल का वैभव । व्यास की आँखों का पानी, कुमारियों के नयनों को सजल कर रहा था । उन्होंने, आँसू पौंछे और गम्भीरता को परिहास में घोलने की चेष्टा करते हुये, किंचित विनोद का आश्रय लिया---

बस बस; उठो, मोहिनियों ! क्रोध का भस्मासुर तो कब का भस्म हो चुका; अब बेचारे तपस्वी को क्यों मोह में डाल रही हो······? अच्छा, चला अब मैं······ राजमाता का ध्यान रखना······उपचार से स्वस्थ करने का प्रयत्न करना···जागें तो इतना कह देना :-कि---"अपने राज्य में लौट जाये······जब भी स्मरण करेंगी, मैं तुरन्त आ सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।······मैं चलता हूं···।"

किसी वस्तु को न छुआ उन्होंने । सारे समाज सारे क्षेत्र और सारे मन महत्व को छोड़कर—सबका मोह छोड़कर, क्षण भर में अनजान राहों के पथिक हो गये, प्रकृति, पूजा की आरती लिये ही, खड़ी रह गई । त्रिपुर सुन्दरी, मन ही मन वन्दन कर रही थीं विश्वात्मा का ।

किसी प्रकार यत्नशील होकर परिचारक, पहुंच गये थे वहाँ । रोगिणी राजमाता के पुनः वैभव की शिविका में आरूढ़ कराकर सत्ता के दुर्गम गढ़ में पहुंचा दिया गया।

भीष्म ने जो कुछ सुना, सुनकर शरीर अग्नि में तपाये लोहे सा प्रज्ज्वलित दिखाई पड़ा । राजनीति अवसर की प्रतीक्षा में जुट गई ।

काशी में बड़ी चहल पहल था। विभिन्न परिवेश में आये, देश विदेश के राजकुमारों को, देखकर ऐसा लग रहा था, जैसे काशी की भूमि को, रंगमच बनाकर रंगारंग कार्यक्रम, प्रस्तुत किया जा रहा हो। वास्तव में राजपुत्रियों का स्वयंवर रचाया था काशीराज ने। स्वयंवर से, राजकुमारी की स्पर्द्धा के बीच दृढ़व्रती भीष्म का नामाङ्कण देख, क्षत्रिय शूरवीरों को विस्मय के साथ ही हताशा भी हुई। अंगूर खट्टे समझ, फब्तियाँ कसी जाने लगी। कर्मठ पुरुषार्थियों की यश रूपी हिरणी भी अकर्मण्य निन्दकों के शब्द बाणों से आहत हुये बिना कहाँ रह सकी है? कोई बोला—

"भई बुद्धिमान हो तो चन्द्रवंशी देवव्रत जैसा, मुफ्त में ब्रह्मचर्यत्व का यश भी कमा लिया है और अब काशी के अनुपमेय यौवन का आनन्द उठाने भी आ पहुँचे ?"

दूसरा बोला

"भीष्म इसमें क्या करते जब किसी ने स्वयं ही चन्द्रवंश का आह्वान किया हो ?"

"पर राजकुमारियाँ तो जानबूझ कर, उनकी ओर से मुँह फेर कर चली गईं।"

"यह तो बहुत बुरा हुआ, लगता है काशीराज ने अपनी चिता भी साथ ही तैयार करली है। दृढ़व्रती भीष्म की क्रोधाग्नि में, सब कुछ स्वाहा हुआ समझो। घर बुला कर अपमान करने से अच्छा तो था न बुलाते।"

"सुना है भीष्म तो न भी आते, किन्तु राजमाता की प्रसन्नता के लिये, उन्हें आना पड़ा।

"राजमाता की प्रसन्नता ?"

"हाँ राजमाता काशीराज से अप्रसन्न हैं।"

"कैसी बातें करते हो ? अप्रसन्न होकर भी क्या सम्बन्ध की इच्छा की जाती है ?"

"सम्बन्ध की कैसे कह दें ? वहाँ तो एक दूसरे को नीचा दिखलाने की बात हो रही है ?"

"कुछ कारण तो होगा ?"

"कारण वह तपस्वी है, जिसने कुछ दिन पहिले व्यास काशी की धूम मचाई थी।"

"वह तो बहुत सौम्य था, उसके कारण भी क्या कोई विप्लव जन्म ले सकता है ? उससे तो, काशी का जन जन प्रसन्न है। उसकी मूर्ति का पूजन किया है काशीराज ने। भैया ! शंकर के पुत्र गणपति उसके मित्र हैं, भला काशीराज कैसे अवहेलना करेंगे उसकी ?"

"वह तो अपनी सौम्यता और सत्वगुण से वच गया, पर, ये दो रजोगुणी तो, अपने दम्भ से टकराये विना न रहेंगे।"

"भला फिर ऐसे सम्वन्ध से दोनों कुलों का क्या भला होगा ?"

"पर होनी को कौन टाल सका है भाई ? इसीलिए तो कहता हूं राजकुमारियों की अवहेलना आग में घी का काम करेगी।"

"पर यह ब्रह्मचारी तो वड़ा नीतिवान बनता था ?"

"अतिथि धर्म तो काशी को भी न भूलना चाहिए था ?"

"काशीराज ने तो कूटनीति से पछाड़ा है चन्द्र वंश को—व्याह हुआ तो देवव्रत का आचरण संदिग्ध और न हुआ तो विजयगाथा का यश समाप्त। दोनों हाथों में लड्डू कर लिये भाई ने।"

"ब्रह्मचारी भी पूरा घाघ है, क्या छकाये विना छोड़ देगा इसे···देखो आगे क्या होता है ? रहस्य तो रहस्य ही है भाई।"

इधर ये फुस्फुसाहट हो ही रही कि उधर क्रोधाविष्ट भीष्म गरज उठे—"काशीराज की कन्याओं को कोई न छुए जव तक प्रतिस्पर्द्धा या शस्त्र वल में मुझे न हरा चुकें।"

भीष्म के वल विक्रम से परिचित उपस्थित समुदाय, कांप उठा। भीष्म ने तीन वार सुनाया—"है कोई जो चन्द्रवंश के पराक्रम से टकराना चाहता हो ?" किसी को आगे वढ़ने का साहस न हुआ।

पराक्रम के अभिमान से पूजित, भीष्म ने, राजकन्याओं को वलपूर्वक लाकर, रथ पर वैठा लिया और हस्तिनापुर की दिशा में दौड़ पड़े।

सौभ देश के राजा स्वाभिमानी शाल्व ने, रोकने का असफल प्रयत्न किया और राजकुमारियों की याचना पर ही उसके प्राण भी वच सके। राह में एक कन्या अम्वा ने, शाल्व पर अपने पूर्व प्रेम को प्रकट करते हुए, अत्यन्त कातर स्वर में, छोड़ देने की प्रार्थना की। भीष्म ने दयाकर छोड़ दिया उस कन्या को। शेष दो—अम्विका और अम्वालिका को, हस्तिनापुर पहुँचाकर, विचित्रवीर्य से बलपूर्वक उनका विवाह कर दिया।

माँ की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए, जव दोनों वर वधुओं को, सत्यवती के पैर छूने के लिए, प्रस्तुत किया गया तो भीष्म की आशा पर भयंकर तुषारापात हुआ। क्रोध से काँपती हुई अप्रसन्न राजमाता ने, विचित्रवीर्य से प्रश्न किया—

"क्या राजकुमारियों ने स्वतः वरण किया है तुम्हारा ?"

"नही तो······।"

"तो फिर कैसे तुम्हारी पत्नी हो गई ये ?"

"भैया, इन्हें स्वयंवर से जीतकर लाये हैं······।"

"जीतकर या अपहरण करके······?"

"मुझे नहीं मालूम......।"

"फिर कैसे तुमने पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया इन्हें ?"

"भैया की आज्ञा से......।"

"क्या मेरी आज्ञा की कोई आवश्यकता न थी......बस भैया ही सब कुछ हो गया ?

"भैया ने आपकी प्रसन्नता के लिए ही ऐसा किया है ?"

"भीष्म को ऐसी आज्ञा की थी क्या मैंने ? क्या मैं तुम्हें प्रसन्न दिखाई पड़ती हूं ?"

"पता नहीं......।"

"भीष्म को बुलाओ......।"

"लो वह आ रहे हैं, आप ही पूछ लीजिये......।"

भीष्म ने झपटकर प्रसन्नता से माँ के चरणों में प्रणाम करना चाहा किन्तु कठोर प्रतिध्वनि सुनकर चौंक उठा—

"देवव्रत भीष्म ! मेरे नाम पर यह न्यायपूर्ण राज्य किया जा रहा है ?"

"क्या राज माता ?"

"नारी जाति को अपमानित करने का अधिकार किसने दिया है तुम्हें ?"

"किस नारी का अपमान किया है मैंने ? माँ !

"काशीराज की कन्याओं का। कठोर व्रती भीष्म ! यह पापपूर्ण भीष्म कर्म करने की प्रेरणा किसने दी थी तुम्हें ?"

आसमान में झूलते मन को धरती पर पटक दिया गया जैसे, भीष्म सकते में आगये। प्रसन्नता के स्थान पर, यह क्रोध, सन्तुष्टि के स्थान पर भयंकर वितृष्णा पुण्य के स्थान पर पाप ? बड़ी मूर्खता होगई। सहसा बिना विचारे किया हुआ कार्य कितना कष्टकर हो जाता है ? मन ही मन पछता रहे थे शक्ति शिष्य गांगेय, तो भी कुछ संभले और बोलने का प्रयत्न किया—

"क्या मातृ श्री के सम्मुख, धृष्टता न की थी, काशीराज की दम्भी कन्याओं ने ?"

"क्या मैंने तुमसे कोई शिकायत की थी ऐसी ?"

"आप न कहें तो भी भीष्म को सूचनाएँ तो उपलब्ध होती ही हैं राजमाता?"

"......तो भीष्म राज माता पर भी गुप्तचरी करता है क्या ?"

"नहीं तो.....माँ ! किन्तु आपको प्रतिक्षण उदास देखकर चित्त डाँवाडोल हो जाता है, आपकी कुशलता का ध्यान रखना मेरा कर्त्तव्य है। चित्रांगद की मृत्यु से खिन्न, विचित्रवीर्य के विवाह की चिन्ता थी मुझे...वंश वृद्धि को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए, शीघ्र प्रयत्न की अपेक्षा थी न ?"

"सत्यव्रत भीष्म, आज, क्या सत्य से भी मुँह मोडेगा ? कौन से पुष्प खिलेगें बरबस उखाड़ कर, अनचाहे वृक्ष पर रोपी हुई, लताओं से ? ब्रह्मचारी ! नारी की छाँव को भी देखकर भाग खड़ा होने वाला, नारी के विज्ञान को समझने का दम्भ कैसे करने लगा है ? नारी कोई वस्तु नहीं जिसको थाली ने रख कर समर्पित किया जाये और वन्दी बना कर उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे आनन्द प्राप्त किया जा सके। पशु भी प्यार से पलते हैं देवव्रत ! नारी तो मानवी है। तुमने भी वही किया न जो शान्तनु·········।"

"माँ ऽऽऽ।"—चिल्ला पड़े भीष्म ।

"चिल्लाओ नही देवव्रत !"—चीखी सत्यवती भी—"राजमाता के सामने विनम्रता से बोला जाता है। मैं पूछती हूं, तुमने इस विवाह का पाप पूर्ण कलंक मेरे और मेरी सन्तान के माथे क्यूँ मढ़ा ? स्वयं विवाह करके अपने सिर क्यूँ नहीं लिया यह पाप ? क्या यश तुम्हारे भाग की वस्तु है और अपयश मेरे भाग की ? कीर्त्ति कुलीन सवर्णों को सोहती है और अपकीर्त्ति तथाकथित अकुलीन असवर्णों को, सुकृत धनिक राजपुत्रों को शोभा देता है और दुष्कृत निर्धन निषाद कन्या को ? मैं सदा जिस आग मे दहकती रही हूं वही आग तुमने एक घर में और लगादी······दो प्रफुल्लित पुष्पलताओं को किस ज्वाला में झुलसा दिया तुमने ?"

तिलमिला कर रह गये भीष्म, अन्तर्मन पश्चाताप की आग से झुलसने लगा। करुणा अंगारों पर पड़े मोम की तरह हो गई। कितनी जल्दी उन्हें उनके पाप का दण्ड भोगने को मिल रहा था। जिसे उन्होंने पुण्य कार्य समझा था वह तो निरा पाप कर्म था। भावुकता और अहंकार दोनों ने मिलकर उनके कर्म की कितनी दुर्गति की थी। वे चुप हो गये वाणी को काठ मार गया था मानो। विचित्र वीर्य ने भाई की बात सम्भाली—

"माँ भैया ने हमारे लिये ही तो सब कुछ किया है, अपने लियें तो कुछ नहीं···?".

"चुप रह रे शान्तनु के सपोलिये। मैं यही तो पूछतीं हूं कि इसने अपने लिये क्यों नहीं किया यह ?"

"प्रण से विवश हैं न ?"

"यदि मैं वचन मुक्त कर दूँ तो क्या मान जायेगा यह पूछ इससे···।' ममता मयी माँ का स्वर अज्ञात करुणा से गीला हो गया विचित्र वीर्य ने बड़े भैया की ओर देखा। दृढ़वती गांगेय कठोरता से बोले—

"नहीं यह कभी नहीं हो सकता।"

निराश माँ का दुःख कठोरता बनकर उभर आया। व्यंग्य से बोली राजमाता—

'सुन लिया···? जिसे अपना धर्म इतना प्यारा है वह दूसरे का धर्म क्यों बिगाड़ रहा है ? इसे तो मात्र भावुकता का धर्म भी प्रिय है और दूसरों के स्वाभाविक, मानवीय धर्म को भी कुचल कर [illegible] है ?"

"पर यह तो अच्छा लगा है भैया का दिया यह प्रसाद······।"

"चुप···तुझे क्या पता-क्या अच्छा है और क्या बुरा ? तेरी अबोध अवस्था का लाभ उठा कर ही तो. तुझे विलासिता में फँसा रहा है वह राज्य लोलुप···।" कहते कहते स्वयं सहम गई राजमाता। भीष्म की दृष्टि मिलते ही आँखों में गंगा जल उतर आया।

तीर की तरह अन्दर तक चीरते चले गये ये शब्द भीष्म को। वह अकुला उठे—"हे देव! मेरा शरीर बाणों से छलनी कर दे किन्तु ये शब्दों के तीर मुझसे सहे नहीं जाते···मुझे क्षमा कर दो भगवान, क्षमा करना भगवती······माँ! ऐसा न बोल, माँ क्षमा कर दे मुझे······बालक हूं तेरा······बालकों से तो गलती होती हैं······बेटे कपूत हो जाते हैं माँ! पर माँ तो कुमाता नहीं होती कभी···।"

महापराक्रमी योद्धा। बालकों की तरह बिलख उठा—

विचलित हो गई राजमाता। पर शान्तनु के स्मरण ने उसे फिर कठोर कर दिया—

"देखा गाँगेय! हृदय का आघात कैसा होता है? तुम पुरुषों की दृष्टि में नारी का तो कोई हृदय होता ही नहीं? अपने स्वार्थ और दम्भ की खातिर जब चाहे कुचल डालते हो, जब चाहे मसल डालते हो? आँचल से करुणा का दूध बहाने वाली, प्रेममयी नारी को, कष्टों के कण्टकों में घसीट कर, आठ आठ आँसू रोने पर, विवश कर देते हो न? जन्मदात्री नारी को, विक्रय का बाजार बना कर कितनी बार तुष्ट किया है पुरुष ने अपनी घृणित कुत्सा को। पुरुष के लिये जीवन का सम्पूर्ण अमृत लुटा देने वाली निष्ठामयी नारी को कटुता का कटु गरल पीने के लिये ही विवश किया है सदा पशुवृत्त बर्बर मानव ने······किया कि नहीं···?"

जाने किस द्वन्द्व में भटक गई थीं राजमाता। सात्विक क्रोध के आवेश काँपने लगी। अर्द्ध मूच्छित सी होने लगी। उन्हें इस अवस्था में देख, भीष्म सिहर उठे और और तुरन्त दौड़ कर चरणों में गिर पड़े——

माँ क्षमा कर दो माँ! क्रोध को त्याग दो माँ! अपने अबोध बालक पर दया कर दो माँ······।"

सत्यवती, अनियंत्रित हो चुकी थी। इससे पहले कि गिर पड़ती वे विचित्र वीर्य के साथ ही, दोनों बहुओं ने भी सहारा देकर, सम्भाल लिया। गिरते गिरते उन्होंने सहारा देती हुई बहुओं की ओर अत्यन्त कारुणिक दृष्टि से देखा और आँखें मूँद लीं। अस्फुट शब्द निकले——

'बेटा गांगेय! अपनी अनुज वधुओं से क्षमा माँग ले, ये क्षमा कर दें तो सम्भवतः नारी की कसकती आह और दैव के भयंकर शाप से बच जाय तू···मैं तो माफ कर ही दूंगी बेटे···माँ हूं न···डायन तो नहीं···।"

अविरल अश्रुधारा के बीच, गांगेय वधुओं की ओर झुके। किन्तु सत्यवती के सत्यव्यवहार से पवित्र अम्बिका और अम्बालिका, देवियों की तरह, सदय हो गयी और कुल की मर्यादा के अनुकूल हाथ जोड़ कर खड़ी हो गईं —

"क्या करते हो ज्येठ जी ! आप हमारे पूज्य हैं···आप हमारी ओर से निष्पाप हैं···भगवती माँ आपको क्षमा करें···आपके कुल में आकार हम पवित्र हो गईं···हम सहर्ष समर्पित हैं।

गांगेय, आसुओं की गंगा को, नयनों की कोर में छिपा कर तुरन्त, बाहर की ओर दौड़ गये और अपने कक्ष में जाकर माँ की प्रतिमा के सम्मुख छोटे से शिशु की तरह फफक पड़े।

—— -

१४

कहते हैं, जैसे कस्तूरी की सुगन्ध को, मुट्ठी में बन्द करके भी छिपाना दुष्कर है, वैसे ही सज्जनों के गुणों की ख्याति भी बन्दी नहीं बनाई जा सकती। व्यास के चरित्र की गन्ध भी देश देशान्तरों की सीमा लाँघकर देवलोक जा पहुँची। देवराज उन्हें हृदय से सम्मान देने को ललक उठे। सादर आमन्त्रण दिया गया और आत्मानन्द व्यास प्रेम के पथिक बनकर अमरावती आ पहुंचे।

ऊँचे पर्वत की पठारी भूमि पर बसा हुआ, वह नगर, बादलों की गोद में खेलता हुआ किस के मन को न मोह लेता होगा ? मादक पुष्पों की गन्ध से सराबोर, विभिन्न प्रकार के बिम्बों में, धूपछाँहों सा बरसाता हुआ, सुहावना मौसम, व्यास के भावुक हृदय में इन्द्रधनुषी मानों रंगसूत्र डालकर, सप्तस्वरी तान पर, रसमयी कविता के मधुर छन्द बुनने लगा। उनके ओठों की मधुर गुनगुन को देवताओं ने पहिचाना और बाहर आकर प्रकट होने लगे। सुन्दर, सबल, बुद्धिमान और ज्ञान सम्पन्न मोहक व्यक्तित्व वाले, देवता प्रकाश के से रंग वाले, द्युतिमान शरीर में,

सजीले रंगों और चमचमाते वस्त्राभूषणों से भूषित होकर, देवलोक की ऐश्वर्य सम्पन्नता का उद्घोष करते से दीख पड़ते थे। लम्बे-लम्बे काले घुंघराले बालों के अन्दर चमकते हुए मकराकृत कुण्डल, फूलमालाओं के गुम्फन में उभरते हुए, पुष्प धन्वा, मकरकेतु कामदेव की, छवि उत्पन्न कर रहे थे। स्त्री पुरुषों का एक से एक बढ़कर सुन्दर जोड़ा रति और काम के कल्पित रूपों की अभिव्यक्ति देना सा प्रतीत होता था। मक्खन से बनी चिकनी सुडौल गेंदो की तरह, शंकुआकार पर्वतीय चोटियों की भाँति ऊपर को उठे हुए, पीनोन्तुंग उरोजों वाली, लम्बी पुष्ट देह और क्षीण कटिवाली, पीन नितम्बिनी, तन्वंगी देवकन्याएँ, रूप के उद्यान में, प्रमुदित, प्रफुल्लित, फूलती, महकती, गमकती, खिलती, चटकती कलिकाओं सी मचलती, दिखलाई पड़ती थीं।

एक बात देखकर बहुत विस्मित थे व्यास। कोई बालक दिखलाई न पड़ा वहाँ। क्या वहाँ केवल मानस सृष्टि ही होती थी? इसी उहापोह में पड़े थे वह कि तभी स्तनों पर अंगिया के रूप में, सुनहरी कढाई से सजा लाल कपड़ा लपेटे और कमर से नीचे धवली बाँधे, अर्द्धनग्न सी एक युवती, अधरों पर मधु मुस्कान लिये, उनके पास आई। "पधारिये प्रभु······।" की संगीतमयी शिष्टाचार युक्त सभ्य वाणी के साथ सम्मान देती हुई, अपने साथ चलने का संकेत करने लगी।

व्यास मन में खेलते कुतुहल को दबा न पाये। मार्ग में अपनी जिज्ञासा प्रकट कर ही दी उन्होंने -

"क्या कारण है, यहाँ बालक क्यों नहीं दिखलाई पड़े मुझे?"

युवती ने परिहासात्मक स्वर में कहा—

"आप क्या सोचते हैं? बालकों के बिना सृष्टि आगे बढ सकती है? बालक होते हैं पर यदा कदा, किसी विशेष परिस्थिति में ही आपके लोक की तरह, यहाँ मूर्ख भेड़ों की भीड़ नहीं बढाई जाती कि जब चाहे, आकर आक्रामक झपट्टा मार ले अथवा पैदा की गई खेती की ऊन को मूँड ले जाये। अमरों को अधिक सन्तान की क्या······?"

खिसिया गये व्यास युवती को भारत की बहु सन्तानोत्पादक प्रवृत्ति पर व्यंग्य कसते हुए देखकर, फिर भी उन्होंने, मुस्कराकर ही पूछा—

"पर, यदि, वहाँ बालक होते हैं, तो, वे हैं कहाँ?"

"हमारे यहाँ, बालकों के पोषण का भार, माता पिता पर नहीं राज्य पर है। राज्य अपनी इच्छा के अनुकूल उनका विकास करता है और उपयोग भी। अतः जन्म के साथ ही, उन्हें माता पिता से पृथक कर दिया जाता है।"

"क्या माँ को कष्ट नहीं होता इससे?"

"होता होगा, किन्तु शिशु के सुन्दर भविष्य की कल्पना, उसे मोह रहित होने में सहयोग करती है। यही कारण है चिन्ता रहित देव और देवांगनायें वृद्धावस्था को

पास नहीं फटकने देती। देवों की आयु का अनुमान लगाना भी कठिन होजाता है मुनिवर !……हाँ एक बात और बता दूँ--स्त्री पुरुषों का समागत, सन्तान के लिये नहीं, केवल भोग के लिये होता है।"

"यह तो मानवों से बिल्कुल उल्टी बात हुई ? क्या इच्छित सन्तान के लिये कोई और तरीका निकाल लिया है देवों ने ?

"हाँ, शुक्रारोपण द्वारा परखनली में भी कृत्रिम गर्भाधान से शिशु को उत्पन्न कर माता के सौन्दर्य को विकृत होने से बचा लिया जाता है।"

व्यास ने मुँह बिचकाया--

"लगता है अमरत्व पाकर भी देवताओं को स्वयं पर भरोसा नहीं, नियन्त्रण कहाँ होगा स्वयं पर ? स्वच्छन्द मन में निश्चय ही आत्म संयम नहीं होता……

इससे पूर्व कि युवती कुछ उत्तर देती, देवराज का आगार आगया और द्वार रक्षकों से औपचारिक व्यवहार निभाती हुई, उन्हें लेकर, अन्दर प्रविष्ट होगई--

आगार के भीतर का दृश्य देखकर व्यास चकित रह गये। बड़े से बड़ा संयमी भी कैसे संयम निभा सकता था वहाँ ? इन्द्र और शची, अद्भुत रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान थे। अर्द्धनग्न युवतियाँ, विचित्र नाट्य मुद्राओं में, क्रीडा रत देवों को घेरे, किल्लोल सी करती, दीख रही थीं। व्यास के प्रवेश पर भी किसी ने नाम मात्र को भी, लज्जा का प्रदर्शन न किया। व्यास, स्वयं ही कुछ सकुचाकर, ठिठक गये। उन्होंने पलक मूँद ध्यानावस्थित की सी अवस्था में, आशीष का हाथ उठाकर, सुस्वर में स्वस्तिवाचन किया देवराज के लिये। देवराज की दृष्टि उन पर पड़ी और वे तुरन्त निरभिमान हो, उनकी अगवानी के लिए दौड़ पड़े। शची के साथ ही अनेकानेक युवतियाँ अद्भुत सुगन्धित जल से उनका पाद प्रक्षालन करने लगीं, जिनका कोमल स्पर्श सिहरन करने को पर्याप्त था।

देवराज ने, ऋषि को सात्विक आहार से सन्तुष्ट कर, नृत्यांगना को प्रस्तुत किया। मात्र हाव भाव और चेष्टाओं से ही, अप्सरा ने अपने कौशल का प्रदर्शन किया, उसका रूप रंग और आकार भी अत्यन्त विमोहक था। मानो यौवन नव्यता में फूटकर बह निकला था। शरीर में नाममात्र कोभी चिन्ता की कोई सलवट न थी। उछल उछल कर, इतने स्फूर्त ढंग से उसने नृत्य प्रदर्शन किया कि ऐसा लगा जैसे कोई उन्मुक्त किशोरी हवा के झूले में, पेंगे बढ़ा रही हो। नृत्य की समाप्ति पर देवराज ने पूछा--

"कैसा लगा नृत्य, महानुभाव को ?"

"प्रकृति के उल्लास सा, मायामय विलास सा और सृष्टि के उच्छवास सा……।"

"बस बस……और नर्त्तकी कैसी लगी ?"

"ममता की मुस्कान सी, प्रीति की पहिचान और करुणा के आह्वान सी, श्रद्धा की श्री, पीयूष के प्रवाह सी और आत्मा की मन किरण……।"

"बस, बस······आप किस रूप में देखना चाहेंगे इन्हें ?"

"अब तक जिस रूप से परिचय है मेरा······?"

"किस रूप में······?"

"माँ···माँ के रूप से देखता हूं···?"

"क्या माँ सा लगता है, इनके शरीर का आकार प्रभु को ?"

"नारी का शरीर मातृत्व की ही गरिमा है देवराज !···फिर मैं तो इनमें उस आत्मा के दर्शन कर रहा हूं जो जगज्जननी होकर, अपने लास्य से, सृष्टि की उद्भव कारिणी हो जाती है······।"

"मैं परिचय कराऊँ आपका इनसे···?"

"मैं समझता हूं इसकी कोई आवश्यकता नहीं। जिसका मन मोहक रूप मेरी माँ को विरासत में मिला है, क्या उसका और भी परिचय शेष है ?······परिचय ही करना है देवराज ! तो स्वयं से कराइये, आप कौन हैं ?"

"हमें कौन नही जानता मुनिवर ?"

"कम से कम मैं नहीं जानता, जो आप दीख रहे हैं वह तो नहीं है आप, प्यारे छलिया !"

"आप मुझे कह रहे हैं छलिया ?"

"नही स्वयं को कह रहा हूं, क्योंकि आप मुझसे अलग कुछ हैं ही नहीं, मैं ही हूं वह, जो इन्द्र होकर अद्रिका के रूप से; उसके दोहितृ व्यास को छलने का, प्रयत्न कर रहा हूं······।"

सकपका कर रह गये सुरेन्द्र। असावधानी में जैसे जलते अंगारे पर हाथ जा पड़ा हो। वह काँपने लगे। नतमस्तक होकर आश्वस्त होना चाहा——

"क्षमा करना महर्षि ! मैं भूल गया था पितामह शक्ति के शक्तिवान पौत्र को।"

"क्या मेरे बाबा से भी मिले हैं आप ?"

"हाँ वह एक दिन यहाँ आये थे, और अद्रिका ने ही उनका स्वागत किया था।"

जाने क्या हुआ अद्रिका को, सह न सकी तुरन्त अदृश्य हो गई वहाँ से। वह कसक उठी थी, अपनी नियति पर······कैसा है संसार ? विवश नारी को किस किस रूप में खड़ा कर देता है अपनो के ही सामने······क्या सोचता होगा, यह मनुपुत्र ?"

"कहाँ गईं वह, मैं प्रणाम तो कर लूँ उन्हें ?" व्यास की दृष्टि उसे खोजने लगी। देवेन्द्र ने समझाया——

"वह तो चली गईं···अब तो, आपको, मेरी जिज्ञासा शान्त करनी होगी।···मैं असमंजस में हूं इतने कौशल से छिपाये हुये रूप में, आपने, अपनी नानी को, कैसे जाना, जबकि आपने उन्हें आज तक कहीं भी न देखा होगा ?"

"यह तो बहुत कठिन बात नहीं है देवराज ! साधारण मानव भी ऐसा करने में समर्थ हो जायेगा···।"

"कैसे ?"

"अगर कलाकार है तो हाव भाव और चेष्टा से, साहित्यकार है, तो बोलों की बन्दिश से, संगीतकार है तो स्वर उतार चढाव और कम्पन से, मनोवैज्ञान है तो दृष्टि के कोमल कठोर कटाक्ष से, चिकित्सक है तो त्वचा की रुक्षता और स्निग्धता से, रसिक है तो केशों की बनावट और कपोलों की रंगत से, विद्वान है तो परीक्षक की बातों से, बात के उतार चढाव, पूछने के ढंग, जिज्ञासा, कुतुहली और बार बार एक ही बात पर बल देने से······"

"बस, बस······।"

"······मेरे लिये तो यह और भी सरल था देवेन्द्र ! क्योंकि , मेरे व्रत में इसने भरपूर सहाय्यता की मेरी । मैं निष्काम होकर देवराज की सेवा में उपस्थित हुआ हूं······मैं मृत्यु लोक से ही यह भावना लेकर चला हूं कि देवलोक में एक अप्सरा है जो मेरी जननी की जन्मदात्री है······अतः पल पल की आशंका मुझे जहाँ विचलन से रोकती रही, वही, प्रत्येक नारी में मातृभाव का संचालन भी करती रही। किन्तु, कितना अच्छा होता, यदि यह रहस्य, रहस्य ही रहता ? इस पहिचान ने, भेद भावना को जन्म दे दिया है ? द्वैत का प्रसार हो गया। मैं, मेरे, तू तेरे और वह, उसके का अलगाव सामने हो गया। देवराज ! इस ज्ञान से, वह अज्ञान, कितना सुन्दर था ?"

"धन्य है ऋषिवर ! मैं विनत हूं।"

"इसमें विनत होने की क्या बात है सुरेश ? यह तो सामान्य ज्ञान और सामान्य कर्म का विषय है। योगसाधना तो वह दिव्य दृष्टि प्रदान कर देती है, कि यहाँ बैठ कर आर्यावर्त का वह, देखा जा सकता है, जिसे, अद्‌भुत प्रकाश-किरणों, विविध ध्वनि तरङ्गों, पवन की धाराओं और वैज्ञानिक उपकरणों तथा भौतिक यंत्रों की सहायता से देखते हैं। योगी संकल्प शक्ति से वह भी कर सकता है जो देवराज के यहाँ परख नलियों में किया जा रहा है।"

"अच्छा बतलाइये तो इस समय आर्यावर्त की क्या स्थिति है ?"

"मेरी परीक्षा किस लिये ली जा रही सुरेन्द्र ! अपने यंत्रवाहक से पूछिये और मेरी यात्रा का प्रवन्ध कीजिये, मुझे तुरन्त लौट जाना है, मेरी माँ मेरा स्मरण कर रहीं है। हस्तिनापुर में दुखद घटना घट चुकी थी। निसन्तान विचित्र वीर्य की मृत्यु से सारा आर्यावर्त निराश्रित और असहाय सा लग रहा है । मुझे जाना ही होगा··· फिर मिलेंगे······।" किंचित मुस्कान के साथ बोले दिव्य दृष्टा व्यास—'और इस लिये भी कि शुक सी नासिका वाली आपकी घृताची नाम की अप्सरा अपने मन को मेरे मन में घुसाने की चाल सोच रही है ।

लौटते हुये व्यास को रोक कर सुरेन्द्र ने अपना मन्तव्य प्रकट किया—

"महर्षि एक विशेष प्रयोजन से हमने आपको आमंत्रित किया था।"

'आज्ञा कीजिये वज्रपाणी।"

"आज्ञा नही; प्रार्थना है, यदि आप इच्छा पूरी कर सकें तो।"

"सुनाइये तो ?"

"अपने विस्तृत भूमि पर्यटन से विशाल अनुभव किया है, वाल्मीकि सी काव्य प्रतिभा है आपमें। सारे दर्शनों का अध्ययन है। अभूत पूर्व ज्ञान है आपका, साथ ही सूक्ष्म अन्तश्चेतना और दिव्य दृष्टि से भविष्य निहारने की क्षमता भी। हम चाहते हैं सम्पूर्ण जम्बू द्वीप की परिस्थितियों का अवलोकन कर एक अनोखा काव्यामक वृत्त लिखें, जिसमें इतिहास भी हो और भूगोल भी राजनैतिक-सामाजिक दिगदर्शन भी। उस वृत्त का विशेष उद्देश्य हो। कोई भी उसे पढ़ कर विशेष काल और परिस्थिति में स्थान और अवस्था के अनुकूल अपनी राह टटोल सके और अपने उद्देश्य से भटके नहीं।"

"मैं यथाशक्ति पूर्ण प्रयत्न करूँगा सुराधिपति ! इस समय आज्ञा दें।"

—कह कर, उल्टे दौड़ पड़े। देवराज देखते ही रह गये। उनका अन्तःकरण अन्दर ही अन्दर प्रश्न कर रहा था—"कहीं योग योगेश्वर योगांधार शान्ताकार विष्णु ही तो इस रूप में नही आ गये थे ? सचमुच ही यंत्र वाहक ने वही सूचना प्रस्तुत की थी, जो व्यास, मात्र दिव्य दृष्टि से विना किसी यंत्र की सहायता के वतला गये थे। सिहर कर रह गये देवराज मानवों के अद्भुत पराक्रम और शक्ति को देखकर।

———

व्यास, बड़ी क्षिप्रता से, हस्तिनापुर की ओर प्रयाण कर रहे थे। उन्हें माँ के स्मरण से, जाने क्यूँ इतनी अकुलाहट हो रही थी ? मार्ग में, भगवान परशुरान का उनसे मिलन हुआ। अभिवादन प्रणाम के बाद आशीर्वाद देते हुए, क्षुब्ध-परशुराम ने व्यास को, संकेत दिया—

"व्यास ! आर्यावर्त्त का ईश्वर ही रक्षक है।"

"क्यूँ, भगवन ! आपकी चिन्ता किस कारण है ? आप जैसे महापुरुषों के, रहते, यह आशंका तो, व्यर्थ ही होनी चाहिए।"

"नहीं, व्यास ! अगला युग तुम्हारा है, यदि कुछ कर सकते हो तो करो, किन्तु पशुबल के मद में चूर मानवों के बीच तुम्हारी ज्ञान-भक्ति की धारा क्या कर पायेगी, समझ नहीं पा रहा हूं ?"

"आपके परशु की शक्ति भी तो हमारे ज्ञान के साथ ही है भगवन।"

"साथ तो रहेगी ही सदा, इसका अवतरण भी इसीलिए है किन्तु काल ने प्रत्येक की सीमा निर्धारित कर दी है। वृद्धावस्था ने इसे क्षीण कर दिया है यूँ तो, मैंने बहुत दिन पूर्व, शस्त्र छोड़ शास्त्र की ओर ध्यान देना शुरू किया था, क्योंकि रघुवंशी राम, यह दायित्व स्वयं संभाल चुके थे, पर, अन्ततः निर्दोष स्त्री का परित्याग उनके पौरुष को चाट गया। किन्तु आज तो अबलाओं की आह, चन्द्रवंश को ही नहीं, सम्पूर्ण भारत को निगल जाने के लिए जीभ लपलपा रही है। उस समय एक रावण का प्रतिहिंसात्मक आचरण, जिसमें स्त्री की पवित्रता को कोई आघात न पहुंचाया गया था, कितना गर्हित समझा गया था। पर आज तो कर्म कर्म की पवित्रता का ढोंग रचने वाले, सभ्य बगुले ही अनाचार पर उतर आये हैं…।

'क्यूँ भगवन ऐसा किसलिए कह रहे हैं आप ?"

"नारी की अस्मिता से खिलवाड़, जगद्धात्री के अस्तित्व की अस्वीकृति, माता के पावन आधार का अपमान देखकर जहाँ नारी का सम्मान न होगा तो उससे उदभूत पुरुष सम्मान कैसे पा सकेगा ? स्वयं को महापुरुष सिद्धान्ती की श्रेणी में रखने वाला ब्रह्मचारी भी, स्त्रियों को खिलौना समझकर, खेलने लगा है। उनके हृदय को तोड़ते हुए तनिक भी नहीं लजाते। उनकी आहें न पड़ेंगी तो क्या होगा ?"

"ऐसा क्या कुछ होगया धरा पर ?"

"हुआ है……महा पराक्रमी भीष्म ने, मेरा शिष्य होकर भी, ऐसा किया है और उसके बाद, मेरी आज्ञा की अवहेलना भी की गई है। गुरू शिष्य के सम्बन्ध को विकृत किया गया है। गुरू के प्रति शस्त्र व्यवहार करने वाला, अपने बच्चों के द्वारा

ही न मारा जायेगा, यह कैसे सम्भव है ? अनुशासनहीनता का पथ प्रशस्त करने वाला, अमर्यादित तरीके से नष्ट न होगा, यह कैसे मान लूँ मैं ? मेरा हृदय टूट गया है भीष्म के अनाचार से। मैं उससे प्यार करता हूं किन्तु खेद है कि विनाश के मार्ग पर बढ़ते हुये उसे और उसके वंश को रोकने में असमर्थ रहूंगा। सम्भव हो सके तो तुम ही कोई उपाय करना······।"

"तथ्य तो प्रकट कीजिये न प्रभु !"

'भीष्म ने, सत्यवती को प्रसन्न करने का बहाना ढूंढ, काशीराज की तीनों कन्याओं का, अपहरण कर लिया। अम्बिका और अम्बालिका तो विचित्र वीर्य से ब्याह दी गई, किन्तु अम्बा को, उनके मनोनुकूल शाल्व के लिये, छोड़ दिया गया। अपहृत कन्या की शुद्धि में प्रश्न चिह्न लगा शाल्व ने भी मना कर दिया और शाल्व द्वारा परित्यक्त, शाल्व की अनुरागिनी से, विवाह करने के लिये, विचित्र वीर्य ने भी मना कर दिया। दुविधा ग्रस्त दुखिता के दुःख का आश्रय भीष्म ही था। वह उसकी शरण में पहुंची और उनसे विवाह की याचना की किन्तु प्रतिज्ञा के मद मे चूर कठोर व्रती ने उनका तिरस्कार ही किया। हृदय टूक टूक हो गया निर्दोष कन्या का। भगवान शंकर ने भी उस पर कृपा की किन्तु जिद्दी भीष्म ने, अपनी हठ के सामने किसी भी दया कर्म को स्वीकारने से स्पष्ट मना कर दिया। वह मेरे पास आई ? मैंने भीष्म को समझाने का प्रयत्न किया। नहीं माना वह, उल्टे आँखे दिखलाने लगा······मुझे खेद है कि उस अवला की सहायता न सका मैं। वह भीष्म के साथ ही पुरुवंश के विनाश का संकल्प लेकर गई है। इतना ही नहीं अम्बिका और अम्बालिका भी अपने पति को खो चुकी हैं···वे निस्सन्तान हैं अव तक। यह वंश कैसे चलेगा भला ?"

"मुझे मालूम है भगवन !"

"मेरी एक प्रार्थना है व्यास ! तुम 'कर्त्तुं नकर्त्तुं मन्यथा' समर्थ हो, ज्ञान विज्ञान, यंत्र मंत्र तंत्र और अध्यात्म ने, तुम्हें, महान बना दिया है। कैसे भी, भगवान शंकर की भक्त उन नारियों का सम्मान होना चाहिये।

उनके दुःखी हृदय को तोड़ने का प्रयत्न न करना, सान्त्वना देना उन्हें। उनके लिये यथा सम्भव प्रीति का प्रसाद प्रस्तुत करना. प्रलय आ जायेगी। व्यास ! सब कुछ स्वाहा हो जायेगा। वे निर्दोष हैं। उन्होंने यदि तुमसे कोई व्यवहार, किसी समय किया भी था, तो ब्राह्मणों का हित करने के लिये, राष्ट्र की रक्षा के लिये, पिता को प्रसन्न करने के लिये, भगवान आसुतोष की मान प्रतिष्ठा के लिये, अपने लिये नहीं। वे सर्वथा निष्कलंक हैं और दया की पात्र भी। यदि एक रोते हुये हृदय को तनिक सी भी मुस्कान तुमने बाँट दी तो सौ यज्ञों के समान होगा मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं। कठोर कर्म के अन्तिम परिणाम ने, दया की भीख मांगने पर विवश कर दिया है मुझे। अव तक मैं सच्चरित्र क्षत्रियों पर विवश कर लेता था किन्तु भीष्म ने मेरे उस विश्वास को भी चूरा चूरा कर दिया वत्स। अब तो मेरे लिये किसी क्षत्रिय को विद्या देना शायद ही सम्भव हो।

१६

भगवान परशुराम से विदा ले, व्यास ने, भीष्म के वर्ताव की बात सुन, क्षुब्धता के कारण, हस्तिनापुर जाने का विचार बदल दिया। वह सीधे कृष्ण द्वीप पहुंचे। उन्होंने आगमन की सूचना किसी को न दी थी और द्वीप के सघन वन स्थान में, उस स्थान पर पहुंच गये थे, जहाँ उसके पिता श्री पराशर, तपस्या में लगे हुये थे। पिता को प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त किया उन्होंने, पिता ने पुत्र को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की अत्यधिक स्नेह से पूछा—

"कहो कृष्ण ! कुशल तो हो वत्स !"

"आपकी कृपा है प्रभो !"

"अध्ययन…?"

"जी, कोई प्रमाद नहीं।"

"तपस्या, चिन्तन, मनन…?"

"चेष्टा करता हूं पिता श्री !"

"सफलता ?"

"कभी हिसाव नहीं रखा गुरु देव ! कर्म को ही बड़ा माना है आपके उपदेश से।"

"सुख दुःख ?"

"सुख-दुःख, हानि-लाभ जय-पराजय मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को समान समझने की चेष्टा करता हूं, आपकी दिखलाई हुई ज्योति के प्रकाश में……अव कुछ विशेष प्रतीति नहीं होती…।"

"राग-विराग ?"

"आपकी प्रीति के वन्धन मुक्त नहीं हो सका हूं, और माँ……।"

"यह तो उचित नहीं वत्स ! एक सूत्र वन्धन शुरू होता है तो भयंकर लोहे की श्रृंखला बन जाती है !"

"माँ क्यों याद आती है भला ?"

"ज्ञात नहीं, स्वाभाविक बन्धन है।"

"मिले हो कभी ?"

"हाँ, काशी प्रवास के समय।"

"ऐश्वर्य के मद में, क्या पहिचाना होगा उसने ?"

"नहीं पिता जी ! ऐसा नहीं, वैभव ही नहीं चन्द्रवंश की सम्पूर्ण मर्यादाएं तोड़ और राजकीय शिविका को छोड़, पागलों की भाँति दौड़ पड़ी, मुझे कण्ठ से लगाने के लिये।"

"तू बड़ा भाग्यशाली है, रे !"

"नहीं, इसमें तो मैं माँ की ममता को ही विशेष महत्व दूँगा, पिता जी !"

"मुझे तो भूल ही गई होगी अब ?"

"नही तात् । सबसे पहले आपके विषय में ही पूछा, उन्होंने ?"

अनुराग की एक हूक सी उठी वैरागी ऋषि के हृदय में । एक शीतल निश्वास छोड़ अत्यन्त कुतुहल के साथ पूछा उन्होंने--

"तूने क्या कहा--?"

"कुछ कह न सका, क्योंकि तभी काशीराज की कन्याएँ आ गई थी वहाँ ।"

"कौन सी कन्याएँ ?

"अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका । दो तो, माँ सत्यवती की पुत्रवधु ही हैं, अब ।

"क्या तूने विवाह कर लिया ?—आश्चर्य से पूछा महर्षि ने ।

"नही माँ को शान्तनु से दो पुत्र हुए हैं--चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य ।--" समाधान किया व्यास ने ।

"बड़ा प्यार करतीं होगी, उन्हें ?"

"नहीं, उनकी उदासीनता से उनके पुत्र स्वेच्छाचारी हो गये, योग्य न बन सके···।"

"यह तो बहुत बुरा हुआ, अयोग्य के होने से तो सन्तान का न होना अच्छा···।"

"एक और दुःख की बात है ।"

"क्या ?" आकुल होकर पूछा पराशर ने ।"

"वे असमय ही काल कवलित हो गये ।" अत्यन्त धीमे स्वर में उत्तर दिया पुत्र ने ।

"कौन ?"—"चीख सी निकल नई, ऋषिवर के मुख से ।

"चित्रांगद और विचित्र वीर्य ।"

"ओह ! बहुत बुरा हुआ !······एक और बेटा भी तो है शान्तनु का ?

"हाँ है--देवव्रत भीष्म, किन्तु उसने जीवन भर अखण्ड ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा ली है ।"

"तब शान्तनु के वंश का क्या होगा, राज्य कैसे चलेगा, बिना राजा के अराजकता होगी, अराजकता से प्रजा का अहित होगा, प्रजा के हित में ही ब्राह्मणों का हित छिपा है व्यास !

"यही समस्या है पिता श्री !"

पिता पुत्र, परस्पर वार्तालाप में संलग्न थे । इसी बीच द्वीप के दूसरे किनारे

पर कुछ हलचल सी महसूस हुई। जैसे कुछ लोग, नाव में से उतर कर द्वीप में प्रवेश कर रहे हों। किसी स्त्री का करुण क्रन्दन, बीच में, उभर आता था। जैसे कुछ व्यक्ति उसे शान्त करने का प्रयत्न कर रहे हों-ऐसी स्फुट ध्वनि सुनाई पड़ती थी।

व्यास को, कोई आवाज पहिचानी सी लगी, वह उतावले होकर देखने के लिये उठे, पर पिता के आदेश पर वहीं बैठ गये ! पिता ने पुत्र से कहा—

"यह आवाज जिसे सुनकर, तुम अचानक इतने उतावले हो उठे हो तुम्हारी परिचित नहीं है जितनी मेरी...उसे यहीं आना है वत्स ! यहीं उसका अन्तिम लक्ष्य है, यहीं उसकी शान्ति है......बीच में जितना भी व्यवधान उपस्थित किया जायेगा... उतनी ही उसे देर होगी—जितनी देर होगी, उतना ही उसे कष्ट होगा और उसकी शान्ति पीछे लौट जाएगी। जो आनन्द उसको यहाँ है वह किसी भी स्वर्गमें नहीं मिल सकेगा।...तुम यहीं बैठो...आने दो उसे...। वह सूत भर भी इधर उधर न भटक सकेगी अब......उसका गन्तव्य यहीं है...।"

व्यास ने देखा, चुम्बक से खिंची स्वचालित मूर्ति की तरह, पागलों की भांति दौड़ती हुई सत्यवती, पराशर के चरणों से आ गिरी। अविरल अश्रुधारा के बीच, सुबकियों में, न जाने किन मौन छन्दों में, उसके निश्वास स्तोत्र पाठ कर रहे थे। पराशर एक तिल भर भी अपने स्थान से न हिले और न ही स्पर्श किया प्राण-वल्लरी का। लगा जैसे सम्पूर्ण क्रियाएँ; अलौकिक प्रेम के इन्द्र जाल से मुग्ध होकर, एक साथ ही जड़ हो गई हो। वाणी को निष्क्रिय देख, हृदय ने नयनों को आधार बनाकर, आसुओं की भाषा में सम्पूर्ण करुण गाथा का पाठ प्रारम्भ कर दिया।

पता नहीं भावों के इस मौन आदान प्रदान, वार्त्ता के मौन क्रिया व्यापार को, आत्मा के मुक्त सम्मिलन को, कोई समझ पाया था या नहीं फिर भी कृष्ण द्वैपायन व्यास उनके एक एक आँसू को पढ़ ही नहीं रहा था उनका पूरा पूरा अर्थ भी समझ रहा था। प्रेम का अद्भुत काव्य उनकी कल्पनाओं में तैरने लगा, कमजोर नेत्रों की कालिन्दी कृष्ण के भाव विभोर हृदय उनकी भावनामयी अभिन्न सखी, रस सिद्धा आराध्या कविता का स्मरण कराने लगी। इतना भावविभोर हुआ ऋषि पुत्र कि अनायास उसकी समाधि लग गई और भविष्य की कल्पनाएँ, मनमोहक स्वर्ग की अप्सराओं की तरह सीढियां उतर उसके मन आंगन में खेलने लगी। विविध रङ्गी, वर्तुलाकार चक्रों के बीच, भाँति भाँति के अनजाने दृश्य, उसके मस्तिष्क के पर्दे पर आकर, उतरने लगे।

संग आये भीष्म के साथ सम्पूर्ण उपस्थित समुदाय जड़ सा हो चुका था। मौन शान्ति थी व्यास समाधि में अज्ञात भविष्य को पढ़ रहे थे—

"सत्यवती आग्रह ही नहीं, आज्ञा कर रही थी पुत्र को--"शान्तनु का वंश चलना चाहिये, बेटे ! मेरी पुत्रवधुओं का कष्ट मिटना चाहिये व्यास ! "और तभी सर्वथा नग्न अम्बिका व्यास के सम्मुख आई पर लाज से आँखे बन्द किये हुये और

उसकी कोख से बिलखते एक अन्धे बालक का जन्म हो गया, लोगों ने उसे धृतराष्ट्र कहा, अन्धा धृतराष्ट्र। फिर धुएँ का बादल छा गया और सहसा अम्बालिका उसी तरह सर्वश्र नग्न आई व्यास के सम्मुख, पर जाने क्यूँ भय से पीली पड़ गई उन्हें देखकर······और उसकी कोख से भी जो बालक बाहर आया वह पाण्डु रंग का हो गया लोगों ने उसे पाण्डु कह कर पुकारा। दासी आई और विनय के साथ खड़ी हो गई व्यास की दृष्टि ने अचानक उसके वस्त्रों को भेदना शुरू किया, अचानक नग्न हो गई वह किन्तु दृड़ आस्था में निश्चल बनी रही, उसका रोम २ आनन्द से भर गया, उससे भी एक धर्मज्ञ पुत्र ने जन्म दिया जो बिल्कुल धर्मराज सा दिखलाई पड़ा और लोगों ने उसे परम ज्ञानी जान, विदुर नाम दिया। धीरे धीरे एक बरगद का अंकुर फूटने लगा और तत्काल एक छोटा सा वृक्ष बन कर अनायास ही इतना विशाल हो गया कि उसमें से अनेक शाखायें फूटती नजर आई अन्तहीन लतायें आकर उसे जकड़ने लगी और अनायास विविध रंग के पुष्पों से भर गई। धृतराष्ट्र की एक पत्नी गान्धार देश की ओर से आयी उसके सौ पुत्र हुये, बड़े को उसने सुयोधन के नाम से पुकारा किन्तु उसके दुंष्कृत्यों ने उसे दुर्योधन कह कह कर चिल्लाना शुरू कर दिया उसके साथ ही छोटा भी दुःशासन कह कर पुकारा जाने लगा। उनका मामा शकुनि उनकी माँ के साथ आया था और प्रपञ्च का पाठ पढ़ाने लगा था। गान्धारी ने यह सब देख जान बूझ कर आँख पर पट्टी बाँध ली। पाण्डु पत्नी शूरसेन की बेटी, कुन्ती, काम्भोज के पालने में झूल रही थी सूर्य आये उसके कानों को चूमा और मुस्कराते ही एक बालक बन गया वह प्यार से उसे कर्ण कहने लगी पर वह अचानक नदी में बहा दिया गया। धृतराष्ट्र के रथ का सारथी अधिरथ आया और उठा कर ले गया उसे। फूल सा बच्चा उसकी पत्नी राधा के अंक में खेलने लगा। देखते ही देखते बड़ा हो गया, वह। दुर्योधन ने उसके सिर पर मुकुट रखकर, बाहों में भर लिया। वह धनुष से बाणों की असीम वर्षा करता हुआ, अपने ही भाइयों को बींधने लगा। भाइयों में हैं कुन्ती के शरीर से खेलते हुये धर्मराज के युधिष्ठिर, इन्द्र के पुत्र अर्जुन, वायु के पुत्र भीम और माद्री से अश्विनी द्वय के दो पुत्र नकुल, सहदेव। अर्जुन और कर्ण का द्वन्द्व युद्ध होने लगा। कर्ण का शिर धड़ से अलग हो गया। दुर्योधन ने दुशासन की मदद से पांडु पुत्रों की पत्नी द्रौपदी कृष्णा को नंगा करना चाहा और भीम ने दुर्योधन की जाँघ तोड़ दी और दुशासन की छाती फोड़ राक्षसों की तरह रक्तपान करने लगा द्रौपदी भी पिशाचनियों की भाँति अपने केश भिगोने लगी उस खून में।

पाँचाल देश का द्रुपद जिस कन्या को लेकर आया था वही तो थी यह, जो एक कराला काली का विकराल रूप धारण कर, चण्डिका की तरह गरजने लगी थी। रक्त की वर्षा प्रारम्भ हो गई, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, जयद्रथ, कर्ण, दुर्योधन, दुशासन शकुनि आदि बड़े बड़े योद्धा युद्ध में वह गये। सहसा रणक्षेत्र में घायल भीष्म नजर

आये। काशीराज की वेटी अम्बा, पता नहीं किस रूपमें थी? आते ही उसने भीष्म की गर्दन अपनी तलवार से काट दी और खिलाखिला कर अट्टहास करने लगी। द्रुपद सुता द्रौपदी, और परशुराम अट्टहास करते, दीखने लगे भयंकर दृश्यों से धरती काँपने लगी, दिग्गज डोलने लगे, का कडकने लगे, पहाड़ टूटने लगे ज्वालामुखी फटने लगे, समुद्र उछलने लगे। देखते ही देखते सम्पूर्ण ऐश्वर्य स्वाहा हो गया। कुन्ती के पाँच पुत्र कुरुक्षेत्र के मैदान में खड़े पछता रहे थे, कोई सान्त्वना देने वाला न था।

अचानक कहीं से आती हुई वंशी की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ने लगी, राग द्वेष के बादल छंटने लगे, प्रेम की चाँदनी छिटकने लगी, आँखों से काँलिन्दी की धारा बहने लगी, मन की अनेकानेक भावनाएं व वृत्तियाँ गोपिकाएँ बनकर नाचने लगी, जिनके मध्य भक्ति भावना, राधा रूप होकर, शोभित हो रही थी। देखते ही देखते, महर्षि व्यास ने, एक अलौकिक रूप धारण कर लिया--सिर पर मुकुट वदन पर पीताम्बर, गले में वैजयन्ती माला, एक हाथ में चक्र—एक हाथ में वंशी, एक में वेदोपनिषद पर सार नीति ग्रन्थ गीता और दूसरे में शृंगार का पियूष अनायास ही नटनागर की तरह थिरकने लगे थे वह संगीत उनके स्वरों से फूट कर ओठों पर आने लगा था। गूंज उत्पन्न हो गई सारे विश्व में और चराचर मोहित होकर उनके साथ नृत्य करने लगा।"

अन्दर कुछ देख रहे थे व्यास और तन्मयता की स्थिति में उन्होंने बाहर हथेलियाँ वजानी शुरू कर दी, जैसे किसी मधुर गीत की भावमयी पंक्तियाँ सुनकर विभोर हो रहे हों, देखने वाले, भीष्मादि चकित थे--आखीर यह हो क्या रहा है? बैठे २ हो क्या गया व्यास को? व्यास उठे, मधुर मुरली वादन की मुद्रा वनाकर त्रिभंगी अवस्था में खड़े हो गये। एक अपूर्व तेज उनसे फूट कर निकलने लगा। सब की आँखें चुंधियाने लगी। एक सुन्दर श्लोक आदि कवि के प्रथम छन्द की तरह उनके मुख से निकलने लगा--

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः
अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मनं सृजाम्यहम्

"हे भारत! जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब धर्म के उत्थान के लिये मैं अपना सृजन करता हूं। सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिये युग युग में मैं सम्भव हो जाता हूं।"

और उसी अतिरेकी अवस्था मे मूर्च्छित होकर धडाम से धरती पर गिर पड़े। पैर के एक अंगूठे में भीष्म के वाण की नोक चुभ गयी थी शायद जो वाण असावधानी से हाथ से गिर पड़ा था।

उनके नयन खुले तो देखा, डरे हुये भीष्मादि अत्यन्त चिन्तित होकर तीनों स्त्रियों के साथ हाथ जोड़े खड़े हैं। मिल पराशर का कहीं पता न था जाने कहाँ अदृश्य

हो गये थे जैसे कोई मृग छलना हो। मत्स्यगन्धा की देह सामने पड़ी थी मन और आत्मा का कोई ज्ञान न था। कोई और न ठहर सका था वहाँ सिर्फ दृढ़ निश्चयी भीष्म और दोनों वधुओं के—

भीष्म ने हाथ जोड़ कर करुणार्द्रस्वर से प्रार्थना पूर्वक पूछा—

"क्या पुरुवंश यहीं समाप्त हो जायेगा, भगवन ?"

"माँ क्या कहती है—अत्यन्त गम्भीर होकर पूछा व्यास ने।"

"पुत्र वधुओं को पुत्र प्राप्त हों, जिससे वंश चले।"

"बिना पति के यह कैसे सम्भव होगा ?"

"नियोग से।"

"नियोग आप करेंगे ?"

"नहीं, मैंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की है ?"

"फिर अपहरण का पाप क्यों किया था आपने ? आप तो धर्म रक्षक हैं न ?

"अब तो, जो होना था, सो, हो गया।"

"फिर वह भोगने के लिये भी तैयार रहिये जो आगे होना है।"

"क्या होना है ?"

"महाभारत,-भयंकर विश्व युद्ध—पुरुवंश का विनाश।"

"किन्तु मेरी प्रार्थना है मेरी आँखों के आगे ऐसा न हो ?"

"आपके चाहने और न चाहने से क्या होता है ? आपने इन अबलाओं का करुण क्रन्दन सुना था क्या ? जब ये आपकी शिकारी गोद से निकल भागने को छटपटा रही थी। इनकी प्रार्थना पर ध्यान दिया था ? क्या इनकी आहें कई वंशों को जला देने के लिये पर्याप्त नहीं हैं ?"

"जिसने किसी से कभी कुछ नहीं माँगा, दया की भीख चाहता है, आपसे ?"

"क्यों, देर क्यों करते हैं, कीजिये यहाँ भी बल प्रयोग ?"

"महापुरुष महर्षियों के सम्मुख······?"

"राजनीति सरल से सरल व्यक्ति को भी पाखंडी बना देती है भीष्म जी। भगवान परशुराम आपकी दृष्टि में क्या थे ? क्या आपसे आयु में छोटे थे, या आपसे कम चरित्रवान ? वह आपके गुरु भी थे न ? आपने तो उनका विश्वास ही तोड़ दिया······।"

"उन्हीं की शिक्षा थी मुझे, कि शस्त्र का उत्तर बातों से नहीं दिया जाता।"

"किस के शस्त्र का उत्तर ? किसके लिये कहा था, उन्होंने ?"

"शत्रु के लिये······।"

"आपके शत्रु हो गये थे क्या वह ? आपको नेक सलाह देने के लिये आये थे न वह। जब नेक सलाह बुरी लगने लगे, तो समझ लो देवव्रत ! कि देवता कुपित हैं ······अनहोनी को कौन टाल पायेगा ? आप तो विचित्रवीर्य का संसार बसाने चले

थे। कहाँ है वह ? आप स्वयं सृष्टा हो गये थे···आज से पैदा कर लीजिये ?'।

भीष्म कोई उत्तर न दे पाये। बालकों की तरह बिलख उठे, अपनी नियति को देखकर। उन्हें रोता देख महर्षि गम्भीर हो गये और पूछा--

"अब चिन्ता क्यों करते हो ? इससे क्या लाभ ?"

"चिन्ता के साथ प्रयत्न भी कर रहा हूं। होनी को टालने का प्रयत्न। प्रयत्न में आप आज्ञा कीजिये मैं भगवान परशुराम के चरणों से लिपट कर क्षमा माँगने को तैयार हूं ?"

"यह तो स्पष्ट ही स्वार्थ सिद्धी है, मन की शुद्धता नहीं। ग्लानि से मन शुद्ध होता है गांगेय। दूसरों को निर्बुद्ध क्यों मानते हो ? जैसे तुम क्षमा माँगोगे वैसे ही दूसरा भी कर देगा। आत्म ग्लानि ही गंगा की तरह मन को शुद्ध कर सकती है भैया !"

"मैं लज्जित हूं, मन से······आत्मा से।"

"मुझ से क्या चाहते हैं आप ?"

"जो माँ चाहती थी ?"

"क्या ?"

"नियोग······।"

सिर, झनझना गया महर्षि का, भूमण्डल घूमने लगा जैसे चक्कर आने लगा हो। लगा जैसे आसमान टूट कर गिरने वाला हो उन पर। कानों पर हाथ धर लिये उन्होंने, थोड़ा ऊंचे स्वर में बोले--

"सम्भल कर कहो भीष्म ! क्या कह रहे हो······?"

"मैं सत्य कह रहा हूं माँ सत्यवती चाहती थी कि आप इन कुल वधुओं को नियोग से सन्तान दें······माँ की इच्छा······?"

"इनकी इच्छा के विपरीत···? इसे तुम नियोग कहोगे या बलात्कार ? पूछो इनसे······। माँ के नाम पर जो तुम मुझ से कराना चाहते हो, वह मेरे इसी जीवन में भी भयंकर ज्वालाओं का दाह भर देगा भीष्म ! आप मुझ निर्दोष को फँसा रहे हैं---ऋषिमुनियों के लिये भी नियति का विधान अलग नहीं होता······।"

भीष्म घुटने टेककर बैठ गये अनुज वधुओं के सम्मुख--

"देवियों ! मुझे क्षमा कर दो ! मेरे वंश को जीवन दान दो। नियोग की याचना करके पुरु वंश को बचा लो······ मैं अपने किये पर पछता रहा हूं···लगता है सौ सौ बाण मेरे हृदय को छलनी बना रहे हैं······माँ की इच्छा पूरी कर दो··· इस पापी की झोली में यह भीख डाल दो······फिर जो भी दण्ड मेरे लिये निश्चित कर दोगी मैं भोगूंगा······जितने आँसू तुमने मेरे कारण आज तक गिराये हैं इतनी ही रक्त की बूंदें परमात्मा इस शरीर से निकाल ले······मुझे स्वीकार है···।"

अम्बिका ने नेत्र बन्द कर लिये।

अम्वालिका भय और दुःख से पीली पड़ गई ।

दासी सेवा के लिये भक्ति भाव से आगे आई ।

तीनों के मुख से, बड़ी कडवाहट के साथ, एक साथ शब्द बाहर आये--

"तीनों नियोग की इच्छा करती हैं, हे कृष्ण ! हमें पुत्र दो देहि में तनयं कृष्ण ।"

विचलित हो गये व्यास, उनका हृदय फटने को हो गया, रक्त उबल आया, शरीर जलते लोहे की तरह लाल हो उठा। वह बोले—

"जाओ शीघ्र ही तुम्हारी इच्छा पूरी होगी, अब तुम यहाँ से शीघ्र लौट जाओ जाने क्या होने वाला है, देर न करो, तुरन्त चले जाओ। माँ को न छूना। ऐसे ही लौट जाओ।"

यंत्रवत पालन किया गया आदेश का, पीछे मुड़कर भी किसी ने नहीं देखा।

दोनों रानियों और तीसरी दासी से एक एक पुत्र तो अवश्य उत्पन्न हुआ किन्तु वह भी हुआ जो द्वैपायन ने कृष्ण द्वीप की समाधि में देखा था और जिसे गणनायक की मदद से, गण-सूत्रों को व्यास कर, महर्षि व्यास ने एक जय महाकाव्य के रूप में ढाल दिया और वह आगे चलकर महाभारत पुराण के नाम से जाना गया। लोग आज भी प्रमाणित इतिहास के लियें उसकी खोज करते हैं। उसमें धर्म, नीति, कथा, राजनीति, दर्शन, प्रेम, शृंगार, ज्ञान, भक्ति, विज्ञान, समाज शास्त्र, ज्योतिष और सम्पूर्ण वेदो का सार···सभी कुछ है। व्यास ने स्वयं टिप्पणी की है जो यहाँ इस ग्रन्थ सम्मुख नहीं है वह कहीं भी (किसी और ग्रंथ में) नही है। और एक ही वाक्य में धर्म का सर्वस्व सार प्रकट कर ग्रन्थ का उद्देश्य बनाया है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रूयतामपि अवधार्यताम् ।
आत्म प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

"जो अपने लिये नहीं चाहते वह दूसरों के लिये न करो।"

अर्जुन के बाणों से विद्ध जब शरशैया पर पड़े भीष्म अबलाओं के एक एक आँसू की कीमत चुका रहे थे तो बाण गंगा का जल पीकर गंगा की पवित्र स्मृतिने उनके मन को पवित्र कर दिया। वही उन्हें शान्ति दे सकी। समस्त दुःखों की आग से दग्ध सन्तप्त मानव हृदय को शान्ति प्रदान करने की क्षमता माँ के अतिरिक्त और किसमें है?

सङ्ग से काम की उत्पत्ति होती है इन्द्रियों में स्फुरण होता है, मानसिकता परिवर्तित होती है, आलम्बन पाते ही राग का अंकुर फूटता है और अनुकूल वातावरण पाकर कामनाओं की कलियाँ चिटकती हैं, तब तो मधु की गन्ध मिलते ही मन मधुकर फड़फड़ाने लगता हे। भूली विसरी स्मृतियाँ, मानस की मधुशाला में, आकर जम जाती हैं और नयनों के प्यालों से, पीडा के मधुमय हाला छलकाने लगती हैं।

माँ की आज्ञा या भीष्म का निवेदन, काल की प्रवलता या ऋतुमतियों का कुंठित कामावेग, प्रणय की मूक याचना अथवा धर्माविरुद्ध नियोग की शस्त्र सम्मत योजना, कुछ भी कहो, व्यास के संयमित जीवन में, कामिनियों का मदिर प्रवेश, कुछ उथल पुथल न मचा गया हो, क्या यह सम्भव है ? अनुभव सिद्ध लोग पहिचानते हैं कि एक वार का ससर्ग एक छोटी सी चिन्गारी की तरह, प्राण का प्रबल आवेग वनकर किसी भी समय, भयंकर दावानल सा दहक उठता है।

देवताओं को तृप्त करने के लिए, इन्द्र की प्रेरणा से लिखा गया, दावाग्नि सा दहकता महाकाव्य—"महाभारत" जव स्वर्गारोहण पर्व की सीढ़ियाँ लांघ रहा था तो उन्हीं दिनों पितरों का पावन पक्ष भी पार हो रहा था। ऋषि ने नैत्यिक और नैमेत्तिक कर्मो के साथ करणीय श्राद्ध कर्म और पवित्र तर्पण भी किया, किन्तु उस समय जो भविष्य में झाँक कर देखा, तो, अपने लिये जल की एक वूँद भी दिखाई न पड़ी जवकि उन्हीं से फैली सन्तति के द्वारा, शान्तनु की गौरव गरिमा के लिए रक्त से तर्पण किया जा रहा था। उनका मन उद्वेलित हो उठा था। उन्होंने समस्त भारत की पदयात्रा का व्रत लिया और विन्दुसर से कन्या कुमारी तक न जाने कितनी वार पर्यटन किया, पर चित्त शान्त न हो सका। जाने कौन सी अतृप्ति उनके अन्तर में कसक रही थी, उतनी अभिव्यक्ति देने के वाद भी उन्हें शान्ति न मिल सकी।

अन्ततः अग्निमित्र व्यास, सरस्वती के पावन तट पर, उदास और कठोर शिला खण्डों के वीच, तुलसी गाछ और कंटीली वेरियों के मध्य छोटी सी पर्णकुटी वनाकर रहने लगे, जहाँ भोजपत्रों के विरागी वृक्ष पृष्ठभूमि में मौन क्रन्दन सा करते दीख रहे थे। संयम के अग्निकुण्ड में शरीर की आहुति देने वाले तथा ज्ञान की छीनी से मन की प्रतिमा को तराशने वाले; कठोर संकल्प के धनी, मुनिवर, जितना ही वाणी को संवारने की कोशिश करते थे, न जाने क्यूँ, पहाड़ी चट्टानों से अठखेलियाँ करती दुग्ध धवल तन्वङ्गी सरस्वती की प्रसन्न स्फटिक जलधारा, उन पर व्यंग्य कस कर खिलखिलाती सी जान पड़ती उन्हें और वह झेंपकर रह जाते।

हुताशन-मित्र व्यास का जय काव्य 'महाभारत' दावाग्नि की तरह दहकता हुआ भी कितना महिमामय, करुण और सुन्दर था। अपूर्व होता है वह दृश्य, जव

काली अंधेरी रातों में, पहाड़ी ढलानों के सूखे जंगलों में लगी आग की ज्वालाएँ, सनसनाती, नाचती थिरकती गाती और महाकाल की आरती सी उतारती हुई योगिनियों की तरह चमचमाती हुई दीख पड़ती हैं। कवि ने, अपने कांतार वास में, न जाने कितनी बार अपनी नंगी आँखों से, देखी थी यह अनुपम क्रीड़ा किन्तु उस वार का दाहक दृश्य, उसके लिये, सर्वथा विचित्र था, जब वह देवलोक की यात्रा में, शुकी सी लम्बी नासिका वाली, घृताची की स्मृति, किसी, कसकते कांटे की तरह मन के आंचल से उलझा लाया था। मार्ग में, दावानल से दहकते वन प्रदेश में, अदृश्य परछांई की तरह उनका पीछा करते हुये, उस अप्सरा ने, ज्वालाओं के वीच भटके हुये प्यार को, अपनी करुणा के आँचल की छाँव देकर, श्रम विन्दुओं का परिहार किया था, तो भी कोई आभार जताये विना, जाने कहाँ अदृश्य हो गई थी वह। स्वप्न सारिका थी या मरु-मरीचिका वह; सुरक्षित व्यास आज तक स्वयं न समझ पाये थे ? इतना ही नहीं, समस्त जम्बू द्वीप के हृदय में रेंगते हुये इतिहास के गर्भ में, लोभ, क्षोभ, असन्तोष, घृणा, द्वेष और दम्भ की दहकती पाशविक दावांग्नि के बीच, उस कल्याणीं को तलाशने की चेष्टा की थी उन्होंने, किन्तु कहीं भी उसके दर्शन न हो सके थे। उनका कवि, ललकता रहा और महाभारत के हवनकुण्ड में अपने सारे अनुभवों की आहुति दे देकर 'इदं न मम्' का जाप करता रहा। एक लाख श्लोकों के महाकाव्य में कहीं भी किसी भी नायिका का, वह पियूषी सौन्दर्य न झलका, जहाँ देखो वहीं भस्माच्छन्न इवानल,' ज्वलंत इव श्रिया', 'जाज्वल्यमान वपुषा' "दीप्ताग्नि शिखामिव" या ऋद्धयाप्राज्वलमानेन आदि होकर दहकता रहा उनकी नायिकाओं का सौन्दर्य, स्वयम् उद्दीप्त होकर उद्दीप्त करता रहा। अधर्म के अन्धेरे में आत्मा की दीपावली कामनाओं के बुझे दीपक जलाती रही, पर सुनहरे तीरों की विजय लक्ष्मी बनकर अरुण आह्लाद जगाने वाली, श्रद्धामयी पियूषवर्षिणी उषा बनकर अवतरित न हो सकी। देवताओं को दिया हुआ वचन तो पूरा हो गया किन्तु व्यास के मन का देवता, तृषार्त्त-विकल और अशान्त ही रहा। एक अधूरेपन का अहसास उसे खाये जा रहा था। उसे लगता था जैसे देवताओं को अर्घ्य देने के लिये, उसके मन के कमण्डलु में शीतल गंगा जल नहीं, खौलता हुआ गन्धक का स्रोत फफक रहा हो।

संयम की आकाश गंगा में अवगाहन करते करते ऋषि से टकरा कर न जाने, कामनाओं की कितनी निहारिकाएँ, चूर चूर हो गयी थीं; पर वह न जाने कौन थी, जो आज, उनके मानस पटल पर अदृश्य अविरल चित्र बना रहीं थी और कवि का विरही मन उन्हे अभिव्यक्ति देने के लिऐ आतुर हो रहा था।

नर के प्रत्यक्ष पौरुषेय रुप और उद्दाम वल का चितेरा उस नारायणीय अप्रत्यक्ष अपौरुषेय रूप को अभिव्यक्ति देने के लिये ललक रहा था जो सम्पूर्ण महाभारत में पृथ्वी पुत्र पार्थ का सारथी बनकर, दौड़ा फिरता था और अब न जाने कौन से स्वर्ग की ओर उसके रथ को भगाये जा रहा था।

और दिनों की तरह, आज फिर, प्रातः, कवि ने सरस्वती के पवित्र जल

में, स्नान किया और आसन प्राणायाम के बाद, ब्राह्मी लक्ष्मी का ध्यान कर गायत्री जप का पवित्र अनुष्ठान भी पूर्ण कर लिया; किन्तु अरणी–मंथन के लिये; जैसे ही सूखे काष्ठ की एक समिधा को उठाया तो, वे भौचक्के से रह गये और वीणा के तारों की मधुर झंकार, अद्भुत मुस्कान बनकर, उनके अधरों पर थिरक उठी। दो शाखाऐं एक ही स्थान पर, ऐसे जुड़ी थी जैसे पतली कमर और कूल्हों के नीचे मोटे मोटे नितम्बों से जुड़ी, रमणी की कदली स्तम्भ सी सुपुष्ट, चिकनी स्फटिक सी रक्ताभ जंघाओं की, तराशी हुई, प्रत्यक्ष अनुकृति हो ! मन के द्वार पर अजाने ही जाने किसने थपथपाया उनका उरु प्रदेश झनझना उठा, पर अजानी आशंका से अपने ही आप लजा भी गये वह ! इधर उधर देखा, देखकर चिंगारी सी लग गयी तन मन में पुनः। बासन्ती मौसम इठला रहा था। कोमल किसलय, किसी कामिनीं की पतली पतली उंगलियों की तरह तरुओं के कठोर तनों को गुदगुदा रहे थे, और उनके साँवले वपु को हरियाली के आलिंगन में कस, मधुमास की मदिर गन्ध से मेरी माधवी लताएं मदमदाकर आरोहण कर रही थी, फूलों की रंग बिरंगी चुनरियाँ ओढकर प्रकृति पवन के मधुर स्पर्श से सिहर सिहरकर इठला रही थी। जाने कहाँ से, गोपाल की बाँसुरी के पंचम स्वर में, कोकिल कूक उठा। दूर पर खड़ा हरिण, अपनी प्रेयसी की चित्र विचित्र त्वचा को, अपने सींगों से गुदगुदा रहा था और हरिणी तृण को गाछ छोड़ गर्विता नाटिका की भाँति, थिरक थिरककर, उसके उरुओं को जीभ से चाट चाटकर सहला रही थी। सरस्वती के किनारे पर बैठे क्रौंच ने क्रौंची की कोख को अपनी मद भरी चोंच से गुदगुदाया और इठलाकर आकाश में उड़ गया चिरचिराती हुई क्रौंची भी एकाएक पंख फड फडाकर उसका अनुकरण करती हुई हवा में झूलने लगी।

विस्मित थे ऋषिवर-आज यह वातावरण को क्या हो गया है ? क्या मृचिका गन्धी, मार्यकिर्दम काम, सम्पूर्ण विश्व को पराजित करने के लिये, विजय दुंदुभी बजा रहा है ?

उचटे मन को, स्थिर करने का भरसक प्रयत्न किया उन्होंने, किन्तु चित्त के बिखराव में ध्यान का बिन्दु पलट कर कुछ और हो जाता था। उन्होंने काष्ठ की समिधा को हवन कुण्ड में डाल आग जला दी। पर यह क्या ? लाल पीली ज्वालाओं ने शून्य पटल पर रंग बिरंगे रूप में किसी रूप सी की मनोहर छवि अंकित करना शुरू कर दिया। धूम के केश जल में लिपटी स्वाहा सी, उस शोभा को देखकर व्यास मंत्र मुग्ध हो गये और त्राटक लग्न नेत्रों से देखते ही चले गये--

रक्त की लाली से प्रतिबिम्बित शरीर के स्वस्थ अङ्ग, चम्पई रंग में खिलती हाथ पाँव की सुनहरी उंगलियाँ, सफेद हाथी की सुपुष्ट सूंड से थिरकती जांघे, सुष्ठु मोटी मोटी सुकोमल स्निग्ध रपटीली पिंडलियाँ, लाल-लाल सुकोमल कमलों से अरुणाभ पदतल। कवि ने पाद पृष्ठ से शिर क्षेत्र की ओर जाते हुये कई बार मुख को तलाश किया, पर हर बार मेघाच्छन्न चन्द्र की भाँति वह दृष्टि से ओझल हो

गया। पीन पयोधरों की कल्पना ही रोमांचित हृदय में अजाने काम कंटक को उभार लाती थी। न जाने कहाँ से, अश्रुत पूर्व मधुर स्वर लहरी में तैरती हुई, उन्हीं के गीता गान की एक पंक्ति उनके कर्णकुहर में प्रवेशकर, मन के आँगन में थिरकने लगी—

बलं बलवतां चाहं काम राग-विवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभः॥

"प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध काम के रूप में, मैं ही तो हूं।"

एक अलौकिक नारायणी स्वर धारा, वातावरण में गूंजने लगी। बड़े बहुरूपियाँ हैं आद्य-पुरुष-विश्वरूप-नारायण-विष्णु और कामरूप ऐन्द्रजालिक भी। लीलाधर की कौन सी लीला शेष है? जो एक वृद्ध को कामविद्ध विकलता का निशाना बना रहे हैं। पंच पार्थो के पौरुष का गुणगान करते हुए मुझे अभिमान तो नहीं होगया? जिसे गर्वहारी विष्णु आज नष्ट कर देना चाह रहे हैं। महाभारत के रचनाकाल में कितनी देवांगनाओं अप्सराओं, ऋषि और राजकन्याओं की रूप समाधि में मन को डुबाया था किन्तु कभी भी मन यूँ विकल न हुआ, आज क्या होगया फिर?

जाने कहाँ से, एक नारी कण्ठ की संगीतमयी वीणा ध्वनि, फिर वातावरण में तैरने लगी—

उत्कंठित है धरा यदि कुछ, नील गगन से मिलने को,
आज उसे भी आना होगा, प्रबल प्रेम के वश होकर पहिन किरणमय पीताम्बर।

चिर परिचित सी लगी यह ध्वनि, कवि का मन उसके आगमन की बाट जोहने लगा, तभी नीली पीली लाल लाल लपलपाती दो लपटों के बीच कवि ने स्थिर सी एक श्वेताभ अग्नि शिखा की निधूंम छवि को देख उन्हें अपूर्व शान्ति सी मिली। लगा जैसे ज्योतिर्वाह का भस्म त्रिपुण्ड हिमानियों के बीच उदासित होकर नर की लीला का प्रतीक बनकर सामने आ गया हो और उसमें शक्ति की प्रचण्ड धारा को रुद्र मस्तक से लगाकर स्वयं वन्दन किया हो। शक्ति। हाँ शक्ति! जिसके बिना शिव भी शव हो जाते हैं। आद्याशक्ति जो कृष्ण की प्रेरणा है जिसके अभाव में, उनकी कर्त्तव्य क्रिया भी, विरूप हो जाती है। राधा, जिसके बिना राम, लीला पुरुषोत्तम तो हो सकते हैं, लीला रमण नहीं, रास विहारी भी नहीं। राधा, धरती की धारणा शक्ति, जो राम विलास के साथ ही, धर्म को धारण करने की भी अपूर्व क्षमता रखती है, रो रुलाकर भी धैर्य धारण करती है। अग्नि सी पीर को कोख में सजाकर, गोकुल में आनन्द का गोरस लुटाती है। राधा, शंकर की आत्मा, शिव की अवतारणा, भक्ति की प्रतिमूर्ति, प्रणय की समर्पण शक्ति, गोलोक की आध्यात्मिक धारा, सरस नवनीत वाहिनी गोपांगना, काल की कुण्डलिनी शक्ति, शिव-शिवा की एकात्म्य साधना, वृषभानुजा, गोपाल की प्रेयसी गो।

"हाँ वही थी, वही थी वह—जिसे सुरपुर की श्री, वैकुण्ठ लक्ष्मी, ब्रह्मलोक की ब्राह्मी, मनु की शतरूपा और मानव के धर्म की प्रवाहिका शक्ति—श्रद्धा के रूप में

देख सका हूं मैं······।" अपने आप से ही बात करते दिखाई पड़ रहे थे ऋषिवर—

"कहाँ देखा था उस नीलाम्भोजा किन्नरी गोपबाला को ? गोचारण करते हुये, वाँसुरी की धुन पर संगीत की धारा वहाते हुये, थिरकते, हँसते, गांते, नाचते और मधुर मधुर लोकधुनों को गुनगुनाते हुये। गोलोक में, बृज में, गोकुल में कृष्ण द्वीप की स्नेहमयी वनवीथी, में गुपचुप आँख मिचौनी करते इसी वन कान्तार में 'और इस समय' होमाग्नि की घृताहुति सी—घृतार्चि······घृताची······घृताची हाँ घृताची ही तो······सूर्य की दीप्त किरण सी······हाँ घृताची ही दावाग्नि से दहकते कवि की उद्दीपक शक्ति बन सकती है घृताची ही तो क्रन्दन करते कवि का आह्वान और बुझते हुये व्यास की दीप ज्योति सी प्राण संपोषिका हो सकती है । उद्दीपन ही नहीं आलम्बन भी।

"हाँ, उसी का है वह स्वर, जो स्वर्ग लोक से ही मेरे कानों में गुनगुना रहा है और वह रस जो परछाईं की तरह मेरे मन का पीछा कर रहा है आज उसे मेरे सामने प्रकट होना ही पड़ेगा।"

वह एक एक पल आहट लेने लगे—

नींद में थे वह, या समाधि में ? कहा नहीं जा सकता। वह कब आई, कब कवि के कण्ठ से लग गई। कब काया की कारा को तोड़, दिखावे की मर्यादा से मुख मोड़ कवि के वक्षस्थल में समा गई ? क्या कहें जानने वाला ही इस रहस्य को जानता होगा ? कौन देख पाता है इस रास को, कौन समझ पाता है क्रीड़ा के विचित्र आनन्द को······?

आग ठण्डी हो चुकी थी। कवि का चित्त शान्त हो गया था। जैसे बादल बरस कर आसमान साफ हो जाता है, वैसे कृष्ण द्वीप के व्यास का हृदय पूर्ण पवित्र होगया था किसी कोमल स्पर्श से। सर्वत्र शान्ति ही शान्ति, सुख ही सुख, आनन्द ही आनन्द देख रहा था वह। उसकी आँखों में न जाने कैसे मोहिनी समा गई थी ? उसके मुख से अनायास ही निकला—सत्यं, शिवं, सुन्दरम्। सत्य ही शिव है, शिव ही सुन्दर, सुन्दर ही सत्य और सुन्दर ही शिव हैं।

क्लान्त तपस्वी को स्नेह का दान मिला, आशा का दीप जगमगा उठा, शुष्क जीवन रसमय हो गया।

अपने शिष्यों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुरंग, उपदेश करने वाले व्यास, आज काम तत्व की उपेक्षा को सर्वथा समाप्त कर चुके थे। जीवन और साहित्य में काम की अनिवार्यता को स्वीकृति दे, अपने अधूरे पन को समाप्त कर दिया था, कवि ऋषि ने।

यज्ञ शाला के पार्श्व भाग में एक नयी पर्णकुटी का निर्माण हुआ। जिसमें प्राग वंश की आधार शिला रखी गई। अलकनन्दा के पावन तट पर किन्नरी के बीच,

उनके लिये साधना करने वाली गोपालिका, देवाङ्गना अपनी सिद्धि को प्राप्त कर उस पर्णकुटी में आ विराजी। पत्नी शाला में उस घृताची शुकी ने, शुक को जन्म दिया जिसके लिये पिता ने नर की रुद्र लीला या सँहार का महाकाव्य नहीं, रास-विलास माधुरी और प्रेमाभक्ति का महा काव्य श्रीमद्भागवत रचा था।

आज उन्हें परमानन्द की प्राप्ति हुई थी उन्हें अमृतत्व की सिद्धी मिली थी। उन्हें विश्वास होगया कि जब वह अमर है शायद देवताओं ने प्रसन्न होकर ही उनके लिये अमरता का शाश्वत सन्देश भेजा था उन्हें अमरता की सिद्धी कराई थी।

शुकी ने जिस दिन शुकदेव को व्यास के हाथों में दिया उन्हें पिता और पिता मह की स्मृति ने आन्दोलित कर दिया। अनायास ही उनके अधरों से निकला—

"प्राणा राधिके! आओ प्रेम के पावन तीर्थ में चलें।

"चलिये, कहाँ है वह स्थान प्राणावलम्ब।"

"धर्मक्षेत्र कर्मक्षेत्र के पास, यमुना की पवित्र गोद में, जहाँ मेरा जन्म हुआ था······।"

"कुछ नाम तो होगा ही उस पवित्र तीर्थ का ?"

"कृष्ण-द्वीप। हाँ यही कहें उसे। कालिन्दी के कूल में भी कृष्ण और कालिन्दी के उर क्षेत्र में भी कृष्ण।

———

कृष्ण-द्वीप तक पहुंचते पहुंचते, शुकदेव माँ की गोद छोड़ पृथ्वी पर दौड़ लगाने लगा था। बूढ़े व्यास उसे पकड़ने के प्रयत्न में जहाँ पीछे दौड़ लगाते हुये हाँफ उठते थे, वहीं, कभी कभी उसके अटपटे प्रश्नों को सुनकर काँप भी उठते थे। पिता को बालक में, वृद्धत्व का ज्ञान दीख पड़ता था, माता को विश्व विभूतियों की परिपूर्णता। तो भी दोनों के हृदय का एक मात्र सम्बल था वह।

सपरिवार, व्यास के आगमन का समाचार, शेष मल्लाहों के लिये प्रसन्नता का प्रतीक बन गया। दर्शन और मिलन की उत्कण्ठा लिये, यमुना के तट पर आ डटे थे। उन्होंने देखते ही, दण्डत प्रणाम किया किन्तु पिता के कुछ बोलने से पूर्व ही नटखट जानबूझ कर तुतला कर बोला—"आशील्वादा सन्तु" सब एक साथ हँस पड़े, सारा वातावरण अपूर्व आह्लाद से भर गया।

मल्लाहों से प्यार से मिलते और परिचय करते हुये व्यास उनसे कृष्ण द्वीप पहुँचाने के लिये बात कर ही रहे थे कि छोटू महाशय यमुना के जल तक जा पहुंचे। माँ ने उसे पास न पा चिन्तित होकर देखा तो उसकी चींख निकल गई, पिता का ध्यान बटा और जब उन्होंने दृश्य देखा तो हतप्रभ रह गये—बालक शुक यमुना के जल में, पता नहीं मगर था या कछुए की पीठ अथवा कोई तख्ता, उस पर चढ़े कृष्ण द्वीप की ओर तैरे जा रहे थे। लोगों की साँस ऊपर की ऊपर नीचे की नीचे। दम खुश्क हो गये सबके। एक नाव को तैयार कर जब माता पिता उसके पीछे दौड़े शुक्कु भाई तब तक कृष्ण-द्वीप की रेती पर खड़े मुस्का रहे थे। माँ ने दौड़कर कण्ठ से लगा लिया, किन्तु पिता का पारा ऊपर चढ़ गया उसकी इस हरकत पर। पिता को क्रोध से तमतमाते देख पुत्र ने फिर एक अटपटा प्रश्न जड़ दिया उनके सामने—

"यह क्या पिता जी, यह कैसी चिन्ता······?"

"तुझे मृत्यु से डर नहीं लगता रे······।"

"मृत्यु, वह कैसी होती है, न कभी आपने उसके विषय में बतलाया और न ही मुझे कहीं दिखलाई पड़ी?"

"अरे तू बच्चा है या बूढा? परमहंसों जैसी बातें करता है··· ?"

"आप तो 'तत्त्वमसि' कहा करते हैं न, और वह तो शायद न बूढ़ा है न बच्चा?" बूढा किसे कहते हैं पिता जी।"

"बूढ़ा उसे कहते हैं जिसे बहुत समय का अनुभव हो, बढा हुआ हो जिसका अनुभव, और जो बहुत काल से रहता आ रहा हो······।"

"मैं कौन से काल में नहीं था भला? आप तो गीत गाते हुये कहा करते हैं

कि ऐसा कोई काल नहीं था जिसमें तुम' 'मैं' या 'वह' नहीं था ।"

"मैं जन्मों की नहीं एक जीवन की बात कर रहा हूं पिता जी ।"

"मनुष्य के जीवन की चार अवस्थाएं होती हैं--शैशव, कैशोर्य, यौवन, वृद्धत्व ।"

"ये तो आपने शरीर की बतलाई थी । और यह भी बतलाया था कि शरीर मरता है मैं नहीं ।"

"अभी गोद से बाहर निकलने लायक तो हो जा, अभी से ब्रह्मज्ञान छेड़कर मेरी ऐसी की तैसी क्यूं करना चाहता है रे ।'

"फिर भगवान से, क्या आप झूठी प्रार्थना किया करते हैं······?"

"क्या ?"

"पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्"····· पुत्र और शिष्य से पराजय हो ।"

"तो क्या, मुझे हराने के लिए, कमर कस रहा है तू ?"

"कोई लड़ाई हो रही है क्या यहाँ पिता जी । आप मुझसे लड़ने आये थे मेरे पीछे ? मुझे पता ही न था, आप लड़िये, मैं चला । अपने मित्र के साथ, खेलूंगा नदी में······।'

"अरे नहीं भैया ! मैं तो ऐसे ही कुपित हो रहा था·· ···।"

"ऊं ऊं ऽ ऽ······हमें पता क्यूं नहीं चलता कि आप कब क्रोध करते हैं और कब प्यार······?"

"इसलिये कि तू सोचता ही कब है मेरे लिये······तू तो दूसरे को चित करने के चक्कर में लगा रहता है न ?"

"आप मुझे बचाने आये थे न ?"

"हाँ"

तो क्रोध में कोई किसी को बचाता है कि मारता है ?"

अचम्भे से भर कर फैल गईं व्यास की आँखें । क्या बोलें, जरा से बच्चे के सम्मुख ? इन्होंने मन ही मन में देवताओं को धन्यवाद दिया और मंगल कामना का मंत्र पढ़ा । पिता को चुप देख, फिर बोला टव्वा सा ।"

"पिता जी ! वेदान्ती भी कैसे कैसे आचरण करते हैं ? मतलब पड़ा था तो शरीर को ले आये और नहीं तो अजर अमर आत्मा का······?"

"अभी तुम्हें क्या पता बेटे ! कि शरीर धर्म क्या होता है, और बड़े बड़े महर्षियों को कैसे नाच नचाता है······?"

"परमहंस को भी······?"

"परमहंस सिद्ध होने के लिये बड़ी बड़ी परीक्षाएं होती हैं ?"

"पर आप जैसे महात्मा का वचन झूठ तो हो नहीं करता, आपने अभी परमहंस कहा था मुझे······।

"वह तू क्या समझेगा, वह तो साहित्यिक अभिव्यञ्जना की बात थी···।"

"मैं विजना पिंज़ना कुछ नहीं जानता, मैं तो सीधी सच्ची बातें समझता हूं।"

"अच्छा अच्छा, चलो आगे चलो······।"

परिवार आगे चल पड़ा सम्मोहित से व्यक्ति पीछे चलने लगे, व्यास पीछे मुड़े और सबको हाथ जोड़, लौट जाने का निवेदन किया और फिर अपना प्रश्न जड़ दिया—

"यही है वह द्वीप, जहाँ भीष्म प्रतिज्ञाएँ होती हैं? मैं भी एक भीष्म प्रतिज्ञा करूंगा यहाँ।" कांप उठे दम्पत्ति।"

"नहीं बेटे, बड़ों को यूँ तंग नहीं करते···।" ज्यादह उत्तर देना ठीक नहीं।

शुक ने माँ के हाथों को जबरदस्ती हटाते हुये तपाक से कहा—

"उत्तर न देना तो धृष्टता होती है अम्मा!···होती है न पिता जी? क्या उत्तर बिना किसी परीक्षा को उत्तीर्ण कर सकते हैं?"

व्यास और व्यास पत्नी खिलखिला कर हँस पड़े। उन्होंने कन्धों के ऊपर से उलट कर पीठ से हटाया और कंठ से चिपटा कर प्यार से मुख चूमना चाहा। शुक ने नन्हें नन्हें हाथों से व्यास के दाढी मूंछ भरे मुख को दूर ही रोकते हुये कहा—

"बस बस पिता जी ऐसा प्यार नहीं, नहीं तो मेरे मुख से महर्षियों की तरह बीज मंत्र निकलने शुरू हो जायेंगे···आक छीं आक छीं···।"

बनावटी छींक लेकर दिखलायी उसने और बोला—

"देखा कैसी सुन्दर मंत्र ध्वनि निकली······ओं. ह्रीं. क्लीं श्रीं···।"

ऋषि की हंसी का फव्वारा छूट पड़ता किन्तु शुक के मुख से वास्तविक बीज मंत्रों को निकलता देख, प्रतिभा से मुग्ध होकर, ममत्व और स्नेह से भर गया उनका हृदय बालक पर भगवती की कृपा जाने उनका श्रद्धा भाव जागरित होने लगा। मन के भावों को दबा कर वह गम्भीरता से बोले—

"मंत्रों के साथ परिहास ठीक नहीं बेटे!"

यह कब चुप रह सकता था? तुरन्त बोला—

"तो कौन सा शब्द या अक्षर ऐसा है पिता जी! जिसमें माँ सरस्वती का निवास नहीं? वेदान्तियों को ब्रह्म ही ब्रह्म क्यों दीखता है, मूल प्रकृति क्यों नहीं? बैंखरी तो प्रकृति में बिखरी पड़ी है।"

व्यास को लगा, जैसे शुकदेव लावा से भरा सौ मन को प्रकाश पिंड हो! उसे तुरन्त रेत पर उतार कर खड़ा कर दिया, और अनायास ही उसके घुटने टिक गये और विचित्र भाव से वह उसकी ओर देखने लगे। ममतामयी माँ यह सब समझने में असमर्थ ही रही। भोली किन्नरी गोपा चकित होकर देख रही थी इस खेल को। शुक, उछल कर पिता की गोद में चढ़ गये और गर्दन में नन्ही नन्हीं बाँहे डाल कर, प्यार करने लगे। माया की तरह हवा का झोंका पलट मुट्ठी धूल भर लाया,

किन्नरी ने हाथ से रोकना चाहा और शीघ्र आगे चलने की पुकार की। परिवार फिर वैसे ही चल पड़ा जैसे दुनिया चलती है।

पिता के पुण्य शाली आश्रम को भली प्रकार झाड पूंछ के साफ कर व्यास ने, शुक और शुकी के साथ वहाँ निवास किया और यज्ञ-शाला को संवार कर, नये सिरे से अग्नि प्रज्ज्वलित की। आचरणों में पुत्र भी पिता का अनुकरण कर, अपनी प्रतिभा से माँ को प्रसन्न करता रहता था। ऋषि चकित रह जाते थे, उसके उच्चारणों और मुद्राओं को देखकर। कभी कभी वह घंटों शून्य में ताकता रहता पिता ने एक दिन चिन्तित होकर पूछा—

"प्रिय बेटे इस तरह क्या देखा करते हो, क्या कोई कष्ट है अथवा स्वास्थ्य ठीक नहीं?"

नहीं पिता जी मुझे कोई कष्ट नहीं, वरन विशेष आनन्द आता है मुझे इस अवस्था में चारों ओर मधुर मुरली की धुन सुनाई पड़ती है, इसीलिये बिना हिले डुले उसे सुनता रहता हूं।"

"अरे, यह बात है? इस मुरली ने तो न जाने कितनों को पागल कर दिया हैं? व्रज ही नहीं, आर्यावर्त भी दीवाना होगया है इसका। दक्षिण से लौटते हुए एक तार देवर्षि नारद ने मुझे बतलाया था कि समस्त आर्य द्रविड़ किस तरह इस मुरली के स्वर से मतवाले हो गये हैं। उत्तर और दक्षिण को एकता के स्वर में बांधकर, अखण्ड प्रगति का चक्र चला दिया है इस मुरली ने और वैषम्य की हर दीवार गिरती जा रही है इसके सामने, आनन्द ही आनन्द······।"

"यह कैसे सम्भव है पिता जी! आश्रमों, ऋत्विजों और पुरोहितों की इतनी संख्या कहाँ है, जो इस पाठ को पढा सके? मैंने तो सुना है यह शक्ति केवल मेरे सीधे-सादे-निरभिमान पिता को ही प्राप्त है, जिसने ज्ञान, उपासना और कर्म की त्रिवेणी प्रवाहित की है जगत में?"

"नहीं, नहीं, ऐसा नहीं कहते बेटे! यह शक्ति तो केवल परमपिता में ही है।"

"क्यों पिता जी, क्या आपने जहाँ तहाँ से वेदों की सारी ऋचाओं को इकठ्ठा कर अलग-अलग नहीं बाँटा और तरह-तरह के बहुत से ग्रन्थों का निर्माण नहीं किया, सर्व सामान्य के लिये, जयकाव्य-महाभारत लिखकर देवताओं को सन्तुष्ट नहीं किया?"

"महाकाव्य पुरुष लिखते हैं, किन्तु वेद तो अपौरुषेय हैं पुत्र! भगवान वासुदेव कृपा के बिना उन्हें पाना सुलभ कहाँ?"

"किन्तु उसी शक्तिमान ने, आपको साधन के रूप में तो चुना। क्या यह छोटी बात है?"

"छोटी न सही, निष्फल तो हुई जा रही है। तूने अभी कहा था न, कि उनके

प्रचार प्रसार की इतनी व्यवस्था कहाँ ? पढ़ने पढ़ाने और उच्चारण की क्षमता कम ही लोगों में है।"

"पर माँ कहती है कि सूतों की फौज तैयार करके आपने दुनिया में धूम मचा दी है। (सञ्जय को दिव्य दृष्टि दी आपने) पारसी धर्म के जथु स्त्र भी आपसे प्रभावित हैं। नारद और सनकादिक भी आपसे अत्यन्त प्रसन्न हैं। तुम्हारे दिखलाये धर्म के मार्ग से न जाने कितनों का कल्याण हुआ है ?"

"नन्हें ! तू अभी क्या समझेगा, न जाने कौनसा धर्म किस किस समुदाय में सम्प्रदाय बनकर जन्मा है, किस किस स्थान पर पनपा है और किस किस काल में अपनी सामग्री को विकसित किया है ? सरल नहीं है इतिहास को सत्यतापूर्वक कहना। मैं नारद की कह रहा था तूने मेरी चला दी। अपना नटखटपन छोड़ता ही नहीं, मैं तुझसे प्रश्न पूछता हूं तू उल्टा मुझे ही अटका देता है। इतना तो महाभारत रचते समय, शिवपुत्र गणेश नें भी मुझे तंग नहीं किया।"

तूने अभी सूत पुत्रों की बात की। भला उन बेचारों को स्वयं भी उन कहानियों के अर्थ कहाँ पता है, जिन्हें गा गाकर वह लोगों को सुना रहे हैं ?" "माँ तो कहती है शौनकादि अठ्ठासी हजार ऋषि सुनने को इकठ्ठे हो जाते हैं।"

"ऋषियों में, सुनकर, स्वयं अर्थ निकालने की क्षमता है न ?"

"पर अगर किसी दिन कोई असली तत्व पूछ बैठा तो तुम्हारे चेलों का बंटाढार हो जायेगा न ?"

'हो नहीं जायेगा, हो चुका है लाडले !"

"सच ! बड़ा मजा आया होगा ?

"मजा नहीं, दुःख का विषय है।"

"कैसे ?"

"इस मुरली वाले के बड़े भाई ने, लोमहर्षण नाम के सूत को, अपने हल से मार डाला।"

"यह तो ठीक नहीं हुआ ?"

"तभी तो उस मुरली वाले ने भाई को प्रायश्चित के लिये विवश ही नहीं कर दिया उस परम्परा के विरुद्ध एक नये आन्दोलन का सूत्रपात भी कर दिया जिसका मुख्य सिद्धान्त है—"मस्मिस्तज्जने भेदा भावात्" "जात पात न पूछे कोई, हरि को भजकर हरि का होई।" नारद इसे भक्ति आन्दोलन कहते हैं। आश्चर्य है वह चक्रवात दक्षिण में उठा और गौड़ देश से होता हुआ उत्तरी भारत को रसमग्न करने लगा है। किसी अनोखी भाव तन्द्रा में कहने लगे थे ऋषि भक्ति के स्मरण मात्र से ही......।

पिता पुत्र बैठे बात कर रहे थे कि कुछ मल्लाह, एक अंधी बुढ़िया को लेकर आश्रम में आये। अनजान आवाज सुनकर बालक बाहर देखने के लिये दौड़ा, पिता भी पीछे चल पड़े—

देखा—वृद्धा के सिर पर मोर मुकुट, गले में मुण्गों की माला, शरीर पर पीले वस्त्र और हाथ में मुरली। दीन हीन अवस्था में भी उसका रूप, अतीत के सौन्दर्य की विचित्र कथा कह रहा था। वह बार बार 'कृष्ण कृष्ण' पुकारती थी और ऐसा लगता था कि अमराई की छाँव में कोकिल की काकली सुनाई पड रही हो। विस्मय विमुग्ध थे महर्षि। पूछा—

'क्या बात है भैया।"

लोगों ने कहा--"व्रज की गोपी है कोई। प्रवास से लौटते समय, अर्जुन के साथ आने वाले गोपितों के टोले से बिछडकर भटक गई है। किसी के मुँह से कृष्ण द्वीप और कृष्ण के आगमन की बात सुनकर इतनी आतुर हुई कि कृष्ण कृष्ण पुकारती हुई यमुना की ओर दौड पडी। डूब जाती अगर मल्लाहों ने न बचाया होता। यह अब भी रट लगा रही है। "मुझे कृष्ण से कोई मिलादे, अन्धी गोपी राह से भटकी कोई पार लगा दे--हम इसे आपके पास ले आये। यहाँ आकर अब न जाने क्यूँ शरमाई खडी है।"

बुढ़िया को सम्बोधित करके, मल्लाहों ने ऊंचे स्वर में कहा—

"लो मैया, यह रहे हमारे कृष्ण तो, तुम्हारे कौन से हैं, हमें मालूम नहीं ?"

बुढ़िया अब भी गुम-सुम खड़ी थी, अपनी जगह से टस से मस न हो पा रही थी। व्यास समझ नहीं पा रहे थे क्या करें ? मल्लाह गले की बला टाल, अपने काम पर, लौट गये। शेष उसी स्थिति में खड़े रहे। धीरे धीरे पता नहीं, बुढ़िया क्या कहना चाहती थी ? उसके होट फडफडाने लगे, आँखों से आँसू की धारा बह निकली और विशेष कम्पन के साथ फफकते हुये जो ध्वनि फूट कर बाहर निकली उसमें कृष्ण शब्द के साथ जो माधुरी, जो विकलता, जो प्रेम, जो पीडा जो अनुभूति जुडी थी उसकी कल्पना कठिन है। जाने क्यू, कैसे और किस तरह व्यास के मुँह से एक शब्द आतुरता में निकला— "राधा !" जिसे कहते ही बूढ़ी बहुत जोर से बिजली की तरह चीखी-'कृष्ण' ! किन्तु आगे बढ़ने से पूर्व काँप कर रह गई और मूच्छित होकर गिर पड़ी। पिता ने पुत्र से कहा—

"देखा उस मुरली वाले के दीवानों का हाल ? आओ, इसे बराबर की पर्ण कुटी में लिटा दें।"

व्यास उसकी ओर बढना चाहते थे, पता नहीं क्यूँ पग पीछे हट गये। उन्होंने पुत्र से कहा—

"बेटे। जाओ अपनी माँ को बुला लाओ और इन्हें अन्दर पहुंचाने में सहायता करो। मैं अन्दर कुछ लिखे हुये भोजपत्र हैं जो अचानक उड़ने लगे हैं मैं उन्हें सहेज लूँ......।"

भोजपत्रों को संजोते हुये भी व्यास वृद्धा की बात सोचते हुये आत्म चिन्तन कर रहा था। कुछ क्षण के लिये विश्राम कर अचानक किसी श्लोक की रचना का

संकल्प लेकर बैठे ही थे कि शुक अन्दर घुसा व्यास ने उस पर दृष्टि डाली तो सब भूल गये, बोले--

"आइये, विराजिये, कहिये, हम तो कर चुके, आप अपनी कहिये, कहेंगे ही, हमें सुनना होगा, और अब तो आपके प्रश्नों के उत्तर ही देने होंगे, न ?"

शुक, एक दम गम्भीर हो गया पिता की बात सुनकर। पता नहीं कोई इन्द्र जाल था या हृदय का आघात रुआँसा सा होकर बोला--

"मेरा आना, अच्छा नहीं लगा, पिता जी ?"

"मेरा कोई शब्द ऐसा लगा तुम्हें ?"

"शब्द की नहीं व्यञ्जना की बात कीजिये पिता जी ?"

"तुम व्यञ्जना कब से समझने लगे ?"

"जब से पिता, पुत्र से, व्यञ्जना में, बात करने लगे।"

"बस हो गया न शुरू ?"

"मैं समझा नहीं पितृ गुरु ?"

"तुझ को पटकी देने जी आदत पड़ गई है न ?"--व्यास हँस पड़े यह समझ कर कि शुक उसी आनन्दी रंग में है किन्तु वह अब भी गम्भीर था--

"पिता जी आपके सम्मुख भी सम्मानीय नहीं मेरे लिये किन्तु मैं देख रहा हूं कि मेरी बातों से कोई विशेष आनन्द नहीं मिल पाता आपको। प्रभु! यह परम्परा किसी दिन कोप का कारण न बन जाये। इसलिये क्षमा कीजिये। आगे से हम आप की कुटिया में कभी न घुसेंगे।"

"पुत्र के शब्दों ने दुविधा में डाल दिया पिता को--दौड़कर पकड़ लिया, उन्होंने उसे--

"बेटे! यह क्या करते हो तुम ? यह तो शिष्ट अशिष्टता हो जायेगी।"

"शिष्ट-अशिष्टता...?"

"ओहो, फिर भूल गया मैं, तुम न समझोगे, आलंकारिक शैली है यह...तुम तो...।"

"सीधी सादी......समझता हूं।"

बात करते करते फिरते अपने अपने आसनों पर आ जमे दोनों--

"गणेश जी को भी, कभी कभी यह कठिनाई हो जाती थी।"

"गणेश जी को भी ?"

"हाँ, जिन दिनों मैं महाभारत की रचना कर रहा था, मेरी सृजन शक्ति बड़ी तीव्र थी। अल्प शब्द सामर्थ्य का व्यक्ति तो उसे पकड़ पाने में असमर्थ ही था। जब मुझे एक शीघ्रगामी आशुलिपिक की आवश्यकता पड़ी तो गणेश जी के अतिरिक्त कोई योग्यपात्र ही न देखा। पर गणेश जी ने अपनी शर्त रख दी......।"

"क्या?"

"गणेश जी ने कहा—"मैं बहुत जल्दी जल्दी लिखता हूं, अगर एक क्षण के लिये भी मुझे रुकना पड़ा, तो उसी क्षण से, मैं काम रोको प्रस्ताव ले आऊंगा और मेरी लेखनी।" "अधर में दम तोड़ सुरपुर गामिनी हो जायेगी……।" बीच में ही बात काटकर अपनी पूरी की छुटकु शुक ने……।" पिता पुत्र दोनों हँस पड़े।

"पर आपने भी तो अपनी शर्त्त रखदी थी न ?"

"हाँ, तुम्हें याद हैं, बोलो तो क्या ?"

"गणेश, तब ही लिखें, जब श्लोक के एक एक शब्द का अर्थ स्वयं न समझ लें।"

"और मैं बीच में ऐसे श्लोक डाल देता था, जो सामान्य मनुष्य की पहुँच से बाहर होते थे, तब तो विघ्नहरण की गति में स्वयं ही अन्तर आजाता था।"

"बड़ी सन्तुष्टि होती होगी आपको ?"

चौंके ऋषि, उसके कहने के अन्दाज पर।

"सन्तुष्टि……? हाँ मेरा कार्य सिद्ध हो जाता था बस ?"

"पर इसमें तो आपको भी बड़ा प्रयत्न करना पड़ता होगा ?

"हाँ……बस यूँ समझ लो, एक आदत सी पड़ गई थी मुझे……।"

"एक और आदत पड़ गई है आपको……?"

"घबरा गये, व्यास मन में विचार कर, कि क्या कहेगा शुक्कु। पूछा–"बोलो बेटे क्या ?"

"आदि पूज्य को बार बार बीच में ले आते हैं। विघ्नहर्त्ता को अपनी मेरी बात के बीच विघ्न की तरह प्रयोग कर रहे हैं, बार बार वही कहानी……।"

पता नहीं क्या हुआ, व्यास सरस्वती तट की प्रान्तवर्तिनी प्राकृत में चिल्ला पड़े—

"अलं अलं ओय पुत्तरे ! गल्लं नुं अनगल्ल न कुरि।"

"अनर्गल नहीं वास्तविकता कहिये। देखिए गणेश महाराज तो गणों के अधिकारी हैं, गणों से है सारी भाषा, और जम्बू द्वीप की भाषाओं के सारे चारु जम्बू फल वे पी चुके थे मैं तो अभी जम्बूद्वीप में उतर ही रहा हूं न ? सोचिये मुझे कितनी कठिनाई होती होगी ?

"पर तू बालक किसका है ?"

"महर्षि व्यास का……।"

"फिर……?"

"तभी तो आपको मेरी बात समझने में दिक्कत आ जाती है।"

आसमान से टपके और खजूर में अटके बेचारे ऋषि, झेंप से गये।

"तू चाहता क्या है रे……?"

"कुछ परम्पराओं को बदलना होगा, कुछ मान्यताओं को तोडना होगा…।"

"और नन्हें गुरु शुकदेव से बूढ़े शिष्य व्यास को उपदेश ग्रहण करना होगा।" मुँह चिकडाया व्यास ने। वह बोला—

"यही वैषम्य तो दुःख दे रहा है पिता श्री ! आपको ज्ञान का अभिमान खाये जा रहा है।"

"मेरा अनुभव है बेटे ! यह रोग मुझे नहीं, तुम्हें लग रहा है जो तुम्हारे शिष्टाचार को भी साथ ही साथ चाटता जा रहा है।

वह एकाएक गम्भीर हो गया —

"ऐसा न सोचें पिता जी ! आपके प्रति अशिष्टता, स्वप्न में भी पाप है मेरे लिये। यदि आपको मेरा बोलना अशिष्ट लगता है तो मैं इसी क्षण संकल्प लेता हूं कि······।"

पिता ने पुत्र के मुख पर हाथ रख दिया—

"ना ना ऐसा नहीं बेटे !" पीपल के पत्ते की तरह, बूढ़े बाप के मोह को आश्रय देने वाला संवेदनशील हृदय तथा उसका भी आधार कृशकाय बूढीकाया, एक साथ ही काँप उठे।

यहाँ आकर वेदान्त और ज्ञान ध्यान लुप्त हो जाते हैं। तर्क की कैंची कतरने कर सकती है, फटे हृदय पर पेवन्द तो, प्यार ही लगा सकता है।

पुत्र ने पिता की दशा का अनुभव किया—

"पिता जी आपका आज्ञाकारी पुत्र हूं मैं, आपका सम्मान खोकर जीवित रहना मेरे लिये सम्भव नहीं। इसे आप मेरी अशिष्टता न समझें। यह मानव समाज की पीढ़ियों का संघर्ष है, समय की पुकार है, काल की आवश्यकता है। हर पीढी स्वतंत्र चिन्तन लेकर उतरती है, उसे बन्धन जकड़ नहीं पाते। एक सोना, कितने गहनों में ढल जाता है पर पायजेब को कर्णफूल के स्थान पर नहीं सजाया जा सकता। दोनों का अलग अलग महत्व है। चिन्तन का स्वर्ण सुरक्षित रहना चाहिये। धर्म के रत्न चिन्तन और मनन के मंथन से खोजे जाते हैं······धर्म चिन्तन की धारा को विकास देता है। जो धर्म काठ के उल्लू कट्टर पंथी मुल्लु तैयार करने लगता है वह बहुत खतरनाक हो जाता है। प्रत्यक्ष का सत्य अप्रत्यक्ष का असत्य भी हो सकता है······।

व्यास मौन थे। मन ही मन सोच रहे थे शायद, "यह बच्चा नहीं छिपा हुआ देवता है, विष्णु ही न हो ? पर इसका चांचल्य, इसका नटखटपन, इसकी मधुर माधुरी, अद्भुत भाव भंगिमा, निर्भय तर्क की प्रचुरता असङ्गता···निश्चय ही इसमें कृष्ण की आत्मा ने प्रवेश किया है। काव्य रचना करते हुये, बार बार जो उनका पावन स्मरण हुआ मुझसे, उसने स्वयं महाप्रभु को विवश कर दिया कि वह मुझ पर कृपा करें ······।' व्यास भाव विभोर हो उठे······'कृपा है प्रभु, कृपा है आपकी, धन्य हों, धन्य हो दयालु···भक्तों के लिये नियम बदल देने वाली तुम्हारी करुणा असीम

है और प्रेम अक्षुण्ण······बलिहारी हूं मैं बांके विहारी ···आओ तुम्हारा स्वागत है···कृष्ण के कृष्ण ! तुम्हारी जय हो···।" वह उन्मत्त से हो उठे । जोर जोर से पुकारने लगे—ब्रूहि मुकुन्देति रसना ब्रूहि···बोल बोल बोल···कृष्ण, कृष्ण हरे, हरे ···कृष्ण कृष्ण···।"

शायद बुढ़िया के कान में भी, ये अमृत की बून्दे जा पड़ी थी और उसे चेत आ गया था । इस ध्वनि से खिंची वह गिरती, पड़ती, उठती बैठती दौड़ती, संभलती, ठिठकतीं उलझती बाधाओं को फांदती, फंसती, उलझती ठोकरें खाती ध्वनि की दिशा में जोर जोर से पुकारती आ रही थी—"राधा······राऽऽधा······ ऽऽ······ राधा······।"

सम्पूर्ण विघ्न बाधाओं को पार कर हांफती हुई, गन्तव्य तक पहुँच गई वृद्धा और बोली—

"राधे, राधे ! क्या हुआ राधे ! किस लिये पुकारा मुझे, किस लिये पुकारा अपने कृष्ण को······बोल···बोल···बोल न राधा···? क्या पीड़ा है तुझे ?"

कृष्ण का स्मरण करते२, स्वयं कृष्ण ही हो गई थी क्या? चकित थे व्यास— क्या हो गया वसुधा को ? क्या सम्पूर्ण वसुधा कृष्णमयी हो गई ? क्या मूल प्रकृति जागृत हो गई ? क्या कुंडालिजी, सम्पूर्ण चक्रों को भेद कर, स्वयं कृष्ण कृष्ण पुकारने लगी ? क्या आद्य-शक्ति, नयी माया रचने के लिये चराचर को बलात् आकृष्ट कर ही है ?र ब्रह्म की माया, स्वयं ब्रह्म के स्थान पर आरूढ़ हो गई ? योगियों के ध्यान में कृष्णास्मि की असीम ध्वनि गूंजने लगी क्या ? क्या किसी बुद्ध ने प्रबुद्ध हो स्वयं कृष्णत्व प्राप्त कर लिया ? क्या आदि नाथ भगवान् की कृपा से सबको समत्व लाभ हो गया ? क्या उसका काव्य नायक स्वयं अपने कवि में समा गया ? क्या कृष्ण द्वैपायन प्रत्यक्ष होकर अप्रत्यक्ष वासुदेव कृष्ण हो गया या कृष्ण व्यास स्वयं कृष्ण नारायण···जिधर देखो कृष्ण ही कृष्ण, कृष्ण ही कृष्ण···मैं भी, यह भी, वह भी, तू भी···तू तो है ही कृष्ण······।"

व्यास ने गीता में जो गाया था, आज जीवन में साक्षात् उतर रहा था वह । काव्य स्वयं कवि होगया और कवि काव्य—

अहमात्मा गुड़ाकेश सर्व भूताशय स्थित: ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
वृष्णीणां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जय: ।
मुनीनामप्यहं व्यास कवीनामुशना कवि: ॥
यद्विभूतिमत्सत्वं श्री मदूर्जितमेव वा,
तत्त देवावगच्छ त्वं मम तेजोऽश सम्भवम् ।
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्न मेकांशेन स्थितो जगत ॥

सब प्राणियों के हृदय में स्थित सबका मैं आत्मा हूं और सबका आदि मध्य और अन्त भी मैं ही हूं। कभी वृष्णियों में कृष्ण, पाण्डवों में धनञ्जय (कृष्ण) कभी मुनियों में व्यास (कृष्ण) और सभी कवियों में कवि शुक्र उशना भी मैं ही हूं। जो भी विभूतियुक्त, ऐश्वर्यमय एवं कान्तियुक्त तथा शक्ति सम्पन्न पदार्थ है वह सब मेरे ही तेज का अंश जान। अथवा......अधिक जानने से भी क्या सारे विश्व को अपनी योगमाया के एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूं।"

वह योग माया और कौन ? सुश्री राधा हो तो हैं......हाँ राधा......श्री राधा।

उन्हें अन्धी बुढ़िया के स्थान पर अब कुछ और ही दिखाई दे रहा था।

सृष्टि की प्रथम प्रकृष्ट कृति, त्रिगुणात्मिका प्रकृति, पंचमूल प्रकृतियों में प्रकृष्ट—आद्यशक्ति—परमब्रह्म का साक्षात् वामार्धाङ्ग, आह्लादस्वरूपिणी सुरसिका, रासेश्वरी, निर्गुण-निराकार आत्म स्वरूपिणी राधेश्वरी।

राधा—वह परमशक्ति, जिसका ध्यान वेदोक्त विधि से अनुष्ठान करने पर भी कठिनता से सुलभ होता है मेरे सम्मुख खड़ी है—

नीलाम्बरा, चन्द्रकान्ता, स्वर्णसम गौरांगना, पीत चम्पक वर्णा। हँसे तो जैसे नीले मेघों में बिजली के गुलाबी फूलों से हीर कणों के धवल प्रकाश की धारा फूट पड़ी हो। नयन ऐसे जैसे नीले कमलों में काले भ्रमर मदमा रहे हों। दीप्तिमान ललाट पर अर्द्ध चन्द्राकार चन्दन का तिलक और उसमें प्रातः कालीन अरुण नक्षत्र सी सुशोभित, सिन्दूर बिन्दी उषा की अरुणाभा सी फूटती लाल दुपहरिया के फूलों सी अधरों की मुस्कान। वासुकी के बच्चों से उठते, भंवरों से मंडराते घटाओं की तरह लहराते सर्पीले काले घुंघराले बाल, ऐसे, जैसे चन्दन के फूलों से खुशबू की दृश्यमान फुहारें झर रही हों। पारिजात के गुच्छ और मालती लता के पुष्पों की माला से आवृत्त करुणामय कोमल वक्ष ऐसा मानो पराग के कणों को इकट्ठा कर जीवन के मधु से आकृति बना, उसमें रक्त की जगह, अमृत का संचार कर दिया गया हो और चाँदनी में नहलाकर प्रणय और पावनता से जिसका शृंगार किया गया हो ऐसा एक वपु खड़ा था व्यास के सामने—सीधा, सरल, निश्छल, ममता प्रेम और करुणा का, छलकता हुआ, प्रसाद। विमुग्ध थे मुनिवर। इतना बड़ा ग्रन्थ लिखा। इतनी रूपसियों के चित्र कल्पना में उतारे किन्तु यह कान्ति कहाँ छिपी थी ? बहुत विचारा बहुत सोचा......यह रूप है या वेद की अपौरुषेय ऋचा ? सुन्दरता को भी सुन्दर और शुचिता को भी पवित्र करने वाली, आध्यात्मिकता को अध्यात्म और सिद्ध को सिद्धियां प्राप्त कराने वाली. मूर्त्त रूप दिव्यता धन्य है। यह रूप, आकर्षण, यह आह्लादिनी छवि; जिसकी एक झलक से ही चित्त के कलुष धुल जायं, वय नौं वर्ष पर परमदेव का दिव्य गाम्भीर्य......?"

हाथ जुड़ गये, घुटने टिक गये, ऋषि के, श्रद्धा से अभिभूत और प्रेम से गद्गद् हो गये। रोमाँचित शरीर की आंखों से कालिन्दी बह चली। वाणी से स्तोत्र छूटने लगे—

"क्षमा करो ईश्वरी ! मेरा गर्व दूर हो गया, मिथ्या है मेरी दर्पोक्ति कि जो महाभारत में है. वही सब कुछ है, जो है तो सब कुछ वहाँ, जो वहाँ नहीं वह कहीं नहीं ।······बहुत अधूरा है महाभारत तो, केवल एक पक्षीय नर की रुद्रलीला और पौरुष के दम्भयुक्त प्रतिकार का महाकाव्य । प्रेममयी नारायणी लीला का नहीं, सृष्टि की आह्लादमयी शक्ति का नहीं, ज्वालामुखी जलन और प्रतिशोध के वहते हुये लिखा काव्य । वहुत छूट गया, वहुत रह गया कहें विना······क्षमा वाग्देवी । क्षमा······प्रणय की अधिष्ठातृ देवी । प्रेम पाटलों सा सुवासित होता है । संयोग में और अधिक मादक सुगन्ध भर देता है । अनंग अंग अंग में, उरमि उमंग भर उस तन की भी सुधि भुला देता है । मायामय विश्व से अनासक्त कर जाने कौन सी अजानी योग समाधि में डुवा देता है प्रेमी युगल को । पेय पीली केसर सा महकता है, वियोग की मधुर तड़पन में, वासन्ती पवन सा छूकर चलता है, तन मन को क्षण भर में, विकल कामनाओं के कुलमुलाते सरसों के खेत सा तड़प उठता है । मानस में अगणित कोमल भावनाएँ, सरसों के दानों सी, उभर आती है निचोड़ देता है दारुण विरह उनको, किन्तु उसी सरस स्नेह से, मन में जो प्रणय वर्तिका प्रदीप्त होती है, वह शाश्वत प्रकाश देती है, तन मन को, घर को, नगर को, प्रान्त को देश को, समाज, सम्पूर्ण विश्व अन्तरिक्ष को और अन्तर्तल के अध्यात्म जगत को । अद्भुत है प्रणय ? क्षमा देवी ! मैंने संहार का काव्य लिखा प्रणय का नहीं । नीति की कठोर चट्टान पर, कोमल पदतल फुड़वाता रहा, भक्ति के अमृतकुण्ड में एक भी डुवकी न लगा सका । राजनीति के चक्रव्यूहों में मन के अभिमन्यु की हत्या कराता रहा किन्तु आत्मा की ओर अभिमुख करा कणकण से प्यार का अमृत खींचने की कला न सिखा सका उसे । तभी तो आज भी इतना निराश, इतना उदासीन, उत्साह विहीन और संवेदन रहित होगया कि पुत्र रूप में उसे पाकर भी पहिचान न पाया । क्षमा करो देवी, प्रणय की प्रतिमूर्ति, रास रासेश्वरी, आद्यशक्ति राधेश्वरी ।

अन्धी बूढ़ी या प्रत्यक्ष राधिका फफक उठी······

"नहीं, ना, नहीं, कृष्ण रोते नहीं, नहीं तुम्हें यह शोभा नहीं देता, सारा संसार विलख उठेगा, उसका विश्वास हिल जायेगा, उसने जो अब तक पाया है यूँ तो उसका गर्व लुट जायेगा । एक वड़ी भारी शक्ति दी है तुम्हारे गीत गान ने, संतप्त मानव की विश्व विमोहित हृदय को अपनी उच्चातिउच्च उपलब्धि को मत भूलो कृष्ण द्वीप के मनस्वी मुनि ! मानवता तुम्हारी ओर आशा भरी दृष्टि से निहार रही है, विश्व तुम से प्रेरणा पा रहा है निष्काम कर्म की, ज्ञान के परिमाण की, आत्मा के उच्च आह्वान की, त्यागमय बलिदान की, सन्यास के अनुष्ठान की । कृष्ण अपनी उपलब्धि को नगण्य समझ मेरा उपहास क्यूँ करते हो । राधा के आराध्य को गरिमामय करने वाले मनस्वी मित्र ! विश्व तुम्हारा जयगान कर रहा है, करता रहेगा । गोकुल में तुमने मुझे, अनासक्त कर्म योग के अलौकिक आनन्द का उपदेश देते हुये सम्पूर्ण वसुधा को कृष्णमय

देखने का आदेश दिया था न ? मैं उसी की सिद्धि में लगी रही, उसी की साधना की मैंने--पूरे सौ वर्ष, हाँ···पूरे सौ वर्ष···रोते रोते बावली हो गई, आँखे खो दी······ मुझे आज तक पता नहीं, कि माँ बाप ने कहाँ रखा ? कैसे रखा, किसके साथ रखा, क्यूँ, कब तक, किसलिये रखा ? सूत के साथ रखा, कि गोप के साथ रखा अधिरथ, विरथ, रथ, अधिरथ किसके साथ रखा ! जो भी रखा, ठीक रखा···अन्धी जो थी प्रीति की अन्धी···रोती रही. पर हिम्मत तो न हारी···जलती रही और दीप की लौ की तरह हँसती रही···अब भी तो हँस रही हूं···हँस ही तो रही हूं···कहाँ रो रही हूं···अच्छा, ये आँसू, आँसू मेरे थोड़े ही हैं ?···कृष्ण के हैं, वह रो रहा है, रो रहा है मेरे विरह में ···मैं क्या करूँ ? प्रीति बुरी बला है···मना रही हूं, मानता नहीं न ? लगातार रोता रहता है मेरे दहकते मानस में बसा······बस, बस, इतनी सी बात है···बड़ी जरा सी बात है न ? पर हां उसका स्मरण मुझे धधका देता है···सोई हुई आग भडका देता है मुझमें···तभी तो मुझे आज तक किसी ने न छुआ······क्योंकि जलती हुई दीप शिखा हूं न जो भी पास आता है जल जाता है··· ··छूता है तो वही बस वही एक मात्र कृष्ण अपने प्यार भरे हाथों से अन्दर तक छू जाता है. रो रो कर मुझे रुलाना चाहता है न ? उसको रोता हुआ नहीं देख सकती मैं······बस मोम की तरह पिघलने लगती हूं मैं···टप टप टप···टप टप आँसू पडने लगते हैं पिघल पिघल के···मैं नहीं रोती, मेरी आँखें रोती हैं···वरना मैं रो सकती हूं···गोपाङ्गना जो ठहरी हम···हम तो बात बात में ठिठौली करती हैं···कबसे तुमसे ठिठौली ही तो कर रही हूं कर रही हूं न ? तू तो जानता है···स्वभाव है यह गोपी का···बुरा न मानना पहिले भी उद्धव बन कर आया था वहाँ क्या क्या कहा था हमने तुझे वहाँ, कहा था न ? पर तूने बुरा थोड़ा ही माना था, डुबकियाँ लगाई थी हमारे प्यार में तूने, आज भी लगा, बुरा न मान··· बुरा तो नहीं मान रहे···कैसे देखूं, कैसे जानूँ कैसे समझूँ···मुझे कुछ दीखता नहीं, कुछ सूझता नहीं···तू कुछ बोलता क्यूँ नहीं ? जानती हूं,अब तो तू मुस्करा रहा होगा मुस्करा ···खूब मुस्करा ··देख वह मुस्कराना, हंसना तो मुझे कितना अच्छा लगता है और को हंसाना भी······पर हंसी निश्छल हो, प्रेम से भरी, वासना से नहीं······वासना तो जला देती है, लोक भी परलोक भी । सारे पुरुवंश को जला दिया, यदुवंश को भी और कुलीनता की आँच ने झुलसा दिया न तुम्हें भी?···छोड़ गये निषाद अहीरों की वस्ती···वृज में रहते तो, यूँ न झुलसते···भ्रम के व्याध का निशाना न बनते··· मैं तो नही झुलसी किसने क्या क्या भ्रम फ़ैलाया, मुझे क्या पता ? ···राधा कहाँ रही, है किसी को पता ? कृष्ण से कितना दूर और कितना पास रही है पता···किसी को नहीं पता···मुझे है पता···? तुम्हारी हर बात का पता है···कुब्जा का पता है, कंस जरासंध और शिशुपाल का पता है, रण छोड़ द्वारिकावासी पता है···कुंती का पता है, कृष्णा (द्रोपदी) का पता है कुन्ती के पुत्रों का पता है पाण्डवों के साथी का पता है, तुम्हारे मित्र नर की रुद्र लीला के प्रतीक गाण्डीवधारी उस कृष्णार्जुन का पता

है जिसका रथ लेकर तुम दौड़े दौड़े फिरे हो······पर मेरा पता है तुम्हें······इस आजन्म ब्रह्मचारिणी के एक छोटे से बच्चे का पता है······जिसे अपना रक्त देकर सींचा मैंने, उस विरवे का पता है···तुम्हारे जैसा योग्य बनाया, उसका पताहै ? बलि सा दानी, राम सा चरित्रवान, भीष्म सा प्रतापी, आपसा कुशल और अर्जुन से बढ़कर धनुर्धर होता हुआ भी वह अधर्म का प्रतीक होगया और आपका मित्र धर्म का रक्षक होगया क्या ?······क्योंकि आपके साथी को कुलीनता का ताज मिला था और मेरे बेटे को नाम गोत्रहीन समाज की अकुलीन कटुता का गरल और प्यार के सूत की काली चदरिया······जानते हो कैसा था मेरा बच्चा······शायद मेरा अपना बेटा भी इतना सम्मान न देता मुझे, जितना उसने दिया······मेरी कोख से न जन्मा तो क्या हुआ ?······क्या पाला नहीं था उसे ? तभी तो उस मातृभक्त ने माँ मुझे ही कहा, उस राज्यमहिषी को नही, जो अपने पुत्रों का अग्रज कहकर, उसे सम्पूर्ण राज्य का स्वामी बनने आगई थी······उसने ठुकरा दिया राज्य का वह प्रलोभन और कुलीनता की झोली में अकुलीन के पोषित ने उसके पुत्रों की प्राण भिक्षा भी डाल दी······मेरा बेटा जो था वह······हम गोप ग्वाले देना जानते हैं, लेना नहीं, पालना जानते हैं, पलकर पलायन कर जाना नहीं। मेरा प्यारा कर्ण, विश्वसनीय था विश्वासघाती नहीं······क्या करूं बेचारे को जन्मते ही ऊँचे कुल की लम्बी नाक वाली ने पाप का प्रतिफल कहकर, नदिया में बहा दिया······ठुकरा दिया ममता को किस लोभ से जाने नारी ने ?······क्या मोह न था तनिक भी उसमें······कहाँ था ? कहाँ से होता ? आखीर थी तो वह भी उसी छलिया के कुल की न ? जो प्रेम कर लेता है पर निभाना नहीं जानता······जब जी में आता है ठोकर मारकर चल देता है······ चलो क्या हुआ······ आखीर सब राधा थोड़े ही हो जावेंगे। पुरुष तो राधा नहीं हो सकते न ? और वे भी लम्बी नाक वाले······लम्बी नाक वालों में प्यार नहीं होता क्या······होता भी है तो क्या मात्र मनोरंजन के लिये······होता होगा······ मेरा बेटा तो न भटका कभी अपने आपसे। राधेय तो राधा सा था······उसने तो दुर्योधन जैसों की मित्रता भी निभा दी······मैंने काले की निबाही, उसने काले दिल वालों की, दोनों ही ठगते रहे दोनों माँ बेटों को······मेरा बेटा तो पुरुषार्थी था कोई ठग नहीं······उसने पुरुषार्थ से समाज में अपना स्थान बनाना चाहा······पर भाग्य माँगने पर तो नहीं मिल जाता······उसे अच्छे अपना न सके, बुरों ने साथ न छोड़ा······कूटनीतिक सत्ताधारियों ने फंसा लिया मेरे बेटे का पुरुषार्थ······राजा बना दिया उसे······राज्य मिल गया पर उसी दिन से धर्म का साथ छूट गया···। उसने धर्म को निबाहा पर धर्म उसे न निबाह सका कैसी विडंबना है······? कहते हैं धर्म रक्षा करता है पर धर्म ने ही रगड़ दिया उसे······पर धर्म का साथी तो न रहा था न वह ? अधर्मियों का साथ दिया था उसने······तुम्हीं ने तो कहा है अधर्म का नाश हो जाता है······वह भी नाश बने कौरवों कुल की तरह। धर्म

करते हुए भी अधर्म से छला उसको, अधर्म से मारा उसको। क्योंकि अधर्मियों का साथी होने पर विवश था वह, अधर्मियों का बाप न था······राष्ट्र को धारण करने वाला अन्धा धृतराष्ट्र न था वह······सत्ता की स्वीकृत सन्तान न था वह······महर्षि व्यास का नियोजित पुत्र न था वह······देवता का इच्छित वरदान न था वह, अनिच्छित सन्तान था न किसी देवता की······कुँवारी कुन्ती का अनचाहा वरदान ······वरदान भी किसी मामूली देवता का नहीं······परम तेजस्वी भगवान भास्कर का, जिनकी सोना उगलने वाली मणि को तो स्वीकारा प्रतापी यादवों ने, पर सोने से बेटे को न संभाल सके वे। भगवान कृष्ण की पवित्र नाम्नी बुआ थी उसकी माँ, पर समाज उसे यथोचित मान न दे सका—क्यूँ नहीं दे सका?······मैं पूछती हूं तुमसे······तुमसे पूछती हूं बोलो कृष्ण······मेरे योग्य बेटे को भी क्यूँ नहीं दिया सम्मान······व्यास को क्यूँ दिया?······प्रेम तो अपवित्र नहीं होता, फिर उससे निकली गंध अपवित्र कैसे हो गई······बस इसलिये, कि वह गंध एक सूत के घर में आकर ठहर गई थी······इसीलिए न?······वाह रे कुलीनो! खूब है तुम्हारी माया? रात के अंधेरे में सब कुछ उज्ज्वल हो जाता है तुम्हारे लिये और दिन के प्रकाश में सब कुछ काजल। अन्धी कालिमा में हर रूप मोहक नजर आता है तुम्हें और दीप्तिमान आभा में हर चीज अस्पृश्य और घृणित। रात को जिसे जीभ से चाटते हो, दिन में उसे थू थू करके बिडारते हो। धन्य हो, पाखण्ड के मूर्तिमान पिंडों! क्षण क्षण भर में बदलते हैं तुम्हारे मान दण्ड?······पर उसने अपने पुरुषार्थ की ओर देखा, तुम्हारे मानदण्डों की ओर नहीं······उसने न मान की परवाह की, न अपमान की······आखीर उसका अपमान करते करते तुम्हीं काँप उठे······कभी भिखारी बनके उसके सामने गये, कभी छलिया······और वह कर्म का पौरुष लेकर गरजता रहा······क्योंकि वह राधा का बेटा था जो ठगे जाने में विश्वास करती है ठगने में नहीं।······पर बेटा तो मेरा था न वह······हाय···उसे भाग्य भी मेरा ही मिला, कुन्ती का थोडे ही मिलता······मेरा भाग्य······कैसा था मेरा भाग्य··· याद करो कृष्ण! कब से कब तक, क्यूँ, किस दोष के कारण छोड़ा था मुझे? छोड़ता है इतने दिन कोई अपनी प्रेयसी को······और कुन्ती बुआ की सहायता करने के लिए कहाँ कहाँ तक दौड़े थे···कहाँ कहाँ तक जंगल जंगल भटके थे? उसका भाग्य था—वह महिषी का भाग्य। और वासुदेव थे उस पर प्रसन्न। फिर जिस पर वासुदेव प्रसन्न उस पर जगत प्रसन्न। मेरे भाग्य में छलिया और कुन्ती के भाग्य में मिश्री की डलियाँ!······उसने सारे व्रज को छला, गोपियों को छला, गोपों को छला, नन्द को छला, यशोदा को छला, मैया को छला बाबा को छला, मुझे छला······और······और अन्त में मेरे पुत्र को भी छला गया। वाहरे नाग के नथैया! स्वयं नाग······हाय···हाय···हाय···क्या कह गई मैं······पागल हो गई जीभ कट क्यों नहीं जाती निगोडी······कैसा अंट संट बक गई नहीं रे नहीं······



ना नहीं-कृष्ण······मुझे क्षमा कर दे······यह······मैं······नहीं···प्रेम है, निगोड़ा यूहीं, वावला कर देता है रे।······मन का संयम खो देता है रे !······पगली बहक गई मैं······अन कही भी कह दी······कह दी न अकथ कहानी भी······पर बहकी तो पहले भी थी······वचपन में भी जवानी में भी······पर तव तो वहकने और वहकाने में तुझे भी मजा आता था······तूने आदत जो डाल दी···तू चाहता था, मैं वहकती चली जाऊँ······कुछ पता न रहे······कुछ ध्यान न रहे···लाज, शर्म, कुल, भय, मर्यादा, समाज की स्थिति यहाँ तक कि इस पंच भौतिक, शरीर का भी ध्यान न रहे और सव कुछ हो जाय तो मैं तुझमें और तू मुझमें समा जाय···एकाकार···एक दूसरे में लीन हो जायँ···कोई पर्दा न रह जाय, कोई वाधा न रह जाय बीच में······दो से एक······एकाकार हो जाये······पर तेरे मेरे बीच में आ गया था न मेरा पुरुषार्थी ······वस तूने लगा लिया अपने कण्ठ से······कण्ठ से ही नहीं लगाया तूने अपने में मिला लिया उसे······धन्य है विश्वात्मा ! मेरे दूध को मेरे बेटे को अपनी आत्मा में लीन कर मुझे कृतार्थ ही कर दिया न ? अब उसकी भटकन तो निश्चय ही समाप्त हो गयी होगी प्रभु ।······पर मुझे क्यों छोड़ दिया······मुझे अपने में क्यों नहीं लीन किया······क्यों भाग गये छोड़कर पुरुष ! इस प्रकृति को ?······पर मुझ से छूट सकते हो क्या·········मेरे हृदय से निकल पाये क्या कभी कभी नहीं·········मैं तुम्हारे सामने नहीं आई। पर तुमसे दूर नहीं थी······तुम्हारे सामने अपनी देह को जान बूझकर न लाई मैं···तुम्हारे उत्कर्ष में प्रेम की दीवार बनकर खड़ा नहीं होना चाहती थी मैं······चुप रही···सहती रही······दुनिया की दुहरी मार······तुम मुझे पर्दे से खींच कर सारे आवरण हटा, निष्कलंक कर देना चाहते थे······आखीर नंगा तो नहीं हो सकता है न जो पूर्ण हो गया हो···पर मेरी पूर्णता तो तुम ही थे न ?··· ···तुम यह क्यूँ भूल गये कि तुम्हें मन में वसाकर हम कबके पूर्ण हो गये थे ?···अरे हम तो पूर्णता और अपूर्णता से बहुत परे जा चुके थे···एक सेवा धर्म निबाहना चाहते थे आपसे, उसे भी आप ले गये···जो आपको भा जाता है उसका सब कुछ हर लेते हो तुम···सर्वस्व···उसी को कहते हैं न सम्पूर्ण स्वीकार ? जो आपको स्वीकार नहीं, उसे ऐश्वर्य में डुबाकर. दूर खड़े हो जाते हो···मैं तो आपको पूर्ण स्वीकार हूं न···फिर··· फिर मेरे शरीर को पार्थ के साथ कहाँ भेज रहे थे ? नारायण की एक मात्र प्रेम कला को नर की रुद्र लीला के साथ कैसे कर रहे थे, कृष्ण की राधिका अर्जुन के पौरुष की साधिका कैसे हो सकती थी ?···मैं चली आई नारायण···मैं न कभी अलग थी न अलग रही हूँ···शरीर का क्या···शरीर तो पापी हो जाते हैं···पृथा को खा गये, पृथा के पुत्रों को खागये, पार्थिलों, पृथुलों और पृथ्वीपुत्रों को खा गये···पृथ्वीपति धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी को को निबटा गये···गांधारी की गन्ध और उसके सम्पूर्ण परिवार को चाट गये ···शरीर तो सन्तानों को जन्म देते हैं वस, वैध हों या अवैध···पर मन···मन तो उस प्रेम को जन्म देते हैं जिसे भगवान कहते हैं···आप प्रेम स्वरूप होकर ही तो विराज रहे हो मेरे मन मन्दिर में···प्रतिष्ठापना है आपकी इस हृदय में, नहीं निकल सकते

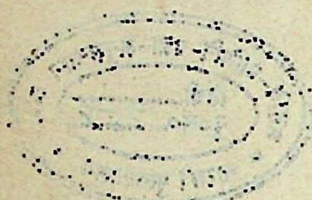
आप यहाँ से···मैं निश्चय पूर्वक कह रही हूं···पक्की बिल्कुल पक्की···मेरा मन ही आपका निवास स्थान है···व्यर्थ मुझ से दूर जाने का कष्ट न करो धरती के आसमान की तरह आप मेरे चारों ओर हो, मेरे अन्दर भी···भीतर भी बाहर भी··· मुझसे चिपके हुये···आप अपने से अलग नहीं कर सकते मुझे···अगर आप ऐसा करेंगे तो आपका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा···फिर तो मैं ही हूं बस···आप कहाँ है ? आप बाहर हैं तो मुझसे; आप मुझमें हैं तो मेरे···आप कुछ भी नहीं···मैं ही हूं···राधा··· बस राधा······एक मात्र राधा······श्री राधा······श्याम राधा । कृष्ण राधा, राधा कृष्ण···।

कृष्ण द्वीप पर जाने कैसा शुभ्र आलोक बिखर रहा था। पिता भी ध्यान मग्न थे पुत्र भी ध्यान मग्न । घृत की आहुति ही स्नेह की दीप शिखा बनकर एक देवी उन्हें मधुर मुस्कान से देखे जा रही थी । कल्याणमयी वसुधा पर आनन्दमय वरदान की पुण्य मयी वर्षा हो रही थी । धीरे धीरे सम्पूर्ण वायुमण्डल प्रेम के पुनीत जल से सुरक्षित हो उठा और पुष्पित नन्दन वन की सुवासित सुगन्ध जनमानस को आह्लादित करने लगी ।

— समाप्त —


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी
पु०सं० 752
भारती पुस्तकालय

❀ लेखक की अन्य कृतियाँ ❀



जय यात्रा — काव्य नाटिका

भूल का शूल — उपन्यास

भावना — काव्य-संग्रह

महात्मा रावण — उपन्यास

ऋषभनन्दन — उपन्यास (जैन कथानक)

परिवार नियोजन एक सामाजिक धर्म — (समस्या प्रधान लेख)

रश्मिरथी की आलोचना — (साहित्यालोचन)

कृष्ण-द्वीप



भोपालसिंह शर्मा 'पौलस्त्य'

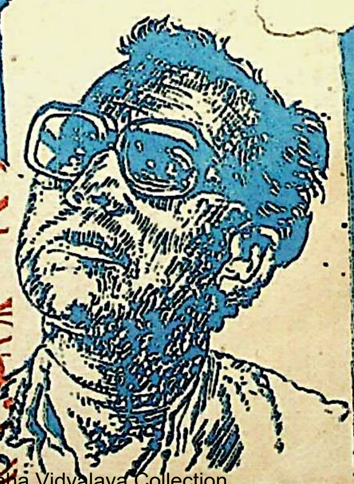
(रचयिता)

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं विरचितवान भारताख्यममृतं यः।
तमहमरागमकृष्णं कृष्णद्वैपायनं वन्दे ॥

आत्मीय!
सत्य के हित के आँचल में सहेज, रेशमी
आँखों के दर्द को छुपा लिया कलम ने...
किन्तु डूब गया बिन्दु में, डोरियाँ सिमट गईं,
कल, आज और आज, कल में बदल गया...
अविच्छिन्न है काल का सतत प्रवाह ...
शाश्वत है धर्म और अर्थ की पतवार से
काम की नौका में खेता हुआ पुरुष जीवन
निष्कामिता की आस्तिकता कहाँ! ... सच
चाहे कहीं कसक रही है - तथोऽहं पुरुषार्थं
मेरे कलाकार ने पुराण की विसात
की छाती पर उकेरा है और आधुनिकता की
साँसों में तराशा है अतीत के स्वप्न को
विरोधाभास में जीकर ही सही...
विश्वास है, स्वीकारोगे तु...
अदम्य शक्ति है तुममें... अपना पा...
प्रेम को पहिचान जाती है न!
जितना तुमने सराहा, उतना...
कहाँ से जुटाऊँ? फिर आ गई कृष्ण...
रेचकर... अब रस देखो! ...
अंधयात्रा, 'मूल की भूल', भाव...
महाभारतम्', ...
है बाद... आपका प्रयत्न-सी...

पौलस्त...

जन्म-
मेला
१९.३८
स्थान
शामली
शान्तमयव



*मुखपृष्ठ मुद्रक : सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, शामली । *सज्जाकार : सत्यप्रकाश ।